View metadata, citation and similar papers at core.ac.uk

brought to you by CORE

provided by Etheses - A Saurashtra University Library Service

Saurashtra University

Re – Accredited Grade 'B' by NAAC
(CGPA 2.93)

Kapadiya, Dineshkumar B., 2005, *"डॉ. शंकरशेष के नाटकों में समसामयिकता"*, thesis PhD, Saurashtra University

http://etheses.saurashtrauniversity.edu/id/eprint/706

Copyright and moral rights for this thesis are retained by the author

A copy can be downloaded for personal non-commercial research or study, without prior permission or charge.

This thesis cannot be reproduced or quoted extensively from without first obtaining permission in writing from the Author.

The content must not be changed in any way or sold commercially in any format or medium without the formal permission of the Author

When referring to this work, full bibliographic details including the author, title, awarding institution and date of the thesis must be given.

Saurashtra University Theses Service
http://etheses.saurashtrauniversity.edu
repository@sauuni.ernet.in

© The Author

डॉ. शंकरशेष के नाटकों में समसामयिकता

सौराष्ट्र विश्वविद्यालय की पी–एच.डी. (हिन्दी)
उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध–प्रबन्ध

✦
✦✦
✦

❖ प्रस्तुतकर्ता ❖
प्रा. दिनेशकुमार भीमजीभाई कापडिया
व्याख्याता (हिन्दी)
श्री एच. एम. वी. आर्ट्स एण्ड कोमर्स कॉलेज
देलवाडा – उना
(जि. जूनागढ)

✦
✦✦
✦

❖ निर्देशक ❖
डॉ. आर. एम. पाण्डेय
प्राचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बहाउद्दीन आर्ट्स कॉलेज,
जूनागढ

जूलाई – २००५

श्रमाणपत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रा. दिनेशकुमार **भीमजीभाई कापडिया** ने साराष्ट्र विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. (हिन्दी) की उपाधि के लिए मेरे निर्देशन एवं निरीक्षण में **''डॉ. शंकरशेष के नाटकों में समसामयिकता''** शीर्षक से शोध-प्रबंध तैयार किया है । इस शोध-प्रबंध में इन्होंने उक्त विषय का यथा-शक्ति अध्ययन, अनुशीलन एवं शोध-परक विश्लेषण - विवेचन करके वैज्ञानिक ढंग से मौलिक निरूपण किया है ।

साथ ही यह शोध-प्रबंध अथवा इसका कोई अंश अब तक न तो प्रकाशित हुआ है और न ही इसका कहीं कोई उपयोग हुआ है ।

दिनांकः **निर्देशक**

स्थलः जूनागढ

डॉ. आर. एम. पाण्डेय
प्राचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बहाउद्दीन कला महाविद्यालय
जूनागढ़

प्राक्कथन

नाटक साहित्य की सबसे प्रमुख और प्राचीन साहित्य विधा है । भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने नाटक को सभी काव्य प्रकारों में श्रेष्ठ कहा है । 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' तथा 'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्' कहकर उसे पंचमवेद से अभिहित किया है । इसका कारण है कि नाटक में जीवन के यथार्थ की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करने की सम्भावनाएँ रहती हैं । क्योंकि नाटक लोक की वस्तु है, लोक के लिए है और लोक से ही उद्‌भूत होती है या जब कभी भी नाट्यधर्म में कोई कठिनाई हो तो उसे लोक को ही देखना चाहिए । यदि नाटक में समसामयिक यथार्थ जीवन के स्पन्दन नहीं हो तो उसे नाटक कहना बेमानी होगा । सामान्यतया साहित्य की सर्जना करता हुआ साहित्यकार लोकोत्तर चेतना को स्पर्श करता है । साहित्यकार जिस युग में जन्म लेता है, उस युग की परिस्थितियाँ, समाज, समसामयिकता उसके अन्तस् को, उसके मानस को झकझोरती हैं, आन्दोलित करती हैं और उसे अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल बना देती हैं । ऐसी स्थिति में जो साहित्य निर्माण होता है वह जीवन का साहित्य तथा जीवन्त साहित्य होता है । प्रत्येक युग का साहित्य अपने समय की उपज होता है । साहित्यकार अपने युग से कितना ही उदासीन एवं निरपेक्ष रहने का प्रयास करे वह सर्वथा असम्पृक्त नहीं रह सकता । इस कारण प्रत्येक साहित्यकार की कृति में उनका वर्तमान झांकता हुआ प्रतीत होता है ।

वस्तुतः प्रत्येक साहित्यकार का सामाजिक दायित्व होता है, परन्तु दृश्य–साहित्य सृजन के कारण नाट्यकार अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक उत्तरदायी होता है । वह अपनी सार्थकता तभी प्रमाणित कर सकता है, जबकि वह सामाजिक चेतना का संस्पर्श करेगा । यही कारण है कि नाटक प्रायः समसामयिक होते हैं । मानव–जीवन की जटिलता और गूढ़ रहस्यों का पर्दाफाश करने का कार्य साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटकों द्वारा ही

सुगम और सम्भव हो सका है । नाट्य–साहित्य में व्यक्त होती हुई इन विशेषताओं के कारण उसके प्रति मेरी रुचि निरन्तर बढ़ती रही है । चाक्षुष विधा होने के कारण नाटक हमें पाठक और वाचक के अलावा दर्शक के अतिरिक्त सम्बन्ध से जुड़े रहने का अवसर प्रदान करता है ।

आधुनिक युग में समसामयिक जटिल ज़िन्दगी की सफल अभिव्यंजना प्रस्तुत करनेवाले डॉ. शंकरशेष के नाटकों ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया । हालांकि उनके नाटकों के अध्ययन का दौर तो उनकी सफल मंचीय एवं उत्कृष्ट नाट्य–रचना 'एक और द्रोणाचार्य' से हुआ था । इस नाटक ने मेरी रसरुचि को परिवर्द्धित और परिष्कृत करने में बहुत बड़ा योग दिया है । जन–मन पर हावी रहनेवाले इस नाटक को मंचीय होते न देख पाने का रंज आज भी मेरे मन को बराबर कुरेदता रहा है । कहने की आवश्यकता नहीं कि 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक मेरे लिए प्रेरक बना । फिर तो मैंने 'शंकरशेष रचनावली' के पाँचों खण्ड़ों को प्राप्त करके उनके समग्र नाट्य–साहित्य का सुरुचिपूर्ण अध्ययन किया, जिससे नाटककार के प्रति मेरे मन में श्रद्धा का भाव बढ़ता गया । और जब उनके नाटकों की समसामयिकता को आज दो दशकों के बाद भी प्रासंगिक पाया तो यह भाव दृढ़ता में परिणित हो गया । आज भी उनका अनुसरण करने की आवश्यकता है । उनकी नाट्य–रचनाओं में अतीत, वर्तमान और भविष्य सब एक साथ मुखरित हुए हैं । इसीसे उनकी नाट्य–कृतियों की उपयोगिता प्रमाणित होती है । मैंने निश्चय कर लिया था कि मुझे डॉ. शेषजी के नाटकों पर ही शोधकार्य करना है । इस कार्य हेतु मैंने अपने गुरुवर आदरणीय डॉ. उदयनारायण मिश्रजी से परामर्श किया । उन्होंने मार्गदर्शक के रूप में बहाउद्दीन आर्ट्स कॉलेज के प्राचार्य एवं अध्यक्ष श्रद्धेय डॉ. आर. एम. पाण्डेयजी का नाम सूचित किया । डॉ. पाण्डेयजी ने मुलाकात के दौरान विषय–चयन के सम्बन्ध में मेरी अभिरुचि जानना चाही । जैसा कि में कृत–संकल्प था नाटक में और नाटक में भी डॉ. शंकरशेष के नाटकों पर शोधकार्य करने की मैंने इच्छा प्रदर्शित की । इसके लिए उनके कहने पर मैंने डॉ. शेषजी के नाटकों पर आज–तक हुए शोधकार्य की सूची बनायी ।

दुःखदाश्चर्य हुआ कि नाटक के क्षेत्र में मोहन राकेश के बाद समकालीन नाटककारों की पंक्ति में सशक्त और समर्थ नाटककार के रूप में डॉ. शंकरशेष के विराजित होने के बादजूद उनकी ओर अध्येताओं का ध्यान अभी तक गम्भीरता पूर्वक नहीं गया है । मुश्किल से मैं छःसात समीक्षात्मक ग्रान्थ और तीन–चार शोध–प्रबन्ध ग्रन्थ जुटा पाया, जो कि डॉ. शेषजी की रचनाओं पर हुए आज–तक के कार्य की साक्षी भरते हैं । इस दृष्टि से उन पर अब–तक किये गये शोध कार्यों का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है –

१. डॉ. प्रकाश जाधव कृत – ''डॉ. शंकर शेष का नाटक–साहित्य'', १९८८
२. डॉ. एस. एन. जाधव कृत – ''शंकर शेष का रचना संसार'', २०००
३. डॉ. रमाकान्त दीक्षित कृत – ''शंकर शेष के नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन'', २००१

यद्यपि मैं डॉ. शेषजी के नाटकों पर ही काम करना चाहता था परन्तु शोधार्थी की भी अपनी एक सीमा एवं मर्यादा होती है, मैं उनका स्वीकार करता हूँ । समसामयिकता के परिप्रेक्ष्य में डॉ. शंकर शेष के समग्र नाट्य–साहित्य का अनुशीलन मेरे लिए असम्भव था । अन्ततः ग्रन्थ के आकार को सन्तुलित बनाए रखने और अतिव्याप्ति से बचाते हुए मेरे शोधगुरु डॉ. पाण्डेयजी ने डॉ. शेषजी की प्रमुख और उपलब्ध १९ नाट्य–रचनाओं पर मेरा ध्यान केन्द्रित करते हुए ''डॉ. शंकरशेष के नाटकों में समसामयिकता'' शोध विषय पर शोधकार्य करने का सुझाव दिया । उनकी निरन्तर प्रेरणा व मार्गदर्शन से मैं शोध–कार्य के शुभारम्भ से लेकर सम्पन्नता तक की यात्रा निर्विध्न रूप से तय कर सका हूँ ।

डॉ. शेषजी के समग्र साहित्य में ही नहीं बल्कि नाट्य–साहित्य में भी अब भी अनेक सम्भावनाएँ विद्यमान हैं जिन पर शोध–कार्य किया जा सकता है ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा के लिए सात अध्यायों में विभाजित किया गया है । प्रत्येक अध्याय की संक्षिप्त रूपरेखा निम्नांकित है ।

प्रथम अध्याय : 'डॉ. शंकरशेष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व' से सम्बन्धित है । इस अध्याय के अन्तर्गत डॉ. शेषजी के व्यक्तित्व के परिचय के साथ उनके कृतित्व की भी संक्षिप्त जानकारी देने का प्रयास किया गया है । इस अध्याय में उनके जीवनवृत्त, व्यक्तित्व के घटक तत्त्व और उनके लेखन की विविध विधाओं की परिचयात्मक चर्चा है । 'जीवनवृत' के अन्तर्गत उनके जन्म, शैशवावस्था, पारिवारिक मान्यताएँ, शिक्षा–दीक्षा, व्यवसाय, सृजनशीलता तथा गार्हस्थ्य–जीवन आदि पर विचार किया गया है । 'व्यक्तित्व के घटक तत्त्व' के अन्तर्गत उनका व्यक्तित्व, कर्मठता, सहृदयी, अध्ययनशीलता, संवेदनशीलता, उदारमतवादी, नाटक का भविष्य, नाट्यलेखन में अनुरक्ति, सहज–स्वीकार, जीवन दृष्टि, सम्मान और उपलब्धियाँ और महाप्रयाण तक की स्थितियों को स्पष्ट किया गया हैं । इसी क्रम में डॉ. शेषजी के कृतित्व में उनके साहित्यिक योगदान जैसे कि – नाटक, एकांकी, बाल–नाटक, अनूदित नाटक, उपन्यास, अनुसन्धानात्मक प्रबन्ध, पटकथा : संवाद आदि के नामोल्लेख के साथ प्रमुख और उपलब्ध १६ नाटकों का संक्षिप्त में कथ्यात्मक परिचय दिया गया है ।

द्वितीय अध्याय : 'समसामयिकता : स्वरूप एवं आयाम' में समसामयिकता के सैद्धान्तिक स्वरूप पर विवेचन किया गया है । इसमें मुख्य तीन बिन्दुओं पर दृष्टि केन्द्रित की गई है – 'समसामयिकता : व्युत्पत्ति, संज्ञा एवं अर्थ विचार', 'समसामयिकता के समीपवर्ती सन्दर्भ' और 'समसामयिकता के विविध आयाम' । 'समसामयिकता : व्युत्पत्ति, संज्ञा एवं अर्थ विचार' के अन्तर्गत विभिन्न कोशों एवं विद्वानों के विधानों के आधार पर 'समसामयिकता' के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है । 'समसामयिकता के समीपवर्ती सन्दर्भ' में समसामयिकता के साथ व्यवहृत होनेवाली और भ्रान्ति पैदा करनेवाली संज्ञाओं – आधुनिकता, युगबोध, समकालीनता, तात्कालिकता तथा नवीनता के बीच की सूक्ष्म भेद–रेखा को अनावरित किया गया है । 'समसामयिकता के विविध आयाम' के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आयाम की निहित प्रकृति, विषय एवं उनके मूलकार्य का परिचय आगामी अध्यायों की

पृष्ठभूमि रूप दिया गया है । साथ ही समसामयिकता : परिवर्तन के कारण तथा समसामयिकता और नाटक आदि पर चर्चा की गई है ।

तृतीय अध्याय : 'डॉ. शंकरशेष के नाटकों में सामाजिक परिवेश' विवेच्य नाटकों के सामाजिक स्वरूप के अनुशीलन से सम्बन्धित है, जिसमें समसामयिक सामाजिक परिस्थिति के उद्‌घाटन के साथ–साथ आभिजात्यवर्ग, मध्यमवर्ग, निम्नवर्ग, माता–पुत्र–पुत्री सम्बन्ध, भाई–बहन सम्बन्ध, प्रेमी–प्रेमिका सम्बन्ध, पति–पत्नी सम्बन्ध, नारी समस्या, जातिप्रथा और छुआछूत तथा अन्धविश्वास आदि पहलुओं को छुआ गया है ।

चतुर्थ अध्याय : 'डॉ. शंकरशेष के नाटकों में आर्थिक परिवेश' के अन्तर्गत समसामयिक आर्थिक परिस्थिति के निरूपण के साथ डॉ. शेषजी के नाटकों के आधार पर आर्थिक स्थिति का विश्लेषण किया गया है । इसमें अर्थ की प्रधानता, अर्थ, अभाव और अस्मिता, बेकारी की समस्या, अर्थोपार्जन हेतु साधनशुचिता का त्याग तथा घर की समस्या को दर्शाया गया है ।

पंचम अध्याय : 'डॉ. शंकरशेष के नाटकों में राजनैतिक परिवेश' के अन्तर्गत समसामयिक राजनैतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करते हुए विवेच्य नाटकों में अंकित राजनैतिक परिवेश का विवेचन किया गया है । जिसमें राजनीतिज्ञों की सत्तालिप्सा, दमन की राजनीति, दमनतन्त्र के विरुद्ध प्रजातन्त्र, सत्ता–संरक्षण के षड़यन्त्र, आश्वासन और छल–प्रपंच, शोषणमूलक व्यवस्था, हताशा एवं विवशता, युद्ध और राजनीति, शिक्षा और राजनीति, चापलूसी, न्याय प्रणालिका की स्थिति को चित्रित किया गया है ।

षष्ठ अध्याय : का शीर्षक 'डॉ. शंकरशेष के नाटकों में सांस्कृतिक परिवेश' है । प्रस्तुत अध्याय डॉ. शेषजी के नाटकों में अंकित सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययन से परिपुष्ट है । इसमें समसामयिक सांस्कृतिक परिस्थिति को स्पष्ट करते हुए तत्कालीन धर्म का स्वरूप, नैतिकता : परिवर्तन एवं पतन, नियतिवादी

दृष्टिकोण, शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण, कला विषय दृष्टिकोण आदि पर प्रकाश डाला गया है ।

सप्तम अध्याय : 'डॉ. शंकरशेष के नाटकों में समसामयिकता' चूंकि इस शोध–प्रबन्ध का प्रधान शीर्षक है, अतः विवेच्य नाटकों में समसामयिकता के मूल स्रोत तथा स्वरूप को क्रमशः विषय के सन्दर्भ में, पात्रों के सन्दर्भ में तथा शिल्प के सन्दर्भ में विश्लेषित करने का विनम्र प्रयास किया गया है ।

'उपसंहार' में उपर्युक्त विमर्श को निष्कर्षवत् प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जो विभिन्न साक्ष्यों, विवेचनों और विश्लेषणों के आधार पर प्राप्त उपलब्धियों के सार का द्योतक है ।

कृतज्ञताज्ञापन

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध श्रद्धेय गुरुवर डॉ. आर. एम. पाण्डेयजी के आत्मीय निर्देशन और स्नेहप्रद प्रेरणाओं का प्रतिफलन है । विषय निर्धारण से लेकर उसके सम्पन्न होने तक उनके आत्मीय व्यवहार के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ । इसलिए मैं उनके प्रति हार्दिक ऋणी हूँ ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के आरम्भ से लेकर पूर्णता तक शोध–कार्य के क्रियान्वयन में मेरी मानसिक उलझनों को दूर कर मेरा पथ प्रशस्त करनेवाले मेरे महाविद्यालय के वन्दनीय गुरुवर डॉ. उदयनारायण मिश्रजी के प्रति इस अवसर पर कृतज्ञता ज्ञापित करना कैसे भूल सकता हूँ ? अतः मैं उनके प्रति भी उपकृत हूँ ।

हिन्दी विभाग एवं शोध केन्द्र, कर्मवीर मामासाहेब जगदाले महाविद्यालय – वासी (महाराष्ट्र) के श्रद्धेय प्राध्यापक एवं अध्यक्ष डॉ. प्रकाश जाघव तथा वल्लभ विद्यानगर से प्रिय सुहृद डॉ. हर्षद चौहान का भी मैं ऋण स्वीकार करता हूँ, जिन्होंने मेरे प्रत्येक पत्रों का यथाशीध्र प्रत्युत्तर प्रेषित करते हुए डॉ. शंकरशेष के ग्रन्थ विषयक एवं तत्जन्य अन्य जानकारी प्रदान कराने में अपूर्व सहयोग दिया है ।

इसके अतिरिक्त मेरी आदरणीयगुरु व मेरे महाविद्यालय की प्राचार्य श्रीमती नलिनीबहन भट्ट, मेरे सहकार्यकर आदरणीय प्रा. जयदत्त धोण्डेजी तथा अन्य स्टाफ मित्रों, ग्रन्थपाल श्री विनोदभाई वाजा तथा समाजशास्त्र के मेरे अन्तरंग मित्र व प्राध्यापक डॉ. हमीरभाई झणकाट (श्री शारदाग्राम आर्ट्स–कोमर्स कॉलेज, मांगरोल) का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे यथा समय परामर्श व पुस्तकों के द्वारा मेरे शोध–कार्य को गत्यान्वित रखने में पूर्ण योग दिया है ।

इस कार्य में मेरे पूज्य पिताजी स्व. भीमजीभाई, माताजी हीराबहन, अग्रज अरविन्द कापडिया, परम सुहृद किशोर कापडिया तथा सहधर्मचारिणी भावनागौरी आदि की सदभावनाएँ मेरे शोध–कार्य में मेरा सम्बल रही हैं ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में समाविष्ट विविध ग्रन्थो कें लेखक–संपादक महोदयों का भी मैं आभारी हूँ । शोध–प्रबन्ध के कम्प्यूटर टंकन का कार्य श्री कमलेश कोमर्सीयल सेन्टर, जामनगर के सदस्योंने सुचारू रूप से और लगन से किया है अतः मैं उनका भी आभारी हूँ ।

अन्त में इस शोध–प्रबन्ध के प्रमाणार्थ आधारभूत ग्रन्थ, सन्दर्भ ग्रन्थ, विभिन्न कोश एवं पत्र–पत्रिकाओं की तालिका परिशिष्ट के रूप में इसके साथ संलग्न कर रहा हूँ ।

विनीत

दिनेश कापडिया

अनुक्रमणिका

		पृष्ट क्रमांक
१	**प्रथम अध्याय :** डॉश्वशंकश्वशेष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	००१-०८८
२	**द्वितीय अध्याय :** समसामयिकता : स्वरूप एवं आयाम	०८९-१२५
३	*तृतीय अध्याय* डॉश्वशंकश्वशेष के नाटकों में सामाजिक पश्चिवेश	१२६-१९६
४	*चतुर्थ अध्याय :* डॉश्वशंकश्वशेष के नाटकों में आर्थिक पश्चिवेश	
५	**पंचम अध्याय :** डॉश्वशंकश्वशेष के नाटकों में श्वजनीतिक पश्चिवेश	
६	*षष्ठ अध्याय :* डॉश्वशंकश्वशेष के नाटकों में सांस्कृतिक पश्चिवेश	
७	**सप्तम अध्याय** डॉश्वशंकश्वशेष के नाटकों में समसामयिकता	
❀	उपसंहार	
❀	परिशिष्ट	

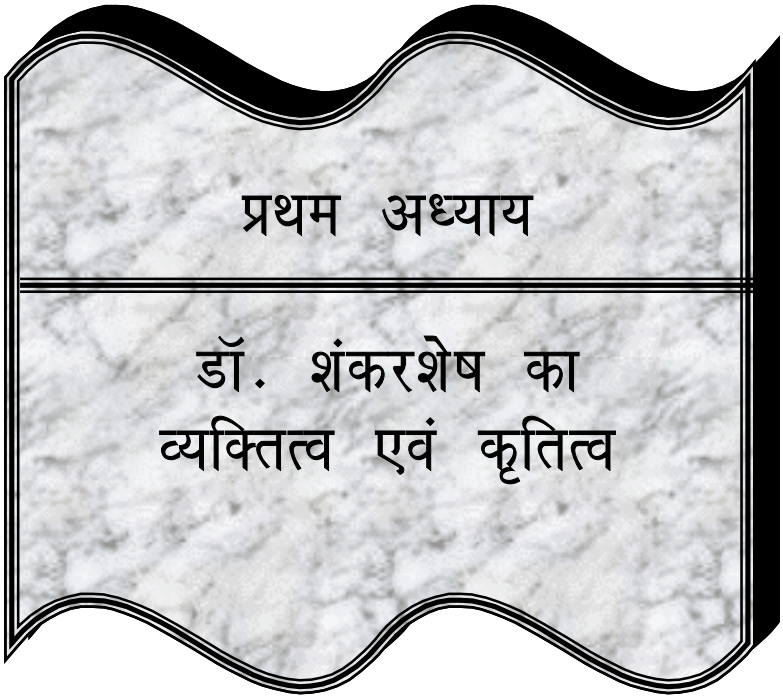

प्रथम अध्याय

डॉ. शंकरशेष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रथम अध्याय
डॉ. शंकरशेष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

समकालीन नाटककारों में डॉ. शंकर शेष एक बहु चर्चित नाम है और विशेष रूप से समादृत हैं । वे हिन्दी के प्रथम पंक्ति के नाटककारों में अपनी अलग पहचान रखते हैं । हिन्दी नाट्य साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, धर्मवीर भारतीय मोहन राकेश, डॉ. लक्ष्मीनारायणलाल प्रभृति युगसर्जक नाट्य प्रतिभाओं की दीर्घशृंखला में डॉ. शेषजी भी अपने निरालेपन के साथ शोभायमान हुए हैं । इसकी पुष्टि करते हुए डॉ. विनय लिखते हैं, ''*समकालीन नाटक साहित्य में विशेष रूप से छठे, सातवें एवं आठवें दशक में शेषजी के नाटकों का अपना विशेष स्थान है । नाटक साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र और मोहन राकेश की कडी में एक महत्त्वपूर्ण लेखक के रूप में शंकरशेष के नाटक विशिष्ट, प्रयोगधर्मी सिद्ध हुए हैं । इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे नाटककार के रूप में मंच के बहुविध आयामों से भी जुड़े रहे हैं । डॉ. लक्ष्मीनारायणलाल, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मुद्राराक्षस, जगदीशचन्द्र माथुर, विनोद रस्तोगी, दयाप्रकाश सिंहा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री जैसे स्वातंत्र्योत्तर युगीन प्रयोगशील नाटककारों की श्रेणी में शेष के रंगमंचीय कार्य को गिना जाता है ।*''[१] सुज्ञ पाठक के दृष्टिपथ में हिन्दी नाट्यसाहित्य के उर्वर नाट्य रचयिताओं की परम्परा में डॉ. शेष अवश्य पाए जायेंगे । इसका कारण है डॉ. शेषजी की कालजयी कृतियाँ और कृतियों की आज के दौर में प्रासंगिकता । समसामायिक परिवेश जिस प्रकार का निर्मित होता है साहित्यकार उससे प्रभावित होकर उससे प्रेरणा ग्रहण करके अपनी रचनाओं में उसे उतार देता है । डॉ. शेषजी ने अपने नाट्य साहित्य में समसामयिक स्थितियों को बड़ी सूक्ष्मता से यथार्थ के धरातल पर रूपायित किया

है । उनकी इस दृष्टि में प्रौढ़ता और जीवन की विशेषताएँ समाहित थीं । *''जयशंकर प्रसाद की तरह उन्होंने जहाँ एक और प्राचीन कथाबीजों के नये रूपों को प्रस्तुत किया, वहीं दूसरी और उन्होंने समसामयिक सन्दर्भों, विषयों एवं विवादों को उठाकर वर्तमान जीवन की व्याख्या भी की ।''*[२]

डॉ. शंकरशेष सत्यान्वेषी एवं मानवीय आदर्शों के अभिलाषी थे । मानव जीवन में जो भी विसंगतियाँ व्याप्त थीं, उनका मूल खोजना उनका प्रमुख कार्य था । मूल कारणों की खोज और उनके उन्मूलन की दिशा का पता करना वे खूब जानते थे । यद्यपि वे आदर्श के पूजारी थे, पर खोखले आदर्शों और विचारों के प्रति उन्हें उतनी ही तीव्र घृणा थी । ठोस बातों में वे ज्यादा विश्वास करते थे । उनका लक्ष्य तो जीवन की विसंगतियों को दूर कर जीवन को आसानी से व्यतीत करने योग्य परिस्थितियों का पता लगाना भी था ।

समकालीन सर्जकों का ध्यान अपने प्रति आकृष्ट करने में डॉ. शेषजी के निजी व्यक्तित्व की महेंक कारणभूत है । उनमें प्रयोगधर्मी सर्जक प्रतिभा विद्यमान थी । तथा वे बहुआयामी व्यक्तित्व से सु–सम्पन्न थे । वे केवल एक सिद्धहस्त नाट्यकार ही नहीं बल्कि एक अच्छे और सच्चे इन्सान भी थे । श्रेष्ठ कोटि के अध्येता एवं प्रभावी वक्ता थे, नाट्य निर्देशक एवं नाट्य रसिक थे, सहज–सरल और सहृदयी सज्जन थे, भाषा वैज्ञानिक एवं अनुसन्धाता थे । ऐसे हिन्दी नाट्यसेवी का जीवन परिचय देना एवं उनकी रचनाओं पर अभिप्राय प्रस्तुत करना मेरे जैसे एक अध्येता के लिए प्रयास होगा, केवल एक दुस्साहस । फिर भी विवेच्य रचनाकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर दृष्टिक्षेप करना अध्येता के लिए गौरव का अनुभव होगा ।

❋ जीवनवृत्त :

✦ *जन्म :*

''किसी साहित्यकार का जीवन परिचय ज्ञात करने के लिए दो साधन हैं – अन्तःसाक्ष्य अर्थात् रचनाकार ने अपने साहित्य में अपने सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में जो कुछ भी कहा है तथा बाह्यसाक्ष्य अर्थात् साहित्यकार

के समसामयिक और परवर्ती विद्वानों ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा है ।''[३] हमारी प्राचीन परम्परा में आत्मप्रशंसा अथवा आत्मपरिचय को श्रेयस्कर नहीं माना गया है । क्योंकि प्रतिभा तो रचनाओं के माध्यम से बोलती है । यही उत्तम साधन है । डॉ. शेषजी अपनी इसी परम्परा का उल्लंघन कदापि पसन्द नहीं करते । अतः उनके समकालीन डॉ. विनय एवं डॉ. सुनीलकुमार लवटे इस गुरुत्तरकार्य को सम्पन्न करते हुए उनके जीवनवृत्त सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध कराते हैं । डॉ. विनय लिखते हैं, *''डॉ. शेष का जन्म २ अक्तूबर १९३३ को विलासपुर के सामन्तशाही महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण परिवार में हुआ ।''*[४] *''इनके पिता का नाम श्री नागोराव शेष तथा माता का नाम श्रीमती सावित्री देवी था ।... वे विशिष्ट ऊर्जा सम्पन्न व्यक्ति थे ।''*[५] डॉ. प्रकाश जाधव के साथ श्रीमती सुधाशेष से हुए प्रत्यक्ष वार्तालाप के अनुसार *''मूलतः विदर्भ (महाराष्ट्र) के रहनेवाले डॉ. शंकरशेष के पुरखों को राजे भोंसले ने विलासपुर की जहाँगिरी दी थी । इसी कारण उन्हें महाराष्ट्र से मध्यप्रदेश के विलासपुर जाना पड़ा था ।''*[६]

✦ *शैशवावस्था :*

पिता नागोरावजी शेष तथा माता सावित्रीदेवी के सान्निध्य में बालक शंकर का बचपना बीता । उनके पिता नागोरावजी को सोलह बच्चें थे । पहली पत्नी के आठ और दूसरी पत्नी के आठ । *''शंकरजी की माताजी बड़ी बहू थी । अधिक्तर जिम्मेवारी उन्हीं की होती । सब बहुओं में उनका प्रपंच भी बड़ा था । अपने स्वयं के आठ बच्चें और नागोरावजी की पहली पत्नी से उन्हें आठ बच्चें हुए थे जिनमें से दूसरी शादी के समय चार बच्चें थे । छोटा बच्चा बहुत छोटा था । कृष्णरावजी आयु में अपनी दूसरी माँ की बराबरी के ही थे । उनसे छोटी बहन थी जो इन्दुरकर मास्टर से ब्याही थी ।''*[७] *''शेषजी कुल छः भाई हुआ करते थे । सबसे बड़े भाई श्री कृष्णराव शेष अम्बिकापुर में एडवॉकेट थे । उनसे छोटे श्री बबनराव शेष, जनसंघ के लिए समर्पित थे । उनके बाद थे श्री बालाजीराव शेष, जो गाडेघाट में खेतीबाड़ी करते थे । उसके बाद शंकरजी का नम्बर था । उसके बाद श्री विष्णुशेष और सबसे छोटे*

गोपालराव शेष, तीन बहिनें थीं, जिनमें एक विवाहिता होकर और दो छोटी आयु में चल बसीं ।''[८]

नागोरावजी शेष विलासपुर के मालगुजार थे । शहर में उनकी बड़ी धाक थी । सावित्रीबाई बड़ी सीधी–सादी महिला थी । पति की सेवा में समर्पित । परिवार सम्पन्न था । किसी चीज की कमी नहीं थी, कोई अभाव नहीं था । यही कारण है कि आर्थिक निश्चिन्तता ने पिता को नाटक–संगीत–तबले का शौकीन बना दिया था । *''शेष परिवार बिलासपुर के सामन्त परिवारों में से एक होने के कारण श्री नागोराव की संगीत और नाटक में रुचि रखते थे । नाटकों में उनकी इतनी रुचि थी कि बाल–गन्धर्व की नाटक कम्पनियाँ उनके शहरों में आकर संगीत–नाटकों का मंचन करें इसी उद्देश्य से उन्होंने 'जानकी विलास थियेटर' प्रारम्भ किया था ।''*[९] *''वे थियेटर में कभी–कभी तबले की थाप भी दिया करते थे । संगीत और नाटक का यह पागल प्रेमी नाटकादि देखने विलासपुर से नागपुर जाने में कोई कसर नहीं छोड़ता था ।''*[१०] कला, संगीत, नाट्यप्रेमी ऐसे सुखासीन परिवार में बालक शंकर का शैशवकाल व्यतीत हुआ, जो परिवेश गत समस्त संस्कारों से आप्लावित था । श्री नागोरावजी अपनी आतिथ्य सत्कार भावना को लेकर ख्यातनाम थे । घर आठों याम अतिथियों के लिए खुला रहता । अतिथि–सत्कार के लिए माता श्रीमती सावित्रीदेवी को हमेशा तत्पर रहना पड़ता था । अतः अपनी सन्तति के संगोपन के लिए यथेष्ट समय जुटा पाना उनके लिए मुश्किल था । इस तथ्य को रेखांकित करते हुए डॉ. सुनील कुमार लवटे लिखते हैं, *''उनके पिता श्री नागोराव शेष सम्पन्न परिवार में पले होने के कारण जिन्दादिल आदमी थे । घर में नौकरों की कमी नहीं थी । बड़ा परिवार था । महेमानों का आना–जाना तो क्रम सा बना हुआ था । उनकी पत्नी सावित्रीदेवी को महेमानों की खिदमत से समय निकालकर अपने बेटों–बेटियों की देखभाल करने की नित्य चिन्ता रहती । पर बेचारी हार जाती थी ।''*[११]

डॉ. शंकरशेष में नाटक, संगीत और कला के बीज तो पैतृक संस्कार और पारिवारिक माहौल स्वरूप पहले से ही वपित हो चुके थे । इसका साथ

कलामय वातावरण ने दिया । फलतः डॉ. शेषजी अपने सुषुप्त कला जगत् को झंकृत कर अपनी विशिष्ट सर्जन शक्ति का परिचय देते हुए कलादेवी के चरणों पर एक–एक करके नाट्य रचना समर्पित करते गये ।

✦ *पारिवारिक मान्यताएँ :*

प्राचीन परम्परा में नितान्त विश्वास करनेवाले शेष परिवार में परम्परागत चली आ रही रूढ़ियों, प्रथाओं और मान्यताओं का सख्ती से पालन होता था । ये मान्यताओं में कुछ धर्मगत थीं तो कुछ व्यवहारगत । घर में कडा अनुशासन था और श्री नागोरावजी को अपनी पीढ़ी की अनुशासनप्रियता पर बड़ा नाज था । घर के सभी सदस्यों को अनिवार्यतः रूढ़ियों को पालना पड़ता था । शुकन–अपशुकनवाली बात पर हर कोई, तत्काल प्रतिक्रिया जताते थे। श्रीमती सुधाजी के दुल्हन बनकर घर में कदम रखते ही माताजी को बुखार आ जाना और शेषजी की घड़ी खो जानेवाली घटना को घर की स्त्रियों के जरिये अपशुकन का रूप देना सुधाजी को बड़ा विचित्र लगा था । *''अरे, ये शकुन अच्छा नहीं । आते ही आई को बुखार आना । फिर पहली मुलाकात के दूसरे दिन घड़ी का खोना ।''*[९२] घर की छोटी–मोटी वस्तु के गायब हो जाने पर सबसे पहले ज्योतिषी की शरण ली जाती थी । *''भाभी... सोलह सोमवार के व्रत का''*[९३] अनुष्ठान रखती । संक्रान्त में *''बहू के हाथों सुहागनों को दान दिया जाता''*[९४]था । बहू के गले में मंगलसूत्र का न होना घर वालों को कतई पसन्द न पड़ता । संकट के निवारणार्थ *''गजानन महाराज की पोथी का''*[९५] पाठ किया जाता, *''रामायण का भी पाठ किया''*[९७] जाता । सात दिन तक व्रत चलता ।

रजोधर्म को नारी की विवशता मानी जाती है । क्योंकि कुछ दिनों तक वह बड़े–बूढ़े, स्त्री–पुरुष सबके लिए उपेक्षित बनी रहती है । यद्यपि हमारे संहिताकारों ने शायद उसकी स्वास्थ्य रक्षा की चिन्ता करते हुए उसे एकान्त कोने में पड़े रहने के विधि–निषेध बताये हैं परन्तु संकुचित मानस ने नारी को निंद्य ही मान लिया और उसे कठोर नियमों को पालने के लिए बाध्य बना

दिया । नयी नवेली बहू को कदाचित् इससे भी अवगत होना अत्यावश्यक होता है । सुधाजी ने संकोच को तोड़ते हुए पूछा था ''क्या करूँ'' ? तो शेषजी ने इस रूढ़िगत मान्यता के प्रति एवं घर के कायदे–कानून के प्रति अपनी नाराजगी प्रकट करते हुए कह दिया *''देखो, बताओगी तो तुम्हारी मुसीबत हो जाएगी । तीन दिन अलग रहना, जमीन पर सोना, अपने बर्तन स्वयं मांजना आदि करना पड़ेगा ।''*[१७]

रीवाँ पोस्टिंग के समय सुधाजी का गर्भपात हो गया । पुराने ख्यालात वाले लोग इसके लिए रूढ़िगत कारण जुटाते हैं । जैसे कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में उत्सव, अमावस्या, पूर्णिमा के दिन गर्भाधान को वर्जित माना है । यह एक प्रकार का दोष माना जाता है, जिससे कि गर्भ टिकता ही नहीं; किसी भी वक्त उसके पतन की सम्भावना बनी रहती है । शेषजी के बड़े भैया ने पत्र द्वारा सुधाजी के पिता से इन कारणों की ही जाँच–पड़ताल की थी । *''ऐसा क्यों हुआ ? अमावस्या–पूर्णिमा का ख्याल नहीं किया होगा, इत्यादि–इत्यादि ।''*[१८]

शेष खानदान में किसी भी स्त्री ने आज–तक नौकरी नहीं की थी या नौकरी का विचार तक नहीं किया था । बुजुर्गों की मान्यता के अनुसार–नौकरी करने से ऊँचे खानदान को धक्का पहुँचता है । शेषजी, खुद की भी पहले–पहले यही राय रही थी । (बाद में वे नौकरी के समर्थक बन गये थे ।) अचानक घर आये बड़े भैयाजी के हाथ में सुधाजी का नियुक्ति पत्र हाथ में आ गया । उसे पढ़कर वे सहम से गये । उनका आभिजात्य अहं फुम्फकार उठा, *''ये क्या है, तुम नौकरी करोगी । शेष खानदान की बहू नौकरी करेगी ?''*[१९] अपने घर के बड़े–बुजुर्गों के अवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर डॉ. शेषजी को कभी विश्वास तो नहीं हुआ किन्तु विद्रोह की भावना भी कभी नहीं जन्मी । आखिर यही तो उनका घर था, जिसके परिवेश में वे पले थे । अतः वह अपने घरवालों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं, *''मेरे घर के लोग अच्छे हैं । जरा पुराने ख्यालात के हैं, पर दिल से अच्छे हैं ।''*[२०] इस अवसर पर

वे सुधाजी के सामने अपने घरवालों के प्रति पूज्यभाव व आदर्शभाव का आदर्श प्रस्तुत करना नहीं भूले ।

✦ *शिक्षा–दीक्षा :*

डॉ. शेषजी की प्राथमिक शिक्षा–दीक्षा स्थानीय विद्यालय में हुई । इस कथन को बल प्रदान करते हुए उनके बड़े भाई कृष्णराव शेष लिखते हैं, ''उनकी प्राथमिक शिक्षा जूना विलासपुर प्राथमिक शाला में हुई । उसी समय से वह हर कक्षा में पहला या दूसरा स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण होता था ।....

उसकी माध्यमिक व उच्चतर माध्यमिक शिक्षा शा.उ..मा. शाला बिलासपुर में हुई । वह गणित और अंग्रेजी के विषयों में आवश्यकता पड़ने पर अपनी बड़ी भाभी (श्रीमती राधाशेष यानी मेरी धर्म पत्नी) से मदद लिया करता था, क्योंकि वह पुराने जमाने की १९४३ में मैट्रिक उत्तीर्ण थी । भाभी खाना पकाती थी और शंकर वहीं बैठकर अपना अध्ययन करता था । उस जमाने में विद्यार्थी के लिए अलग कमरा नहीं था ।''[२१] विद्यार्थी जीवन में वे बड़े जिज्ञासु, अध्ययनरत और अव्वल नम्बर पानेवाले मेघावी छात्र रहें । *''बचपन से ही शंकर जिज्ञासुवृत्ति का था और अपने से बड़ों से प्रश्न 'ऐसा क्यों ?' किया करता था । उनकी खेल के प्रति साधारण रुचि थी और ज्यादा समय वह पढ़ाई में ही व्यतीत कर रहा था ।''*[२२] *''माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक परीक्षाओं में पहले नम्बर पर आता था । उसे मैट्रिक में पहला वर्ग प्राप्त हुआ था और दो विषयों में प्रवीणता भी मिली थी ।*[२३] पिताजी उन्हें उच्चशिक्षा प्राप्त कराने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उन दिनों भी लाभालाभवाली मान्यता उन पर हावी थी । परन्तु बड़े भैया के अनुरोध पर उन्होंने शेषजी को नागपुर मारिस कॉलेज में अध्ययन हेतु भेजा ।

''डॉ. शंकरशेष ने सन् १९५६ की मई में बी.ए. ऑनर्स की उपाधि नागपुर विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में प्राप्त की । उनके सामने जीविका के अनेक मार्ग होते हुए भी मध्यप्रदेश सरकार की शिक्षा सेवा में सहायक प्राध्यापक के रूप में वे भर्ती हो गए । मॉरिस कॉलेज, नागपुर में ही उन्हें

अधिव्याख्याता बनने का अवसर प्राप्त हुआ ।''[२३] नौकरी पाकर शेषजी सन्तुष्ट हो जानेवाले नहीं थे । साहित्य साधना उनके जीवन का उद्देश्य नहीं था परन्तु जीवन का एक अंग बन गया था । नागपुर, रीवाँ एवं शहडोल भटकते रहने पर भी उन्होंने लेखन एवं अनुसन्धान का कार्य जारी रखा । *''उन्होंने, डॉ. गोपाल गुप्ता के निर्देशन में अपना अनुसन्धान-कार्य सन् १९६१ में पूरा किया । उनके 'हिन्दी और मराठी कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक प्रबन्ध को नागपुर विश्वविद्यालय ने स्वीकृत किया और उन्हें सन् १९६१ में पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की ।''*[२५]

सन् १९७४ में शेषजी भोपाली (मध्यप्रदेश सरकार की १६ साल की नौकरी) छोड़कर भारतीय स्टेट बैंक, बम्बई (मुम्बई) में आये । उन्होंने कानूनी एवं तकनीकी भाषा लिखना एवं विशिष्ट व्यवहार के लिए विशिष्ट शब्दों के चयन हेतु भाषाशास्त्र में एम.ए. करने का प्रण किया । *श्रीमती सुधाशेष के शब्दों में ''उन्होंने अपने इस कार्य को अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए भाषाशास्त्र में एम.ए. करने की ठानी ।''*[२६] और सन् *''१९७८-७९ में बम्बई विश्वविद्यालय से उन्होंने लिंग्विस्टिक में एम.ए. किया था ।''*[२७]

डॉ. शेषजी ने हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी का स्वतः अध्ययन किया था । इन सभी भाषाओं पर उनका यथोचित अधिकार था ।

✦ *व्यवसाय :*

सन् १९५६ में नागपुर विश्वविद्यालय से ही बी.ए. ऑनर्स की उपाधि प्राप्त करके डॉ. शंकरशेष ने मॉरिस कॉलेज, नागपुर में ही मध्यप्रदेश सरकर की शिक्षा सेवा में सहायक व्याख्याता के रूप में अपने जीवन का द्वितीय चरण प्रारम्भ किया । जिस मॉरिस कॉलेज में पहले कभी विद्यार्थीरूप में अध्ययन किया था, उसी कॉलेज में अध्यापक बनकर अध्यापन कराने का एक सुनहरा मौका उन्हें मिला । वैसे भी वे उन दिनों एक विलक्षण छात्र व लेखक के रूप में उभर आये थे । इसीलिए अर्थोपार्जन जन्य किसी मार्ग के चयन हेतु उन्हें खास किन्हीं झंझटों का सामना नहीं करना पड़ा था । डॉ. विनय इस सम्बन्ध

में लिखते हैं – *''उनके सामने जीविका के अनेक मार्ग होते हुए भी मध्यप्रदेश सरकार की शिक्षा सेवा में सहायक प्राध्यापक के रूप में वे भर्ती हो गए । मॉरिस कॉलेज, नागपुर में ही उन्हें अधिव्याख्याता बनने का अवसर प्राप्त हुआ ।''*[२८]

नौकरी के कारण डॉ. शेषजी किसी एक जगह स्थिर बने नहीं रह सके । *''सरकारी नौकरी होने से समय–समय पर उनका तबादला होता रहा । सन् १९५९ से १९६५ तक का उनका काल रीवाँ एवं शहडोल के शासकीय कॉलेजों में व्यतीत हुआ ।''*[२९] हालांकि वे फिर भी अपनी असाधारण प्रतिभा की खुश्बू बिखेरते रहें । *''सन् १९६५ में मध्यप्रदेश सरकार ने डॉ. शंकरशेष की असाधारण क्षमता को देखकर 'शिक्षा सेवा विभाग' से 'आदिम अनुसन्धान संस्था' में प्रति नियुक्ति की । उन्हें भाषा एवं संस्कृति प्रभाग में अनुसन्धान अधिकारी का पदभार सौंपा गया अनुसन्धान अधिकारी की हैसियत से डॉ. शंकरशेष फिर मध्यप्रदेश सरकार की शिक्षा सेवा में आए । भोपाल के हमीदिया कॉलेज में उन्होंने दो वर्ष तक हिन्दी के अध्यापन का कार्य किया । लेकिन १९७० में मध्य प्रदेश सरकार ने उनकी प्रतिनियुक्ति 'मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल' में सहायक संचालक के रूप मे की । यह पदभार उन्होंने सन् १९७० से १९७४ तक यानी चार वर्ष तक सम्भाला ।''*[३१] वहाँ उच्चपद पाने की राजनीति और निकट के साहित्यकार मित्र की दाँवपेचनीति ने डॉ. शेषजी को पहले से ही खिन्न कर दिया था । आए दिन तबादले की खबर ने उनकी मनःस्थिति को विक्षिप्त कर दिया था । अतः *''डॉ. शम्बर शेष ने इस पद से इस्तीफा दे दिया और वे भारतीय स्टेट बैंक में आ गए । उन्होंने सन् १९७४ से लेकर १९८१ तक भारतीय स्टेट बैंक के बम्बई स्थित केन्द्रीय कार्यालय में राजभाषा विभाग के अधिकारी के रूप में पदभार सम्भाला ।''*[३२]

मुम्बई (बम्बई) डॉ. शेषजी की जिन्दगी का आखिरी पड़ाव था । यहाँ रहते इनको नाटकों के मंचन के लिए दूरदर्शन जैसा सशक्त माध्यम मिला । वहाँ उनके व्यक्तित्व के नये आयाम खुले ।

✦ *सृजनशीलता :*

डॉ. शंकरशेष का हिन्दी साहित्य क्षेत्र में अमूल्य एवं प्रशस्य प्रदान है । समकालीन हिन्दी नाट्यक्षेत्र में तो वे असाधारण सफलता के अधिकारी बने हैं । पढ़ाई–लिखाई में डॉ. शेषजी को विशेष अनुरक्ति थी । विशिष्ट प्रज्ञासम्पन्न होने के कारण डॉ. शेषजी पन्द्रह–सोलह वर्ष की अवस्था से ही कविता–कहानी लिखने लगे थे । उनके निकटवर्ती मित्र रज्जन त्रिवेदीजी इस बात की साक्षी भरते हुए लिखते हैं *''शेष जब भी कुछ नया लिखता तो सुनाना नहीं भूलता । उसकी प्रतिभा का उन्मेष कविता से होता है । पहले वह कवि था, बाद में कहानीकार और उसके बाद नाटककार ।''*[३३] यद्यपि उनके प्रारंभिक लेखनकार्य का कोई साहित्यिक मूल्य भले ही न रहा हो परन्तु अपनी कलम पर आत्मविश्वास जगाने भर का तो मूल्य है ही । अपनी रचना को पत्र–पत्रिका में छपी देख वे खुशी से झुम उठते थे । इतना ही नहीं अपने साथी–मित्रों को भी इसके लिए प्रोत्साहित करते थे । इस घटना का निर्देश करते हुए रज्जन त्रिवेदी लिखते है *''उसकी एक कविता 'सरिता' में प्रकाशित हुई थी उन दिनों फूला नहीं समा रहा था । इतवार को हम होस्टल में धमक जाया करते थे, फीस्ट का भी आकर्षण होता । उस दिन शेष ने जो जिसने माँगा, जम कर खिलाया ।... पं. द्वारकाप्रसादजी मिश्र के 'सारथी' में भी वह जुड़ गया था । अपनी रचनाएँ छपाने लगा था, मुझसे कहता, तेरी भी छपवा दूँगा फिकर मत कर, उन दिनों छपास की बड़ी भूख रहा करती थी ।''*[३४]

बी.ए. ऑनर्स की उपाधि हेतु वे नागपुर गये । वहाँ उन्हें साहित्यिक परिवेश के साथ–साथ विनयमोहन शर्मा जैसे गुरु का सान्निध्य प्राप्त हुआ । उनकी साहित्यिक अभिरुचि परिष्कृत हुई । इस सन्दर्भ में डॉ. विनय ने लिखा है, *''इण्टरमीडिएट करने के पश्चात् जब वे बी.ए. ऑनर्स करने नागपुर गए, तब उन्हें एक साहित्यिक परिवेश मिला और विनयमोहन शर्मा जैसे गुरु का मार्गदर्शन भी मिला, उनके लेखन को नये आयाम प्राप्त हुए । अब कविता–कहानी की जगह एकांकियों ने ली । इसके साथ ही वे आकाशवाणी के सम्पर्क में आए । आकाशवाणी के सम्पर्क में आने से उनका लेखकीय काम*

बढ़ता गया । कविता, कहानी आदि का पत्र–पत्रिकाओं में लेखन तथा आकाशवाणी के सम्पर्क के कारण उनके दोस्त एवं अध्यापक उन्हें महत्त्व देने लगे थे । डॉ. शेष के लिखे रेडियो रूपक उन दिनों चर्चा का विषय बन गए थे । सहपाठियों ने इन्हें लेखक की संज्ञा से तो अभिहित किया ही, साथ–ही–साथ शंकरशेष नाम के साथ 'नाटककार' लिखवा देने का सारा श्रेय भी इसी कॉलेज को जाता है ।''[३५]

डॉ. शेष का आरंभिक उपलब्ध नाटक 'मूर्तिकार' (१९५५) इन्हीं दिनों की उपज है । कॉलेज गैदरिंग के लिए खेला गया यह नाटक काफी सफल सिद्ध हुआ । 'मूर्तिकार' से जारी उनकी साहित्य सरिता निरन्तर गतिशील नजर आती है ।''[३६] यही नाटक बाद में तीन अंकी नाटक के रूप में प्रकाशित हुआ । तत्पश्चात् यथावकाश 'बेटोंवाला बाप', 'नई सभ्यताः नये नमूने', 'रत्नगर्भा', 'विवाह मण्डप', 'हिन्दी का भूत', 'तिल का ताड़' जैसी नाट्य–रचनाएँ अस्तित्व में आई ।

'पोस्टर' नाटक उन दिनों की उपलब्धि कही जा सकती है, जब वे 'आदिम जाति अनुसन्धान संस्था' मध्यप्रदेश में 'शिक्षा–सेवा विभाग से संलग्न अनुसन्धान अधिकारी के पद पर आसीन थे । डॉ. विनय इसका उल्लेख करते हैं, *''डॉ. शेष को अनुसन्धान अधिकारी की हैसियत से मध्यप्रदेश के बस्तर तथा नारायणपुर जैसे परिवेश में काफी घूमना पड़ा था । अपने इस भ्रमण के दौरान उन्हें बस्तर तथा नारायणपुर की जिन्दगी को करीब से देखने का मौका प्राप्त हुआ था । इस परिवेश में रहनेवाली आदिम जातियों के जन–जीवन को करीब से देख लिया था । इस परिवेश के भूमिहीन किसानों पर वहाँ के जमींदार तथा वन के अधिकारी खुलेआम अन्याय एवं अत्याचार किया करते थे । इसे देखकर शंकरशेष का लेखक बेचैन रहा करता था ।... इसी बैचेनी के कारण उनके 'पोस्टर' नाटक का सृजन हुआ है ।''*[३७]

सन् १९७० से १९७६ की कालावधि में उन्होंने मध्यप्रदेश 'हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' भोपाल के सहायक संचालक का पद ग्रहण किया । और फिर आठ–नौ नाटक उनकी कलम से प्रस्फुटित हुए । *''१९७० में 'बिन बाती के*

दीप' नाटक से उनका लेखन पुनर्जीवित हुआ, जो चार वर्षों की कालावधि में गतिशील रहा । अर्थात् १९७४ तक आठ–नौ नाटक लिखे गए जिनमें 'बाढ़ का पानी' और 'चन्दन के दीप' तथा 'बन्धन अपने–अपने' मध्यमप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हुए । इन नाटकों का विभिन्न संस्थाओं ने मंचन किया, साथ ही आकाशवाणी भोपाल से अधिकांश नाटक प्रसारित भी हुए । 'खजुराहो का शिल्पी' का राष्ट्रीय प्रसारण भी हुआ था ।.. 'अभिशप्त गान्धार' एवं 'त्रिभुज का चौथा कोण' का प्रसारण बहुचर्चित रहा । ब.व. कारन्त के निर्देशन में आयोजित कार्यशाला के समापन के समय 'एक और द्रोणाचार्य' का मंचन भी आज–तक जनमन पर छाया रहा ।''[३८]

नाटक रचना के अतिरिक्त उनकी लेखनी से एकांकी, बाल नाटक, अनूदित नाटक, उपन्यास, अनुसन्धानात्मक प्रबन्ध, पटकथा, पटकथा संवादादि रचनाएँ समय की अविराम गति के साथ–साथ सृजित होती रहीं ।

✦ *गार्हस्थ्य जीवन :*

सुधाजी ने अपने पिताजी को वचन दिया था कि वह एम.ए. करेगी; उन्हें किसी तरह परेशान नहीं करेगी । संयोग से सुधाजी ने एम.एम. के पर्चे में हिन्दी लिख दिया था । पुस्तकों की एवं पाठ्यक्रम की चिन्ता उन्हें खाये जा रही थी । परन्तु श्री पूनमचन्द तिवारीजी सुधाजी के लिए राहत बनकर आएँ । उन्होंने ढाढस बन्धाया, *''चिन्ता न करो, मेरा विद्यार्थी शंकर शेष मॉरिस कॉलेज में पढ़ाता है । वह तुम्हारी सहायता जरूर करेगा ।''*[३९] और सचमुच शेषजी ने सुधाजी के पत्रों के प्रत्युत्तर ही नहीं दिए वरन् उचित मार्गदर्शन व ढेर सारे निर्देश देने उनके घर दोपहर की धूप में, तीन बजे, तीनमील साइकिल चलाकर आएँ । उन दिनों सुधाजी एवं उनके पिताजी दोनों को प्रभावित कर दिया । जिसका जिक्र करते हुए सुधाजी ने लिखा है *''तो यह थी हमारी पहली मुलाकात, जिसने मेरी अस्मिता को कहीं छेड़ा था, जगाया था, कुछ कर गुजरने की उमंग को उभारा था ।''*[४०] स्पष्ट है कि दोनों के मन में एक–दूसरे के प्रति कोमलभाव जग आया था ।

कॉलेज के छात्रों का अनुमान भी सही था । एक से न रहा गया । उसने सीधे सुधाजी को पूछ ही डाला, *''क्या तुम सर की मंगेतर हो ?''*[४१] डॉ. शेषजी ने भी इसकी पुष्टि फेयरवेल के दिन करते हुए कहा था, *''मुझसे उनका रिश्ता केवल गुरु–शिष्या का नहीं, कुछ और भी है ।''*[४२]

अन्ततः यही सम्बन्ध दोनों के लिए मंगल परिणय सिद्ध हुआ । कुल परम्परा के अनुसार डॉ. शेषजी और सुधाजी विवाह ग्रंथि से जुड़े । डॉ. विनय इसको रेखांकित करते हैं, *''रायपुर (मध्यप्रदेश) के निवासी डॉ. रामचन्द्र नारायण अत्रे एवं सौ. नलिनी रामचन्द्र अत्रे की कन्या सुश्री सुधा से डॉ. शंकर शेष का विवाह १६ दिसम्बर, १६५८ को सम्पन्न हुआ ।''*[४३]

सुधाजी के साथ डॉ. शेषजी का दाम्पत्य जीवन रजनीगन्धा की तरह महें कने लगा । पति–पत्नी दोनों में विचार ऐक्य होने के कारण उनका दाम्पत्य जीवन जीवन–पर्यंत सुमधुर रहा । *''विवाह क्या है ? जीवन का आनन्द उठाने के लिए झिलमिलाते हुए दीपक में तेल डालना, उसे और तेज करना । अगर दीपक का प्रकाश तेज न हो, तो तेल डालने से क्या लाभ ?''*[४४] डॉ. शेषजी और सुधाजी गृहस्थी के सोपान चढ़कर धन्यता की अनुभूति ले रहे थे । जीवन का एक रिक्त कोना वैवाहिक आनन्द और आलोक से भर गया था ।

इसी स्वस्थगृहस्थ जीवनयात्रा के परिपाकरूप उन्हें तीन पुत्र रत्न – राजीव, संजय और बिन्दुमाधव की प्राप्ति हुई ।

डॉ. शेषजी नौकरी के कारण एवं स्वतन्त्र लेखन कार्य में हमेशा व्यस्त रहते । इन व्यस्त पलों में से भी वे बच्चों के साथ एवं पत्नी के साथ बैठने के लिए कुछ क्षण अवश्य खोज लेते । यूँ कहे कि उनका सदा आग्रह रहता । परिवार की देखभाल साहित्यिक सेवा करते हुए रखना भी वे बहुत आवश्यक मानते । उक्त विषय पर सुधाजी लिखती हैं, *''शंकरजी अपनी दुनिया में मस्त थे । बच्चे पढ़ाई ठीक कर रहे थे । स्वस्थ थे अतएव उस ओर से भी चिन्ता नहीं थी । काम से लौटते ही बीवी–बच्चें सामने रहें यह शंकर का आग्रह हुआ करता ।''*[४५]

जिन्दगी के मध्यकाल में डॉ. शेषजी के परिवार की स्थिति आर्थिक संकट से डगमगाने लगी थी । सुधाजी ने काल्पनिक बीमारियों से छुटकारा पाने के लिए नौकरी का विचार कर लिया था । चूंकि वह खूब समझती थीं कि उसका नौकरी करना *''शंकरजी को पसन्द नहीं था और जो शंकरजी को पसन्द नहीं वह करने की उसकी हिम्मत नहीं थी ।''*[४६] वे पत्नी को नौकरी कराने के कभी पक्षधर नहीं रहे । शेष खानदान की सोच इस विषय में लगभग समान थी । उन्हें लगता था कि नौकरी करने के बाद सुधाजी उन्हें और बच्चों को समय नहीं दे पाएगी । परन्तु विवाह के दसवर्ष बाद *''उनकी राय बदल गई थी । वे हमेशा कहते तुम अपनी नौकरी मत छोड़ना ।''*[४७] अपने दोनों पुत्रों *''राजीव और संजय के सम्बन्ध उनसे मित्रवत् रहे । पर पिता के रूप में आदर भी रहा । किसी तरह का समझौता वे नहीं कर पाते ।*[४८]

पति दिल का मरीज है, इस तथ्य से अवगत होकर भी सुधाजी डॉ. शेषजी को इसकी विस्मृति कराने के लिए अत्यन्त ख्याल रखती । डॉ. शेषजी लिखने में व्यस्त हो तब रात के दो बजे भी चाय का प्याला थामे सेवा में तत्पर वत्सला–पत्नी को पाकर वे निहाल से हो जाते । वैसे सुधाजी खुद बहुत चुस्त और समझदार गृहिणी रही हैं । घर पर साहित्य की बड़ी–बड़ी हस्तियाँ पहुँच जातीं, जिनके स्वागत–सत्कार में सुधाजी लगी रहती थीं । शेष खानदान का यह पुश्तैनी आदर्श था ।

२३ साल का वैवाहिक जीवन गुजारकर डॉ. शेषजी सुधाजी का साथ छोड़कर भले ही इहलोक छोड़ गये, किन्तु पति–पत्नी के मधुर दाम्पत्य सम्बन्धों का जिक्र होता हो, तब वे अवश्य हमारे स्मृतिपट पर उभर आते हैं ।

✦ *व्यक्तित्व :*

''साहित्य का आडम्बर और उसका प्रदर्शन चाहे हमें जितना भी आकृष्ट कर लेता हो, लेकिन निखालिस व्यक्तित्व से ज्यादा आकर्षक कोई भी दूसरी चीज नहीं हो सकती .... ।''[४९]

'व्यक्तित्व' 'व्यक्ति' का भाववाचक रूप है, जिससे व्यक्ति के गुण, धर्म, कार्य, विचार, मान्यता, निजी जीवनदृष्टि का परिचय मिलता है । *''व्यक्ति का उसके गुण, धर्म, कार्य एवं व्यापार के कारण समाज में जो स्वरूप बनता है उसकी मुखर एवं अन्तःप्रवृत्तियों का जो प्रभाव निर्मित होता है, यही पूंजीभूत प्रभाव और स्वरूप व्यक्तित्व की संज्ञा में आता है ।''*[५०] डॉ. शंकरशेष के बाह्य व्यक्तित्व का खाका खींचते हुए उनके मित्र रज्जन त्रिवेदीजी लिखते हैं, *''दर्म्याना कद, छोटी-सी साइकिल में लपट कर बैठता, बैठते ही अपने मोटे फ्रेम के चश्मे को एडजस्त करने का अभिनय करता । खीसे में पेन है या नहीं, देख लेता वर्ना भाइयों का निगाहे-करम अपना काम कर जाता, ऐसी चीजों का भुल्लकड भी था, उसके खीसे से पैसे निकालकर भाई लोग सीताबर्डी के होटल में दोसे-सम्मोसे खाते और बाद को उसके पैसे उसे ही लौटाते तब राज खुलता कि आनन्द गौर आज ज्यादा खुश क्यों हैं ?... सिगरेट के धुएँ के छल्ले बनाना चाहता, पर लगातार धुआँ छोड़ने के कारण वहाँ चक्रवात बनने लगते । भोपाल में उसे सुना इन चक्रवातों के बीच से ज्यादा गुजरना पड़ा, वह अपने लिए खुद रास्ता बनाने में माहिर था, चक्रवातों को परास्तकर ही जाता ।''*[५१] *''बात-बात में हँसी का ठहाका ।''*[५२] बातचीत करते-करते यह भूल जाते कि वे अपरिचितों के बीच बैठे हैं । "शंकर का यह विशेष गुण था कि वह वार्तालाप और तर्कबुद्धि के द्वारा किसी को भी प्रभावित करता था । वह मिलनसार प्रकृति का व्यक्ति था ।''*[५३] *''सामूहिक कार्यक्रम गणपति और क्रिकेट मैच में उनका मन ज्यादा रमता ।''*[५४] वे एक जानदार व्यक्ति थे । तबियत से दोस्तपरस्त थे, मित्रों के बीच रहनेवाले थे । आए-दिन बैठकें होती रहती थीं । डॉ. शेषजी की उपस्थिति मात्र से माहौल खिल उठता । *''वैसे भी मजाक करने की उनकी आदत थी ।''*[५५] सुधाजी के कथनानुसार, *''उनके प्रतिभाशाली होने का प्रमाण तो मुझे कक्षा में मिल ही चुका था । लेकिन उनका सरल... सीधा स्वभाव सबको प्रोत्साहित करने की भूमिका मुझे और मेरे परिवार को बहुत ही प्रभावित करती ।''*[५६] *''भारी सी आवाज''*[५७], *''बलिष्ठ*

बाँहें''[४८] और रफतार से फर्लांग भरती उनकी काया शेषजी की खास पहचान बन गई थीं ।

डॉ. शेषजी को अपनी कुलीनता पर बड़ा नाज था और उसे निभाना भी वे अच्छी तरह जानते थे । सुधाजी खुद डॉ. शेषजी की सच्चरित्रता एवं संस्कारिता से प्रभावित थीं । वह लिखती हैं, *''शेषजी बड़े संस्कारी थे । में उनकी भावी पत्नी थी । हम दोनों घूम रहे थे । किसी का प्रत्यक्ष अंकुश नहीं था, पर उनका व्यवहार अत्यन्त संयत, कहीं कोई छिछोरापन, गन्दामजाक नहीं । हर बात एक समझदार प्रौढ़ व्यक्ति की तरह ।''*[४९] वे अपनी दुनिया में ही मस्त रहते । तबियत की चिन्ता न करते । *''घूमना तो उन्हें पसन्द नहीं था । जोगिंग करते ।''*[५०] चाय और सिगरेट के वे बड़े शौकीन रहे । *''ये दोनों चीजें उन्हें बड़ी प्रिय थीं ।''*[५१] आवश्यकता होने पर ये दोनों चीजें उन्हें मिल जाती तो वे निहाल से हो जाते । यदा–कदा वे मूड में आ जाते तो जिन (दारू) भी पीना पसन्द करते थे । उस वक्त हाथ में गोलियाँ थामें खड़ी पत्नी को भी साफ कह देते, *''क्या गोली खिलाती हो, जितने दिन जीना है तो उतने दिन मौज–मस्ती से जी लो, मुझे जीने दो ।''*[५२] भाग–दौड और तबादले से परेशान होकर भी *''डॉ. शेष का मन अदम्य उत्साह, वाणी उद्‌बोधक ओजस और लेखनी अपराजेय ऊर्जा से परिप्लुत थी । वह सबको साथ लेकर चलने की कला में निपुण थे । आगतों पर अपना प्रभाव छोड़ना, यथा सम्भव सबकी सहायता करना और हर ठौर अपनेपन के निश्छल वातावरण का निर्माण करना उनके स्वभाव का गुण था । इन सब बातों ने उन्हें प्रदेशभर में लोकप्रियता प्रदान की थी ।''*[५३] यद्यपि उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता और उपलब्धि पर ईर्ष्या से अभिभूत होकर बेवजह आलोचना करनेवाले हितशत्रुओं की संख्या भी कम न थीं । *''वह अपनी आलोचना बर्दाश्त नहीं करता था । अपने पर कही बात में वह व्यक्तिगत आक्षेप की बात ही ज्यादा कहता और मानता था ।''*[५४] रक्त के उबलने के कारण चेहरे की मुद्रा क्रोधाविष्ट हो जाती । भले ही *''वह इन बातों का प्रकट कोई विरोध नहीं करता था, पर उसके नथुने फडकने लगते, नाक पर खिसक आया चश्मा झटके से ऊपर भेजा*

जाने लगता, उल्टे बालों में अकारण चलती अँगुलियाँ मानों विरोध की जड़ खोजना चाहतीं और मन मसोस कर वे ऐश ट्रे में रखी सिगरेट पर जम जातीं । कभी–कभी तो दब गई सिगरेट को इधर–उधर देखकर उठा लेता और जोर–जोर से कश लेने लगता । उसके ओंठ सूख जाते । ओठों की लकीरें इस बीच साफ दिखने लगतीं, चश्मे से बाहर छलाँग लगाने को आँखें बेताब होने लगतीं, सिर रह–रहकर झटका अपने आप खाने लगता । माथे पर खिंचती लकीरें झंझावात में फँसी नाव–सी बेचैन हैं । गालों पर सुर्खी गाढ़ी होने लगती, सिगरेट के टोंटे को कभी–कभी वह ट्रे में जोर से मसल देता । वह विरोध प्रकट रूप में बहुत कुछ काम करता ।''[६२]

अपनी कड़ी मेहनत, कर्तव्यनिष्ठा, सेवाभाव, त्याग, ईमानदारी तथा लोगों से घुल–मिल जाने की मानवोचित्त प्रवृत्तियों के कारण डॉ. शेषजी परिचितों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे । यद्यपि ऐसे महिमामण्डित व्यक्तित्व से सम्पन्न डॉ. शेषजी के जीवनगत विभिन्न पहलुओं पर व्यवस्थित रूप से चिन्तन करने की आवश्यकता है ।

(१) कर्मठता :

कर्मठता एक ऐसा मानवीय गुण है जो व्यक्ति को सामान्य कोटि से विशेष कोटि में ले जाता है । बड़ी–बड़ी प्रतिभाएँ कर्मठता की नींव पर खड़ी होती हैं और आकार ग्रहण करती हैं । अपने आपको किसी कार्य की परिपूर्ति हेतु सतत क्रियान्वित रखना, थक जायें तो भी उम्मीद का लेशमात्र कम न होना विशिष्ट ही तो कहा जाएगा । डॉ. शंकर शेष कर्मठता की जीती–जागती मिशाल थे । उनकी सभी उपलब्धियों के पीछे अनवरत परिश्रम कारणभूत है । जैसे कि उन्होंने ''उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि च मनोरथैः ।'' उक्ति को अपने जीवन में चरितार्थ किया हो । चुनौतीपूर्ण कार्य को कर दिखाने की तमन्ना सदैव उनमें रममाण रहती थी । *''कॉमेडी लिखना जैसे शेष के बस की बात नहीं थी, जबकि पारस जमकर जोक्समारा करता और अच्छे–अच्छों को उखाड़ देता और खुद भी खिलखिलाने में शरीक हो जाता । कॉमेडी शेष के*

लिए कठिन थी । फिर भी बन्दे ने लिखा । वह जरा–सी भी अस्वीकार की बात चुनौती में ले लेता था, रचनाकार का ईगो उसे उकसाने लगता, लेखकीय ऊर्जा उसमें शुरू ही से काफी थी । वह कहता, मुफ़्त की बड़ी–बड़ी बातें करने से क्या फायदा रज्जन, कुछ करके बताना चाहिए । और वह करके बता देता ।.... कॉमेडी उसकी इसी चुनौती की यादगार है ।''[६६]

वे अपनी भीतरी शक्तियों के प्रकाशनार्थ हमेशा सक्रिय रहें । इतना ही नहीं अन्य को भी इसके लिए प्रेरित करते रहें । इस कथन को आधार प्रदान करते हुए उनके भाई गोपालशेषजी कहते हैं, *''में फिल्म देखकर लौटा तो घर के बदले हुए माहौल को देखकर मैं समझ गया कि शायद शंकर भैया आ गए हैं । मैं सहमा–सा घर में गया । जाते ही उन्होंने मुझसे कहा, 'देख आए फिल्म? कौन सी बार गए थे ? क्या जीवन भर दिलीपकुमार–मीनाकुमारी को देखते रहोगे या जीवन में कुछ करोगे भी ।' मेरे बी.ए. में थर्ड क्लास आने की बात उन्हें पता लग गई थी । बोले, 'बी. ए. में तो थर्ड क्लास आए हो, कम से कम एम.ए. में डिवीझन बना लो तो कैरियर बन जाएगा ।''*[६७]

निठल्ला बैठे रहना उनके लिए जैसे अपनी आत्मा का अपमान करने तुल्य था । वे कभी निठल्ला बैठना पसन्द नहीं करते थे । या तो कलम हाथ में ग्रही होती थी या फिर पुस्तक । अकर्मण्य बैठे रहने के क्षण उनके जीवन में आए ही नहीं । अत्यन्त व्यस्त क्षणों में भी वे दोनों दायित्वों को बखूबी निभा रहे थे – नौकरी का एवं लेखन का । *''सरकारी नौकरी में लगनेवाले समय के बावजूद एक नियमित लेखन के कारण वे अधिक लिख सके हैं, और उसी के अनुपात में गुणात्मक भी ।''*[६८]

पूर्व निर्धारित कार्य से अलग हटकर फिजूल लेखन–वाचन डॉ. शेषजी जरा भी पसन्द न करते थे, बल्कि उसे समय बरबाद करना समझते थे । उनका मानना था कि इसमें विकास की कोई दिशा निश्चित नहीं होती । एम.ए. की परीक्षा देकर और गृहस्थी की एकरसता से उबकर पत्नी श्रीमती सुधाजी को फालतू मैग्जीन पढ़ते देखकर वे विचलित हो जाते थे । डॉ. सुनीलकुमार लवटे ने इस बात को स्मृतिपट पर लाते हुए रूपायित किया है,

''... परीक्षा और गृहस्थी से उबकर वह मासिक पत्रिकाएँ पढ़ा करती थीं । डॉक्टर साहब ने देखा तो हैरान हो गये । उन्होंने तुरन्त अपने मित्र डॉ. प्रभात को फोन किया, 'अरे भाई ! तुम्हारी भाभी घर बैठे फालतू मैग्जीन पढ़कर समय बरबाद कर रही है । उसे पी.एच.डी. के लिए कुछ विषय दे दो ।''[९६] वस्तुतःयह कहने में वचन दरिद्रता नहीं रखनी चाहिए कि, *''रचनाकार शेष और शेष ही क्यों अन्य रचनाकार भी श्रमसे ही प्रतिभा की आलोक–वर्तिका प्रज्वलित करते हैं ।''*[९७]

अथाग प्रयत्नशीलता ने डॉ. शेषजी के आत्मप्रत्यय को प्रबल किया । निरवरोध लिखते रहने की शक्ति से वे ओत–प्रोत हो चुके थे । अपनी लेखिनी की शक्ति पर उन्हें दृढ विश्वास था । कभी–कभी कोई रचना लिखते–लिखते अधूरी रह जाती, काम आगे न बढ़ता देख वे जरूर विक्षुब्ध हो जाते । परन्तु निजी शक्ति से अवगत होने के कारण वे निराश न होते । उल्टे कहते थे, *''कब तक बन्द रहेंगे ये धोबी के कपाट, कभी तो खुलेंगे । मैं निराश नहीं हूँ । दस्तक में दम होगा तो साले भड से खुल जायेंगे ।''*[९९]

डॉ. शेषजी में कर्मठता एवं प्रयत्नशीलता एकरूप हो गई थीं । 'प्रयत्नो विधेयः प्रयत्नो विधेयः' (प्रयत्न करो, निरन्तर प्रयत्न करो) का आदर्श उन्होंने अपने जीवन में आत्मसात् किया था ।

(२) सहृदयी :

हृदय की विशालता डॉ. शंकर शेष का पुश्तैनी संस्कार था । वे जिन्दादिल आदमी थे । सभी के साथ मानवीयता से पेश आते थे । वे हमेशा खिलखिलाते रहते । उनकी प्रसन्नता का रहस्य उनकी विनोदप्रियता थी । अपने तक सीमित रहना तो जैसे उनके आदर्शों के प्रतिकूल था । घमण्ड तो उन्हें छू तक नहीं सका । उनके मित्र रज्जन त्रिवेदीजी के शब्दों में *''शेष को कभी कोई ईगोइस्ट नहीं कह सका, और वह था भी नहीं, झरने जैसा एकान्त में भी बहता रहता था । खिलखिलाता । उससे किसी को कष्ट हो ऐसा नहीं, प्रतिद्वन्द्विता भले ही रही हो । अपने में ही जीने का उसमें कोई हौसला या*

आदत नहीं थी, अगर ऐसा कुछ होता तो वह झरने जैसा क्यों बहता ? हर दोस्त खुश । अंजुरी–भर जल किसे काटता है, जरा–सा बतिया क्या लेते बाग–बाग हो जाते लोग ।''[१२] अपने यार–दोस्तों या परिवारजनों के साथ अक्सर उनकी बैठक होती रहती थी । और जब–तक बैठक में शेषजी की उपस्थिति रहती; बैठक कभी बोझिल नहीं बनती । आसपास का वातावरण भी खिल उठता । डॉ. प्रकाशजाधव इसके सम्बन्ध में लिखते हैं, *''डॉ. शंकरशेष अपने परिवारवालों से मित्र की तरह पेश आते थे । हँसी, मजाक ओर गपशप में भाग लेकर अपने घर के वातावरण को मुक्त और आनन्दी रखते थे ।''*[१३]

डॉ. शेषजी की सहृदयता लाजवाब थी कि वह जिनसे भी मिले, चाहे वो अपरिचित क्यों न हो, क्षणभर में उनसे घुल–मिलकर बातें करने लगते । अपरिचयात्मकता तत्क्षण खत्म हो जाती । *''अर्थात् घर में सबके साथ अच्छा सलूक रखते थे ।... आने जानेवाले हर व्यक्ति से घुल–मिलकर बातें किया करते थे । दूसरे को अपना बना लेने की कला उन्हें अवगत थी । इसी कारण जिस किसी के सम्पर्क में वे आते, वह उनका बन जाता था । अध्यापक होते हुए भी कॉलेज के छात्रों के साथ भ्रातृभाव रखते थे । वैसे ही प्रशासक के रूप में काम करते वक्त भी अपने कार्यालयीन कर्मचारियों के साथ भी वे भ्रातृभाव रखते थे ।''*[१४] शत्रुता तो उनमें नाममात्र की भी नहीं थी । *''वे अजातशत्रु इन्सान थे ।''*[१५]

सबके साथ स्नेहभाव, परोपकार, दया, उदारता, असहायों की रक्षा आदि मानवता के परिपोषक जीवन–आदर्शों से परिपूर्ण डॉ. शेषजी समादृत बने । वे अपनी सहृदयात्मकता के कारण अपने पराये की भावना से ऊँचे उठ चुके थे ।

(३) अध्ययनशीलता :

डॉ. शंकर शेष वाचनव्यासंगी थे, अक्षर–जगत के यात्री थे । पुस्तकों के प्रति गहरी दिलचस्पी शेषजी को बचपन से ही थी, जो कालान्तर में निरन्तर बढ़ती ही गई । पढ़ने का शौक उनका लाजवाब था । किसी भी चीज को उठाते, उससे यदि आत्मसन्तोष न मिलता तो बेचैन बन जाते । कानूनी एवं

तकनीकी भाषा के शब्द चयन और उसके प्रयोग से वे सन्तुष्ट नहीं थे । अतः *''उन्होंने अपने इस कार्य को अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए भाषाशास्त्र में एम.ए. करने की ठानी ।''*[१६] नयी–नयी किताबों को पढ़ने हेतु ग्रन्थालयों से ले आना या कहीं से खरीदलाना, उनमें डूब जाना, जैसे उनका नित्यक्रम बन गया था । डॉ. शेषजी में विराजित अतृप्त पाठक फिर भी तृप्त न होता । ज्ञान विज्ञान के शास्त्रों से लेकर पारम्परिक प्राचीन भारतीय वाङ्मय को पढ़ने की रुचि उनकी सविशेष होती थी । *''डॉ. शेष में अध्यापकवृत्ति सहजवृत्ति जैसी थी । वे ज्ञान–विज्ञान के प्रेमी थे । किताबों को बटोरना एक शौक था । सारी दुनिया से किताबों को खरीद लाते थे । महाभारत में वे गहरी दिलचस्पी लिया करते थे । 'एक और द्रोणाचार्य', 'कोमल गान्धार', 'धर्मक्षेत्रे–कुरुक्षेत्रे' जैसी रचनाएँ इसी का फल हैं । किताबों के उनके इस प्रेम ने तो गृहस्थी पर भी आक्रमण कर दिया था । तबादला होता तो गृहस्थी की अपेक्षा किताबों का बोझ ही अधिक रहता ।''*[१७]

इतिहास, पुराण, धर्मग्रन्थों, अध्यात्मग्रन्थों और शास्त्रग्रथों का परिशीलन इन सबसे परिपुष्ट और समृद्ध बने अपने आत्मसत्त्व का प्रयोग करने की सूझ, विषयाभिव्यक्ति को रसमय बनाने की कला, लोकरुचि की जानकारी इत्यादि से उनका कौशल्य बढ़ता गया ।

आखिरकार शेषजी साहित्यिक आत्मा थे । उन्हें साहित्यसेवी के रूप में अपना उत्तरदायित्व अदा करना था, जो गहरी अध्ययनशीलता, निरन्तर अभ्यास, चिन्तन–मनन, सर्जन और प्रयोग के जरिये सार्थक हो सकता था ।

(४) संवेदनशीलता :

साहित्यकार की संवेदना अन्य सबसे भिन्न होती है । वह गहरी जीवनदृष्टि का मालिक होता है । इसलिए वह सदैव खुले आंख–कान से देखता सुनता और आत्मविकास के माध्यम से महसूसत्ता और अभिव्यक्त करता है । यही उसकी साहित्यिक उपलब्धि होती है । एक दृष्टि से देखें तो यह मानवता के सन्निकट पाये जानेवाला मूल्य है । यह मानव के भावजगत् से

परिस्थितिवशात् निष्पन्न होती है । यह निर्विवाद सत्य है कि कवि या साहित्यकार सामान्य मानव की अपेक्षा अधिक संवेदनशील एवं भावुक होता है । डॉ. शंकर शेष इस कोटि में आते हैं । दूसरों के दुःख, दर्द और दुर्दशा को देखकर डॉ. शेषजी द्रवित हो जाया करते थे । जब कहीं, कभी कोई एसी हृदयद्रावक घटना देख लेते तो फिर उनका अन्तर्जगत झंकृत हो उठता । *''शंकरजी को लगभग महीने में बीस दिन तक आदिम विभागों का दौरा करना पड़ता । वहाँ की गरीबी, शोषण के किस्से सुनाते तो रोंगटे खड़े हो जाते । फिर सरकारी नौकरियों के दाँव–पेच, लोगों के बँधे हुए हफ्ते । कभी कुछ एक संवेदनशील हृदय पर अमिट छाप छोड़ता ।''*[७८] वन के अधिकारी और वहाँ के जमींदार भूमिहीन किसानों पर जो अत्याचार करते थे, शेषजी उसे देखकर विचलित हो जाते थे । *''आदिम जाति के लिए अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर मुक्त लेखक के रूप में लेखनकार्य की योजना को उन्होंने बहुत दिनों तक अपने मन में पाल रखा था ।''*[७९]

भावुक और सहृदयी–व्यवहार रखनेवाले डॉ. शेषजी अपने मित्रों पर अत्यन्त विश्वास करते । उन्हें अपना आत्मीय मान लेते । परन्तु कौन जानता है कि उनका ही साथी–साहित्यकार उनकी बढ़ती हुई ख्याति, प्रतिभा और तरक्की से जल–भुन रहा है और उनके विरुद्ध प्रपंच खेल रहा है । शेषजी को जब इस कटु यथार्थता का बोध होता है तो उन्हें प्रचण्ड आघात लगता है । वे हतप्रभ रह गए । उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि उनका आत्मीय मित्र उनके लिए आस्तीन का साँप बन उन्हें डँस रहा है । इन सब गतिविधियों के परिणाम स्वरूप उनका मन क्षुब्ध हो गया सुधाजी इसे रेखांकित करती हुई कहती है कि इस *''अन्याय से मन क्षुब्ध हो गया । मानव सम्बन्धी, मानव मूल्यों के प्रति सशंक हो गया । सारी आस्थाएँ ढह गई ।... राजा विक्रमादित्य की कथा पर हम दोनों को पहली बार विश्वास हुआ ।''*[८०]

(५) उदारमतवादी :

डॉ. शेषजी स्वभाव से उदारमतवादी थे । वे किसी बात को लेकर दूराग्रही कभी नहीं बने । उनके सरल व्यक्तित्व का परिचायक उनकी उदारमतवादी दृष्टि भी है । ज्ञान–विज्ञान के आलोक में उन्होंने उदारमतवादी रहना जैसे सीख लिया था । या यूँ कहे कि यह उनका स्वाभाविक गुण बन चुका था । अक्सर देखा गया है कि किसी रचनाकार की कृति में कभी कोई शब्द भी अपनी अनुकूलता को लक्षित करके परिवर्तित या आगे–पीछे नहीं कर सकता । भले ही उसके उद्देश्य पर कोई बुरा प्रभाव न पड़ता हो । डॉ. शंकरशेष इस तथ्य को लेकर कभी भी दूराग्रही नहीं बने हैं । उन्होंने अपने नाटकों के सभी निर्देशकों को नाटक में यथोचित सुधार के हक प्रदान कर दिये थे । वे रंगमंचीय कठिनाइयों से सुपरिचित थे । अपना राग अलापने से काम बनता नहीं बिगडता है । अतः उन्होंने तमाम छूटें दे रखी थीं । उनके ही शब्दों में : *''मैं मानता हूँ कि नाटक साहित्य की एकमात्र ऐसी विधा है, जिसमें रचना का जन्म दो बार होता है । नाटक का पहला जन्म होता है लेखन के स्तर पर । इसके बाद लेखक गौण जीव होता है । मंचन के साथ नाटक का दूसरा जन्म होता है और तभी नाटक को सम्पूर्णता मिलती है । मैं निर्देशक को खुली छूट देनेके पक्ष में हूँ । जन्मदाता को हक है कि वह अपनी सृष्टि को जैसा रूप देता चाहता है, बिना किसी रोक–टोक के दे ।''*[१] परन्तु इसका मतलब यह हरगिज नहीं होता कि निर्देशक उस रचना के साथ मनमानी करके उसमें आमूलचूल परिवर्तन करके रख दे । और रचयिता की रचना की आत्मा ही मर जाये । ऐसे अवसरों पर वे लाल आँखें भी करते हैं । *''यदि लेखक को लगता है कि वह भ्रष्ट हो रहा है या अपने विवेक को मारकर कहानी में परिवर्तन कर रहा है तो उसे ऐसा नहीं करना चाहिए । ... लेकिन मैं अपने बारे में कह सकता हूँ कि भ्रष्ट करके अगर कोई मुझसे कुछ लिखवाना चाहेगा तो मैं स्वीकार नहीं करूँगा ।''*[२]

'घरौंदा' नाटक का मराठी भाषा में अनुवाद कर निर्देशन की इच्छा हेतु मंचित करने की श्री प्रसन्न कुलकर्णी ने उनसे अनुमति मांगी तब शेषजी ने

उन्हें उत्तर देते हुए कहा, *''अरे भाई ! नाटक अब तुम्हारा है । समूचा बदल डालेंगे तो भी मुझे कोई एतराज नहीं, शर्त सिर्फ इतनी है कि वह नाटक होना चाहिए । और मूल कथ्य को ठेस नहीं पहुँचनी चाहिए ।''*[३]

अनिल शर्मा कालेले डॉ. शेषजी की उदारमतवादी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर 'स्मृति–चित्र' में लिखते हैं, *'' 'फन्दी' नाटक मुझे मराठी में करना था । 'यूथनेशिया' या 'मर्सीकिलिंग' पर आधारित सिर्फ दो मुख्य पात्र और एक गौण पात्र कुल मिलाकर तीन पात्रों का तीन अंकीय नाटक । स्त्री पात्र रहित होते हुए भी दर्शकों को बाँधकर रखनेवाला 'फन्दी' नाटक मुझे मराठी मंच पर लाना था । मैं बम्बई खुद के काम से गया था ।... मेरे कुछ कहने से पहले बैंक में लंच तय भी हो गया और सहजता से डॉ. शंकरशेष ने 'फन्दी' के अनुवाद एवं मंचन आदि के अधिकार मुझे दे दिए ।''*[४]

अपनी रचना–सृष्टि में अन्य व्यक्ति को हस्तक्षेप करके आवश्यक सुधार की स्वतन्त्रता एवं मंचन के अधिकार देनेवाले रचनाकारों में डॉ. शंकरशेष सचमुच निराले कहे जाएँगे ।

(६) नाटक का भविष्य :

नाटक का भविष्य क्या ? यह समस्या हर विबुध नाट्यकारों को चिन्तित करती है । नाटक की सार्थकता उसके दृष्टव्य पर निर्भर है । अतः दर्शकों से इसका सम्बन्ध सीधा जुड़ जाता है । हिन्दी रंगमंच पर यह आरोप लगाया गया है कि वह एक विशिष्ट वर्ग के लिए होता है । पढ़े–लिखे सुशिक्षित व्यक्ति ही नाटक देखने जाया करते हैं । यह मान्यता ने हिन्दी नाटक के भविष्य को जबर्दस्त सदमा पहुँचाया है । डॉ. शेषजी इस मान्यता से ज्यादा चिन्तित रहा करते थे । वे हिन्दी रंगमंच परम्परा को समृद्ध देखना चाहते थे । हालांकि वस्तुस्थिति का जायजा लेने पर उन्हें पता चला कि समय बचापाने की समस्या और अर्थसंकट, ये दो घटक तत्त्वों के कारण समर्थ हिन्दी नाटक मंच पर दम तोड़ जाता था । उच्चवर्ग के पास पैसा होता था पर समय–संकट रहता था । जबकि निम्नवर्ग के सामने आनेवाले कल की विराट समस्या होती थी ।

मध्यमवर्ग मनोरंजन के पीछे पैसे खर्च करना अनुचित समझता था । वह कमसेकम पैसे खर्च करके महत्तम आनन्द प्राप्त करने के लिए सिनेमा के द्वार खटखटाता था । इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए वे बताते हैं कि, *''हिन्दी नाटक का दर्शक आज भी उच्च–मध्यमवर्ग से आता है । उच्चवर्ग के पास अन्य गतिविधियों से समय बचाने की समस्या है और निम्नवर्ग के सामने रोटी की चढ़ाई एवरेस्ट की तरह है । मध्यमवर्ग नाटक का टिकट फिजूल खर्ची मानता है । इस स्थिति को लगातार नाटक करके ही बदला जा सकता है । अच्छा नाटक करते रहो । दर्शक आयेगा । संस्कारित होगा । यह यात्रा महीनों–सालों की नहीं, पीढ़ियों की होती है ।''*[६५]

(७) नाट्य लेखन में अनुरक्ति :

''नाटककार डॉ शंकरशेष के शरीर में नाटक जैसे रक्त में प्रवाहित था । नाटक ही जीवन, नाटक ही चिन्तन, नाटक ही ध्येय और नाटक ही उनका लक्ष्य था । अर्जुन को लक्ष्यवेध के लिए जिस प्रकार केवल चिड़िया की आँख का बोध होता था, डॉ. शंकर शेष को वर्तमान समय में उत्पन्न विसंगतियों और उनकी विभीषिकाओं से झुलसे मानव के अन्तर्गत छिपे–पड़े अनेक अनुभूत सत्यों को उजागर करने के लिए नाटक और सिर्फ नाटक ही दिखाई देता था ।''[६६] जब तक लेखनकार्य का सवाल है, शेषजी नाटक लिखना ही पसन्द करते थे । लिखते तो वे बचपन से थे, पर कविता, कहानी, निबन्ध, उपन्यास इत्यादि साहित्यिक स्वरूपों की अपेक्षा नाटक से ज्यादा प्रभावित थे । अपनी कलम पर उन्हें अत्यन्त विश्वास था । एकबार कुण्डली मारकर बैठ जाते तो घंटो उठने का नाम न लेते । पंरतु हाँ, लिखने की भी उमर होती है, जो वे अपने निर्देशक मित्रों से कहा करते थे, *''नन्दनजी, जो लिखवाना हो लिखवा लो, कौन जानता है शेष फिर मिले न मिले ।''*[६७] *''लिखने की उमर ज्यादा नहीं रहा करती ।''*[६८]

रेडियो, दूरदर्शन, फिल्मवालों से उनका नित्य का घरोबा था । उन्होंने सभी की माँग को सन्तोषा है । रेडियो एवं दूरदर्शन के लिए उन्होंने नाटक

लिखे तो फिल्म के लिए पटकथाएँ लिखी हैं । पर यह सत्य है कि वे इन सभी माध्यमों की तुलना में रंगमंच के लिए नाटक लेखन को प्रधानता देते थे । उनके शब्दों में *''मैं रंगमंच के लिए नाट्य लेखन को प्राथमिकता दूँगा ।... न जाने क्यों मुझे लगता हे कि मेरे जीवन का सर्वश्रेष्ठ नाटक रंगमंच के लिए होगा ।''*[६९]

उनके मन की एक साध थी कि एक कालजयी नाट्य रचना की जाए । जिस प्रकार महाकवि कालिदास 'शाकुन्तलम्' की सर्जना कर समग्र विश्व के नाट्य परिवेश में अमर हो गये, शेष जी अपनी कलम से उत्कृष्ट, सर्वोत्तम नाट्य रचना करने के लिए अविरत प्रयत्नशील रहें । जो उन्हें आत्मसुख दे सके, उनका मनः समाधान कर सके, जिस पर वे गौरव और गर्व की अनुभूति ले सके । इस बात की पुष्टि करते हुए वे कहते हैं, *''अपनी दृष्टि में श्रेष्ठ ऐसा नाटक जो मुझे आत्मसुख दे सके, मैं अभी तक नहीं लिख पाया हूँ । अब–तक लिखे गये नाटक एक अच्छे सार्थक नाटक की तलाश में लिखे गये नाटक हैं । अपना सर्वश्रेष्ठ नाटक मुझे अभी लिखना है ... ।''*[७०] यद्यपि उनकी ख्वाहिश अन्त तक पूरी नहीं हो सकी, किस्मत ने उन्हें साथ नहीं दिया । साहित्य जगत् को उत्तमोत्तम नाट्यकृति भेंट करने का मौका ही नियति ने उनसे छिन लिया । वे समय से पहले ही इहलोक से उठ गये ।

निःसन्देह डॉ. शंकरशेष को नाटक लिखने में बेहद आनन्द मिलता था । और वे बड़ी लगन के साथ नाटक लिखते थे । नाटक को छोड़कर उनका ध्यान अन्यत्र कभी नहीं गया । वे अनी रचना–प्रक्रिया के बारे में अक्सर कहते, *''नाटक लिखने से पहले मैं कल्पना–चक्षुओं से उसे पूरा देखता हूँ । कल्पना के भव्य मंच पर एक अकेले दर्शक के सम्मुख होते नाटक का जो सुख मुझे मिलता है वह वर्णनातीत है, इसलिए अन्य किसी विधा की ओर कभी ध्यान नहीं गया ।''*[७१]

विभिन्न विषयों एवं साहित्यिक प्रकारों से सुपरिचित होते हुए भी उन्होंने सविशेष नाट्य–प्रकार की उपासना की, जो उनके लिए रुचिप्रद था ।

(८) सहज स्वीकार :

डॉ. शंकरशेष जैसे निष्ठावान नाट्यकार में विनीतभाव के अभाव की कल्पना ही असम्भव है । सभी श्रेष्ठ पुरुष समस्त कलाओं में पारंगत होते हैं, यह मान्यता अतिरंजित है और फिर यह जरूरी भी नहीं कि श्रेष्ठ पुरुषों को सभी विधाओं में पारंगत होना ही चाहिए । अपवाद रूप कहीं कोई ऐसा दृष्टान्त दृश्यमान हो सकता है । अन्यथा जीवन का कोई क्षेत्र बिलकुल अछूता रह जाए तो आश्चर्य नहीं । जिसमें कौशल्य का यत्किंचित् अभाव रहा हो । अभिनय सम्बन्धी बातों को लेकर जब चर्चा होती है तो जहाँ तक डॉ. शेष के अध्यापकीय भाषण का सम्बन्ध है, उनके भाषण में कायिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य चारों प्रकार के अभिनय का समन्वय होता था । निश्चित रूप से उनके भाषण व मुद्राओं से श्रोता मन्त्रमुग्ध होते थे । पर जब नाटक में अभिनय करने की बात उठती थी, वे अपनी मर्यादा का सहज स्वीकार कर लेते थे ।

भगवान अहलानी के अभिनय सम्बन्धी पूछे गए प्रश्न के उत्तर में डॉ. शेष ने कहा था, *''१९६९ की बात है । मैं भोपाल में था । उन दिनों विनायक चासकर ने मेरा नाटक 'बिन बाती के दीप' उठाया था । मुझे भी नाटक में भूमिका दी गई । कैप्टेन आनन्द की भूमिका । दो दिन रिहर्सल हुई । फिर चासकर को लगा कि अगर शेष को कैप्टेन आनन्द बनाया तो और कुछ हो न हो, नाटक पिट जायेगा । तो लेखक की नाटक से छुट्टी हो गयी । इस घटना के बाद मुझे एहसास हुआ और मैंने नियति की तरह इसे स्वीकार भी किया कि अभिनय करना मेरे वश की बात नहीं है ।''*[६२] यही नहीं नाटक के विषय में कोई उन्हें सुझाव देतें तो वे बिना हिचकिचाहट के उसे स्वीकार कर लेते । उनके मित्र डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री शेषजी के ख्यातिप्राप्त नाटककार के रूप में हिन्दी के प्रथम कोटि के नाटककारों में सुप्रतिष्ठित हो जाने के बाद उन्हें दिये गये परामर्श वाले प्रसंग को उद्धृत करते हुए लिखते हैं, *''भोपाल में ही रहते उन्होंने 'एक और द्रोणाचार्य' लिखा । इसकी भी पाण्डुलिपि उन्होंने मुझे पढ़वायी थी । मैंने उन्हें कुछ सुझाव*

भी दिये थे जो उन्होंने मान्य किए ।''[३] वैसे आमतौर पर जिसे प्रतिष्ठा का चस्का लग जाता है वह किसी और का सुझाव मान्य नहीं करता है । क्योंकि उसका अहं तब तीक्ष्ण हो चुका होता है । अतः किसी और का अंगुलि निर्देश उससे बर्दाश्त नहीं होता । लेकिन डॉ. शेषजी ऐसी अहम्मन्यता के कभी शिकार नहीं हुए । नाटक में यदि परिवर्तन के लिए अवकाश हो तो वे बेहद सहयोग देते थे । निर्देशक भीमसेनजी ने उनकी सहयोगिता पर लिखा है, *''एक लेखक के रूप में मैंने शेष को बेहद सहयोगी पाया । जहाँ कहीं भी मीडियम के अनुसार या उसकी माँग पर कुछ परिवर्तन की बात आती थी तो वे तुरन्त तैयार हो जाते थे, उनकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह उस काम को जल्दी करते थे । और लेखकों की तरह नहीं कि, परिवर्तन के नाम से अपने अहम् पर चोट समझे और फिर दोबारा लिखने में बहुत अधिक समय लगा दें ।''*[४]

अपनी मर्यादाओं या सीमाओं की सहज–स्वीकृति कर लेना और उसे निःसंकोच दूसरों के सामने प्रकाशित करना डॉ. शंकरशेष की महनता की ही द्योतक है ।

(६) जीवन दृष्टि :

जीव जब से इस सृष्टि में साँसे भरने लगता है तब से लेकर मृत्यु पर्यंत उसके जीने की एक नैसर्गिक शैली होती है । जब वह बड़ा समझदार, सुसंस्कृत आदमी बनता है तब उसके जीने की सोचने की, दूसरों के सामने पेश होने की एक विशिष्ट शैली होती है, जो उसका जीवनाधार कहलाती है । इसी जीवन–दृष्टि को लेकर हम परस्पर एक–दूसरे की तुलना, आलोचना या मूल्यांकन करते रहते हैं । असल में एक मानव और दूसरे मानव में इतना तो बुनियादी फर्क रहेगा । साहित्यकार समाज के सामान्य लोगों से निराला होता है और समाज को तभी तो उससे कुछ अपेक्षाएँ होती हैं । किन्तु वह जब मर्कट के जैसी चेष्टाएँ करने लगता, तो शेषजी को बड़ा झटका लगता था । वे साहित्य की गम्भीरता न समझनेवाले लोगों के छिंछोरेपन को देख आक्रोश से

भर जाते । रज्जन त्रिवेदीजी के कथानुसार, *''वह लोकल कवि सम्मेलनों में जाने लगा था, सतही कविता और चुटकुलेबाज कवि और मंच–संचालकों पर तरस खाता और कहता, ये जनम भर शब्द से, अर्थ से दोस्ती नहीं कर सकें गे, येसब बिकनेवाले हैं, ठीहे ढूँढा करते हैं, कविता का इनसे क्या वास्ता ? तूं देखना ये लोग एकदिन दूल्हे की गोद में उछलकर बैठने का कमाल दिखाने लगेंगे और बलैया लेंगे, उस समय बृहन्नला के वंश का क्या होगा ?''*[६५]

डॉ. शेषजी मूल्यों के जतन करने के पक्षपाती थे । मूल्यहीन मानवजात की कल्पना भी जैसे उनके लिए असह्य हो उठती । वे नये मुल्यों की तलाश में आधुनिकता को भी साथ लेकर चले हैं । परिवेश व्यापी अनैतिकता और मिथ्याचारी प्रवृत्तियों का घिनौना रूप सामने रखकर शेषजी एक ओर हमें सही मूल्यों की तलाश के लिए प्रेरित करते हैं, तो दूसरी ओर बर्बर, मिथ्याडम्बरी अनैतिकता की शक्ल दर्पण में दिखाते हैं । मूल्यों के प्रति असीम आस्था के कारण ही तो वे अपनी सुखासीनता के लिए आदर्शों से गिरना कभी पसन्द नहीं करते थे, जिससे कि उनकी आत्मा तिल–तिल जलती रहे । ऐसे वक्त वे समझौते के लिए कभी प्रतिबद्ध नहीं बने । क्योंकि, *''समझौते से सुविधाएँ मिल सकती हैं, ऊँचाइयाँ नहीं ।''*[६६]

सामान्य मानव की दैनिक पीड़ा, घुटन, सन्त्रास जैसी विडम्बना, तिल–तिल जलानेवाली आर्थिक परवशता, निरीह और भोले–भाले लोगों पर हो रहे बेसुमार अत्याचारों को देख उनकी मानवीयता आँसू सारने लगती । वे इनका हरदम उपाय खोजते रहते थी । उनका कहना था कि, *''किसी व्यवस्था को बदलने के लिए कुर्बानी देनी पड़ती है ।''*[६७] फिर भी हमारी व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियाँ, मूल्यहीनता, जडनिष्क्रियता सत्ताधीशों के प्रपंच, षड्यन्त्रों, अधिनायकवादीवृत्ति, जातिगत संकीर्णता, अवसरवादिता, सम्बन्धों की सडान्धता एवं कृत्रिमता को झेलते हुए भी कहना पड़ेगा कि वे गहराई से बड़े आस्थावान बने रहें । निराशा से आवृत्त होकर म्लान न पड़े । अदम्य जिजीविषा उनके प्रत्येक क्रिया–कलापों से स्रवित होती रहती थी । पुरुषार्थ उनके व्यक्तित्व का प्रधान गुण बन गया था । तथा वे जीवन में चुनौती का स्थान बड़ी से बड़ी

उपलब्धि के लिए निर्विवाद रूप से अनिवार्य समझते थे । वे कहा करते, *''जब–तक मनुष्य में कोई बर्निंग डिजायर न हो तब तक वह कुछ नहीं कर सकता ।''*[९८]

विशद जीवन–व्यापी दृष्टि के कारण डॉ. शेष समकालीन नाट्यकारों में विशेष सामदृत रहे हैं । उनका जीवन दर्शन आनेवाली पीढ़ी के लिए बहुत बड़ी मिशाल बना रहेगा ।

✦ सम्मान और उपलब्धियाँ :

डॉ. शेषजी के पिता श्री नागोरावजी उनकी साहित्य के प्रति लगन, परिश्रम, पैनी दृष्टि आदि को लेकर कहा करते थे कि, *''शंकर दुनिया में बहुत नाम कमाएगा और अपने घराने का यश बढाएगा ।''*[९९] और उन्होंने वैसा ही करके दिखाया । मूलतः डॉ. शेषजी अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि थे । समय–समय पर मिलनेवाले मान–सम्मान, पुरस्कारादि तो उनका अतिरिक्त शृंगार था । इनके अभाव में भी उनके व्यक्तित्व में जरा भी आँच न आती । ''बम्बई में 'घरौंदा' फिल्म रिलीज हो जाने के बाद उसे सम्मान मिलने लगा, नाटकों ने भी शोहरत बढ़ाई, वह कहीं भी अपनी रचनात्मकता के प्रति आश्वस्त था । कभी भी किसी की कठपुतली बनने की स्थिति में वह नहीं आया । वह कठपुतलियों के हश्र को अच्छी तरह पहचानता था । जीवन के सम्मानित क्षणों में भी उसमें ईगो नहीं था वरन् उसमें इस ईगो ने लिखने का विश्वास जगाया ।''[१००] जब–तक साँस चलती रही तब–तक उन्होंने साहित्य–सर्जन किया, परन्तु ख्याति प्राप्ति वाली मान्यता से प्रेरित होकर नहीं । पद–पदक और पुरस्कारों से डॉ. शेष का महत्त्व बढ़ा हो या नहीं, किन्तु शेषजी को शोभायमान बनाने के प्रयास में इन पद–पदक और पुरस्कारों का गौरव जरूर बढ़ा है ।

'सबसे अन्त में और सबसे पहले' – आलेख के अन्तर्गत डॉ. विनय लिखते हैं, *''१९७० में 'बिन बाती के दीप' नाटक से उनका नाट्य लेखन पुनर्जीवित हुआ, जो चार वर्षों की कालावधि में गतिशील रहा । अर्थात् १९७४*

तक आठ–नौ नाटक लिखे गए जिनमें 'बाढ का पानी' और 'चन्दन के दीप' तथा 'बन्धन अपने–अपने' मध्यप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हुए । इन नाटकों का विभिन्न संस्थाओं ने मंचन किया, साथ ही आकाशवाणी भोपाल से अधिकांश नाटक प्रसारित भी हुए । 'खजुराहो का शिल्पी' का राष्ट्रीय प्रसारण भी हुआ था । उनके 'मराठी शिक्षण पाठ', जो आकाशवाणी से प्रसारित हुए थे, भी लोकप्रिय हुए । 'अभिशप्त गान्धार' एवं 'त्रिभुज का चौथा कोण' का प्रसारण बहुचर्चित रहा । ब.व. कारन्त के निर्देशन में आयोजित कार्यशाला के समापन के समय 'एक और द्रोणाचार्य' का मंचन भी काफी काल तक जन–मन पर छाया रहा । मध्यप्रदेश शासन से डॉ. शंकरशेष को 'बाढ का पानीः चन्दन के दीप' पर सात हजार रुपये तथा 'बन्धन अपने–अपने' पर ग्यारह सौ रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ ।''[१०१]

''डॉ. शंकरशेष के नाटकों का बम्बई में भी बड़ा जोरदार स्वागत हुआ । उनका एक नाटक 'अनिकेत', 'घरौंदा' के नाम से प्रकाशित हुआ है । 'घरौंदा' नाटक की कथावस्तु पर श्री भीमसेन के निर्देशन में फिल्म बनी है ।''[१०२] उनके *''आलेख 'दूरियाँ' को फिल्मफेयर पुरस्कार प्राप्त हुआ है । इसके साथ ही उनके 'घरौंदा' तथा 'दूरियाँ' फिल्मों के लिए आशीर्वाद पुरस्कार भी मिल चुका है । व्ही. शान्ताराम 'खजुराहो का शिल्पी' नाटक के आधार पर 'खजुराहो का सपना' नाम से फिल्म की योजना बना चुके हैं ।''*[१०३] *''महाराष्ट्र की कीर्तन शैली का आधार ग्रहण करनेवाली उनकी नाट्यकृति 'पोस्टर' पर भी आर. के. विमल के निर्देशन में फिल्म बन चुकी है । गोविन्द निहलानी की फिल्म 'आक्रोश' के कुछ दृश्य जो सत्यदेव दुबे से नहीं लिखे जा रहे थे शंकरशेष की जादुई कलम से ही निकले थे ।''*[१०४]

विशेषतः उनको प्रसिद्धि विभिन्न संस्थाओं द्वारा मंचित उनके नाटकों से मिली । जिनमें 'मूर्तिकार', 'बाढ का पानी', 'एक और द्रोणाचार्य', बन्धन अपने–अपने', 'खजुराहो का शिल्पी', 'त्रिभुज का चौथा कोण', 'रक्तबीज', 'चेहरे', 'आधी रात के बाद', 'बन्दी', 'घरौंदा', 'बिन बाती के दीप', 'पोस्टर' आदि उल्लेखनीय नाटक हैं ।

पण्डित सत्यदेव दुबे, अरविन्द देशपाण्डे, हरिआत्मा, वीरेन्द्र शर्मा, श्याम बेनेगल जैसे अनुभवी और नामी–गरामी रंगकर्मी निर्देशकों को स्वप्रतिभा से आकृष्ट करना और उनसे मित्रता बनाये रखना ही डॉ. शेष की चरम उपलब्धि कही जाएगी ।

✦ महाप्रयाण :

प्रकृति का सान्निध्य शेषजी को बड़ा प्यारा लगता था । अवकाश के दिनों में वे अक्सर नैसर्गिक एवं रमणीय स्थलों की यात्रा करते रहते । उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को बल देने में प्राकृतिक तत्त्वों का सविशेष योगदान रहा है । जीवन के संध्याकाल में वे प्रकृति के सान्निध्य का मोह नहीं छोड़ सके । हर साल की भाँति दीपावली की छुट्टियाँ मनाने वे सपरिवार कश्मीर गये थे । कुछ ही दिन पूर्व उन्होंने मूल मराठी लेखक श्री माधव साखरदाण्डे की रचना 'पंचतन्त्र' का छायानुवाद 'पंचतन्त्र' शीर्षक से किया था । जिन्दगी के उत्तरार्ध में वे हृदयरोग से पीड़ित रहे । इस रोग ने शेषजी का पीछा नहीं छोड़ा । कश्मीर की नैसर्गिक सुषमा का आनन्द उठाते–उठाते वे उस प्राणलेवा रोग के शिकार हो गये । हँसते–हँसते वे इहलोक से कैसे विदा हो गए, किसी को पता तक नहीं चला । श्रीमती सुधाशेष के शब्द स्मृति को ताजी करते हैं, *''मैं अन्दर आई तो शंकरजी बुरी तरह काँप रहे थे ।... मुझे एन्जीसीड नहीं मिल रही थी ।... शायद होनी के कारण ही नहीं मिली । डॉक्टर आए, बोले बहनजी भगवान को ही बुलाइए । मुझे तब भी नहीं लगा कि शंकर मुझे छोड़कर जा रहे हैं । मैंने उन्हें साँस देने की भरसक कोशिश की । डॉक्टर और अन्य लोग मूक दर्शक से खड़े थे । मेरी बाँहों से शंकर कब चले गए । पता भी नहीं लगा ।''*[१०५]

इस प्रकार हिन्दी साहित्य जगत का प्रसिद्ध रंगधर्मी नाटककार जगतरूपी रंगमंच पर से अपनी अविस्मरणीय भूमिका अदाकर २८ अक्टूबर, १९८१ को हमेशा के लिए अपने अनेक चाहकों के बीच से अन्तर्ध्यान हो गए । *''कौन*

जानता था होनी को । जीवन–भर उसे किसी ने शंकर नहीं कहा, वह सबके मन में शेष ही बना रहा, जीता रहा ।''[१०६]

✦ डॉ. शंकरशेष का साहित्यिक योगदान :

डॉ. शंकरशेष की सर्जक प्रतिभा का संचार केवल नाट्य–सर्जन तक ही सीमित न था । उनकी प्रतिभा तो प्रवाहमान महानद की तरह वाङ्मय के अनेक क्षेत्रों में संचरी है । सन् १९५५ से लेकर सन् १९८१ तक की साहित्य यात्रा में उन्होंने बाईस नाटक, सात एकांकी नाटक, दो बाल नाटक, चार अनूदित नाटक, चार उपन्यास, तीन अनुसन्धानात्मक प्रबन्ध, एक संकीर्ण, दो पटकथाएँ, एक पटकथा संवाद आदि का सर्जन कर हिन्दी साहित्य सम्पदा को समृद्ध करने में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है । अपनी साहित्य सेवा में उन्हों ने जीवन के यथार्थ को उद्घाटित किया है । *''इसलिए शेष का नाट्य–साहित्य किसी विचारधारा की सीमा में आबद्ध न होकर आज के जीवन की विरूपताओं के नंगेपन, जटिल, असंगत स्थितियों के दुहरेपन, अन्तर्विरोधों से युक्त जीवन को अनेक एँगलों से जाँचता–परखता है । यदि आज जीवन में आस्था–अनास्था का द्वंद्व है, नैराश्य और असुरक्षा की भावना की प्रबलता है, मृत्युबोध की अनुभूति है, आत्मनिर्वासन, ऊब–खीझ–क्षोभ बढ रहे हैं । विरोध एवं विद्रोह निरर्थक हो गए हैं और मनुष्य सन्त्रास, कुण्ठा, प्रवंचना, विघटन, अजनबीपन, विद्रूपता से आतंकित–सशंकित है, तो शेष के नाटक उसकी सही तस्वीर प्रस्तुत करते हैं ।''*[१०७]

प्रधानतः उनकी लेखनी नाट्य–रचना के प्रति ही प्रवृत्त रही । कदाचित् अपने समय के युग–सत्य को, समसामयिकता को सफल ढंग से अभिव्यंजित करनेके लिए उन्होंने नाट्यविधा के अतिरिक्त अन्य माध्यमों को सशक्त और सक्षम नहीं समझा होगा । या फिर नाटकविधा जैसी रमणीय विधा ने उनका मन मोहित कर रख दिया हो । जो भी कारण रहा हो, उन्होंने अपनी रचनाशीलता का अपूर्व परिचय देते हुए समर्थ नाटककारों की श्रेणी में समादृत

स्थान पाया है और रंगदेवता को एक से एक बेहतरीन नाटकों का अर्ध्य प्रदान किया है ।

डॉ. शंकरशेष की रचना–सृष्टि को हमने निम्नरूप से वर्गीकृत करके अंकित किया है ।

➢ *नाटक :*

१	मूर्तिकार	सन् १९५५
२	रत्नगर्भा	सन् १९५६
३	नई सभ्यता : नये नमूने	सन् १९५६
४	बेटोंवाला बाप	सन् १९५८ (अप्राप्त)
५	तिल का ताड	सन् १९५८
६	बिन बाती के दीप	सन् १९५८
७	बाढ का पानी	सन् १९६८
८	बन्धन अपने–अपने	सन् १९६९
९	खजुराहो का शिल्पी	सन् १९७०
१०	फन्दी	सन् १९७१
११	एक और द्रोणाचार्य	सन् १९७१
१२	कालजयी (मराठी)	सन् १९७३
१३	कालजयी (हिन्दी)	सन् १९७३
१४	घरौंदा	सन् १९७४
१५	अरे ! मायावी सरोवर	सन् १९७४
१६	रक्तबीज	सन् १९७६
१७	राक्षस	सन् १९७७
१८	पोस्टर	सन् १९७७
१९	चेहरे	सन् १९७८
२०	त्रिकोण का चौथा कोण	सन् १९७९ (अप्राप्त)
२१	कोमल गान्धार	सन् १९७९
२२	आधी रात के बाद	सन् १९८१

➢ एकांकी :

१	विवाह मण्डप	सन् १९५७
२	हिन्दी का भूत	सन् १९५८
३	त्रिभुज का चौणा कोण	सन् १९७१
४	एक प्याला कॉफी (अंग्रेजी प्ले)	सन् १९७९
५	अजायब घर, पुलिया, सोपकेस	सन् १९८१

➢ बाल नाटक :

१	दर्द का इलाज	सन् १९७३
२	मिठाई की चोरी	सन् १९७३

➢ अनूदित नाटक :

१	दूर के दीप	सन् १९५९
२	एक और गाँव	सन् १९७२
३	चल मेरे कद्दू ठुम्मक ठुम्मक	सन् १९७३
४	पंचतन्त्र और गार्बो	सन् १९८१

➢ उपन्यास :

१	तेन्दू के पत्ते	सन् १९५६ (अप्राप्त)
२	चेतना	सन् १९७१
३	खजुराहों की अलका	सन् १९७२
४	धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	सन् १९८० (अपूर्ण)

➢ अनुसन्धानात्मक प्रबन्ध :

१	हिन्दी और मराठी कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	सन् १९६१
२	छत्तीसगढी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	सन् १९६५
३	आदिम जाति शब्द–संग्रह एवं	सन् १९६७

	भाषाशास्त्रीय अध्ययन	

➢ *पटकथाः संवाद*

१	घरौंदा	सन् १९७८
२	दूरियाँ	सन् १९७९

✦ डॉ. शंकरशेष के नाटकों का संक्षिप्त परिचय :

डॉ. शेषजी रचित कुल बाईस नाटकों में से दो नाटक अप्राप्य है तथा एक ही प्रकार के कथावृत्त पर आधारित 'कालजयी' नाटक मराठी एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में उपलब्ध है । इनमें से हमने अपने आलोच्य विषय के अन्तर्गत 'कालजयी' हिन्दी नाट्य रचना की ही गणना की है । अतः कुल मिलाकर उनके कुल उन्नीस (१९) नाटकों के आधार पर संशोधन कार्य की रूपरेखा तैयार की है ।

इन नाटकों की संक्षिप्त परिचयात्मक किन्तु सार गर्भित कथावस्तु क्रमशःरूप से निम्नांकित है ।

(१) मूर्तिकार :

डॉ. शंकर शेष का सन् १९५५–५६ के काल में रचित 'मूर्तिकार' उनकी सबसे पहली नाट्यकृति है । यह तीन अंकी नाटक अपने मूल में एकांकी नाटक था, जो नागपुर मेडिकल कॉलेज के छात्रों की माँग पर लिखा गया था । प्रस्तुत नाटक में मध्यमवर्गीय आदर्शवादी कलाकार की आर्थिक विडम्बना से निर्मित संघर्ष गाथा को लेखक ने रूपायित किया है ।

'मूर्तिकार' नाटक का नायक शेखर मिट्टी की मूर्तियों को गढने में मशगूल एवं कला के जरिये *''मानवीय मुद्राओं की नयी व्याख्या''*[१०८] करने में दत्तचित्त एक सफल मूर्तिकार एवं चित्रकार है । वह कला का सच्चा उपासक है । कला के उच्चतम आदर्श–मूल्य उसमें जन्मजात रूप से पड़े हैं । अतः वह न तो अपनी *''कला का फालतू कामों के लिए''*[१०९] इस्तेमाल कर अर्थोपार्जन करता है, और न *''अपने चित्र और मूर्ति अरसिकों के हाथ''*[११०] बेचकर उसका

अपमान करना चाहता है । उसकी इसी आदर्श मान्यता के कारण–स्वरूप उसके घर की आर्थिक हालत अत्यन्त गम्भीर बन गई है । एक तो वह किराये के घर में पत्नी ललिता और बहन नीलू के साथ रहता है । घर के आर्थिक इन्तजाम पत्नी ललिता को ही करना पड़ता है । वह उसे अतिआदर्शवादीपन छोड़कर घर की हालत को सुधारने का सुझाव देती है । परन्तु उसे अर्थ संकट से उबरने के लिए वह कलादर्श के ऊँचे शिखर से गिरना और समझौता करना कदापि पसन्द नहीं । *''समझौते से सुविधाएँ मिल सकती हैं ऊँचाइयाँ नहीं ।''*[११] ललिता ऐसी हालत में पति कासाथ निभाती है । वह किराये के बदले में सेठ की अश्लील माँग को बार–बार ठुकराती रहती है । घोर विपन्न स्थिति में भी अपने चरित्र को निष्कलंक रखती है ।

शेखर का एक मित्र है, अनादि । परिस्थिति का मारा, क्रूर हालात से बेहद निराश । उसमें प्रतिभा है लेकिन वह अस्थायी अखबार का अस्थायी सह सम्पादक के अतिरिक्त कुछ नहीं बन पाता । उसे आदर्शों में लेशमात्र विश्वास नहीं है । वह शेखर की भावुकता का यथार्थ उत्तर देता है – *''भूखे पेट कला और सौन्दर्य की सब बातें फालतू हैं । इस भौतिकवादी दुनिया में पहले पैसा है और बाद में और सब कुछ ।''*[१२] ''यह भारत वर्ष है मेरे दोस्त यहाँ लोग साहित्यकार को पहले भूखा मारते हैं, बाद में उसका पुतला बनवाने के लिए हजारों रुपये चन्दा इकट्ठा करते हैं ।''[१३] उसे मध्यमवर्ग की बुजदिली से सख्त नफरत है । घोर वास्तविकता के बावजूद उसके पाषाण–हृदय में से प्रेम का निर्मल झरना नीलू के लिए अस्खलित बहता है । नीलू को शहर के लखपति के बेटे सतीश के मोहजाल से बचाने की लगातार कोशिश में वह असफल रहता है । सतीश जब नीलू को कुँवारी माता बनाकर ठुकरा देता है तो वह उसे उसी हालत में सबके सामने स्वीकार करके उसके माथे पर लगे कलंक को भी मिटा देता है । 'शन्तनुकुमार' के नाम से लिखे उपन्यासों 'व्यभिचार', 'वासना' और 'जलती जवानी' पर उसे ख्याति ही नहीं मिलती, धन भी मिलता है । वह शेखर के परिवार के लिए तारणहार बन जाता है ।

इसी बीच शेखर के चित्र 'मातृत्व की मौत' चित्र को अन्तराष्ट्रीय चित्र प्रदर्शनी में पाँच हजार पौण्ड का प्रथम पुरस्कार प्राप्त होता है । शेखर के परिवार में खुशियाँ लौटती है । नाटककार ने आदर्श की जीत को दिखाते हुए उसकी नींव डाली है ।

(२) रत्नगर्भा :

'रत्नगर्भा' नाटक का रचनाकाल सन् १९५६ का है । इस त्रिअंकी नाटक में डॉ. शंकरशेष ने पति–पत्नी के दाम्पत्य जीवन में दरार पैदा करनेवाले कारणों की जाँच–पडताल के साथ शरीरगत सत्य की अपेक्षा मनोगत सत्य को प्रतिष्ठा दिलाई है । सौंदर्याकांक्षा की अभिपूर्ति के बाह्य सौन्दर्य के पीछे भटकनेवाले लोलुप मानव के शतमुख विनिपात को दर्शाते हुए पुरुष वर्ग का ध्यान ऐसे पतन के प्रति लेखक ने आकर्षित किया है ।

इस सन्दर्भ में डॉ. सुनीलकुमार लवटे लिखते हैं – *''आदमी समाज में वकील, डॉक्टर, प्राध्यापक बहुत कुछ बनता हे । इस प्रकार बनी बनायी प्रतिष्ठा में वह सहसा यह भूल जाता है कि वह आदमी है ।... प्रेम में मन की अपेक्षा तनको अलम माननेवाले लोगों का चित्रण कर डॉ. शेष ने इस नाटक के माध्यम से समझाया है कि उन्नीसवीं शती प्रेम और मन को अलम माननेवाले लोगों की थी । बीसवीं शताब्दी में आकर मानव निरन्तर मन की अपेक्षा तन की ओर अधिक आकृष्ट होने लगा है । उसकी सौन्दर्यानुभूति शारीरिक सौन्दर्य तक ही सीमित हुई है । हृदयगर्भा, रत्नगर्भा नारी उसके लिए मात्र खजुराहो के शिल्प सी बनी है । अपने इस चिन्तन का आविष्कार 'रत्नगर्भा' में कर इस कृति को डॉ. शेष ने विचार के स्तर पर ऊपर उठाने का प्रयास किया है ।''*[१९४]

'रत्नगर्भा' नाटक की कथा इस प्रकार है । कथानायिका इला त्याग, समर्पण, उदारता जैसे उच्च मानवीय सद्गुणों से सम्पन्न आदर्श पतिपरायण नारी है । वह शारीरिक सौन्दर्य के साथ–साथ आत्मिक सौन्दर्य से भी सम्पन्न है । वह अपने पति सुनील को हार्टस्पेशलिस्ट और प्रसिद्ध सर्जन की शिक्षा दिलाने

लन्दन भेजती है । खर्च की आपूर्ति के लिए वह अपने समस्त श्रृंगार के आभूषणों को बेच देती है । सुनील प्रकृति से सौन्दर्य एवं प्रेम का उपासक है । उसके मतानुसार 'सौन्दर्य ही इस सृष्टि का सबसे बड़ा सत्य है ।''[११५] एकदिन स्टोव के फट जाने से इला का मुँह झुलस जाता है, चेहरा विकृत हो जाता है । वह शारीरिक सौन्दर्य गँवा बैठती है । इस दुर्घटना की खबर वह अपने पति को यह सोचकर नहीं देती है कि कहीं उसके अध्ययनकार्य में विक्षेप न पड़ जाए । उसके मन में संशय जन्मता है कि सौन्दर्य का आराधक सुनील कहीं उसे ठुकरा न दे । वह अपने पति के डॉक्टर होकर आने की प्रतीक्षा में अपना गम भूल जाती है । उसकी पीड़ा घनीभूत–रूप ले लेती है । शायद *''औरत आदमी से बेहतर होती है इसलिए उसका दुःख ज्यादा गहरा असर पैदा करता है ।''*[११६]

सुनील हार्टस्पेशलिस्ट व प्रसिद्ध सर्जन बनकर वापस लौटता है । इला उसका सत्कार करने के विचार मात्र से काँप जाती है । इला की छोटी–बहन माया उसका धैर्य बन्धाती हुई कहती है *''प्रेम त्वचा का ग्राहक नहीं होता । तुम्हारा चेहरा भले ही विकृत हो गया हो, पर तुम्हारा हृदय तो नहीं । वह तो आज भी उतना सुन्दर है, उसमें उतना ही प्यार भरा है । तुम्हारा आकार बदला है दीदी, तुम्हारा प्रकार नहीं बदला ।''*[११७]

सुनील को जब पता चलता है कि उसकी कमनीय कायावाली पत्नी इला चेहरे से विकृत हो गयी है तो उसका स्वप्न चूर–चूर हो जाता है । उसके माथे पर जैसे आकाश टूट पड़ता है । *''आज देवता ने खुद पुजारी के माथे पर लात मारी है ।''*[११८] वह अपाकर्षण के नियमानुसार इला से दूर खिसकता जाता है । उसका पुराना मित्र जगदीश उसे जागतिक सत्य समझाते हुए रंगीन दुनिया की सैर कराता है । धीरे–धीरे सुनील पर इस रंगीन दुनिया का रंग चढ़ने लगता है । शराब पीने और पराई औरतों के साथ बिस्तरबाजी करने में वह कुछ भी परहेज नहीं समझता ।

वह झूठी प्रतिष्ठा और इज्जत का नकाब सुरक्षित रखने के लिए नैतिकता का उल्लंघन करता है और गैरकानूनी ढंग से गर्भपात करना शुरू कर

देता है । इला अपने पति को इस अधःपतन से बचाने के लिए माया से विवाह का प्रस्ताव रखती है । लेकिन माया इस रिश्ते का इन्कार कर देती है । सुनील पैसों की क्रूर लालसा में इला की हत्या करने पर उतारू हो जाता है । क्योंकि इला की पैतृक जायदाद का पता उसे लग चुका है । चूँकि माया को इसकी भनक मिल जाती है, अतः वह सुनील के मन की मैली मुराद को बर न आने देने के लिए सुनील से प्रेम का अभिनय करती है । इस बहाने वह सुनील के भीतर छिपे क्रूर–राक्षस की जघन्यवृत्ति को इला के सामने पेश कर उसे जगाती है । सुनील, अपने कुकर्मों का प्रकाशन हो जाने पर आत्मग्लानि का अनुभव करता है । इला निःश्वास निकालती आगे बढ़ जाती है ।

(३) नई सभ्यता : नये नमूने :

'नई सभ्यता : नये नमूने' नाट्य रचना का सृजनकाल सन् १९५६ का है । तीन अंकों में इसका कलेवर गुंफित है । डॉ. शंकर शेष ने मिथक का सर्वप्रथम प्रयोग उक्त नाटक में किया है । यह *''मिथक के द्वारा समकालीन समाज व्यवस्था एवं चरित्रपतन की समस्या का उद्‌घाटन करनेवाली रचना है ।''*[१९६] अवतारी पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार अपने समकालीन दम्भी और पाखण्डी धूर्त पुरुषों का चीर हरण करके उनकी असलियत प्रकट करके समाजोद्धार किया था ठीक उसी प्रकार इस नाटक का प्रमुखपात्र कृष्ण भी तथाकथित मुखौटाधारी समाजद्रोहियों को बेनकाब करते हुए उनकी शान ठिकाने लाने की अनवरत चेष्टा करता है । वह प्रेम को एक खिलौना समझकर उससे खिलवाड़ करनेवाली ललनाओं के साथ वैसा ही प्रेमाभिनय करके उनकी पोल खोलता है ।

''वस्तुतः कृष्ण मनुष्य की अनन्त सम्भावनाओं की तलाश का नाम है। कृष्ण लीला–पुरुष ही नहीं, रसिया भी हैं और योगी भी हैं । उन्होंने जो भी किया, पूर्ण समर्पण के साथ किया और कर्तव्य के साथ रस को इस प्रकार जोड़ा, जिसका कोई अन्य उदाहरण देखने में नहीं आता । शायद इसलिए शेष

ने कृष्ण का सहारा लेकर समाज में व्याप्त वैषम्य भरे जीवन की सीवनों को उधेड़ने के सूत्र थमायें और 'नई सभ्यताः नये नमूने' के मंच पर अवतारी कृष्ण का जन्म हुआ ।''[१२०]

डॉ. शंकर शेष ने उक्त नाटक में समसामयिक सत्य को हास्य–व्यंग्य शैली में उभारते हुए बहुत ही कलात्मक ढंगसे प्रस्तुत किया है । नाटक का कथासार इस प्रकार है – कथानायक कृष्ण ग्रेज्युएट होकर नौकरी के लिए दर–दर की ठोकरें खाता फिरता है और शहर में किराये के मकान में अपने साथी ऊधो के साथ रहता है । बेरोजगारी की हालत में उसे खाने–पीने और किराये का खर्च भी निकालना है और अपनी टी.बी. ग्रस्त इकलौती छोटी बहन शोभा की चिकित्सा के लिए रुपये का इन्तजाम करना है, जो सीधी राह चलते और आदर्शवाद का अवलम्बन लिए कदापि सम्भव नहीं लगता । वह आर्थिक कंगालियत से टूट चुका है । उसे नौकरी की कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती है । अन्त में इन त्रासद परिस्थितियों से परित्राण पाने से उसे अवतारी कृष्ण की भाँति अनेक रूप अपनाने पड़ते हैं ।

कृष्ण स्त्री–चरित्र को जानता है और उसकी कमजोरियों से भी सुविदित है । वह स्मृति की प्रशंसा करते हुए कहता है *''प्रेम के क्षेत्र में तो तुम साक्षात् राधा का अवतार हो ।*'[१२१] तो *''धरणी के साथ केवल वृन्दावन बिहारी का ही ब्याह सम्भव है ''*[१२२] – कहता हुआ धरणी का भी मन बहला देता है । प्रेमाभिनय करने के साथ–साथ वह अपनी पैनी बुद्धि का उपयोग करके सफेदपोशी बड़े–बड़े सेठों की सन्तानों से रुपये ऐंठना भी शुरू कर देता है । *''अरे, अकल हो तो छोटी–छोटी बातों से भी रुपया कमाया जा सकता है ।''*[१२३] वह 'प्रेम संगीत' महाकाव्य छपवाने के बहाने दश हजार रुपये स्मृति को उसके प्रेम में निमग्न बनाकर निकलवा लेता है, तो 'हीरोइन' के चक्कर में पड़ी धरणी से उसके पिता की सम्पत्ति का वह सदुपयोग करवाता है !!

कृष्ण की जाल केवल सुन्दरियों तक सीमित नहीं है । स्मृति और धरणी के पीछे पड़े गगनबिहारी और भूलवूप्रसाद को भी प्रेम क्षेत्र में फायदा ही फायदा करा देने का वचन देकर वह उनसे भी हजारों रुपये ऐंठ लेता है ।

उसका स्पष्ट मत है कि ''बेईमानों को लूट लेना कोई अपराध नहीं है ।... आज की सभ्यता भी तो उसी को कहते हैं, जिसमें मुस्कुरा–मुस्कुराकर आप किसी का गला काट लीजिए । आज यह पहचानना मुश्किल हो गया है... कि किसकी मुस्कुराहट में अमृत है और किसकी मुस्कुराहट में जहर है ।''[१२४]

कृष्ण उन चारों को इतनी कुशलता से छलता है कि जब–तक कृष्ण स्वयंखुलासा नहीं देता है, उन चारों को असलियत का पता ही नहीं चलता है । वे चारो कृष्ण पर अनैतिकता का आरोप लगाते हैं, लेकिन वह उन चारों को नैतिकता के सन्दर्भ में अनधिकारी बताकर चुप कर देता है और अन्त में शोभा को लेने स्टेशन जाने लगता है ।

(४) बेटों वाला बाप :

डॉ. शंकर शेष ने इस नाट्य कृति की रचना सन् १९५८ में की थी । दुर्भाग्यवश इस नाटक की पाण्डुलिपि खो जाने से इसका प्रकाशन नहीं हो सका है ।

(५) तिल का ताड :

'तिल का ताड' नाटक हास्य–व्यंग्य शैली में रचित आज की महानगरीय आवास की जटिल समस्या को उद्‌घाटित करता है । इस नाटक का रचनाकाल सन् १९५८ का है । तीन अंकों में विभाजित प्रस्तुत नाटक में डॉ. शंकर शेष ने प्राणनाथ स्वामी और मंजू के बीच के परिस्थितिजन्य प्रणय–नाटक को चित्रित करके बड़ी कुशलता से आवास समस्या का तात्कालिक हल खोजा है, साथ ही इसमें पुरखों की संकीर्ण मनोवृत्ति पर भी हलकी सी प्रतिक्रिया व्यक्त की है ।

''प्रतिष्ठा आदमी को बुजदिल बना देती है । इस बुजदिली, से आदमी निरन्तर सामाजिक आतंक का शिकार होता है । प्राणनाथ की समूची कथा इसका प्रमाण है ।''[१२५] मनोरंजनात्मक फिल्मी–ड्रामा की भाँति नाटककार ने इसमें कथा का गुम्फन किया है । घटनाओं के उतार–चढ़ाव के कारण यह काफी कौतूहलवर्धक बन सका है ।

प्राणनाथ स्वामी एक पढ़ा–लिखा अविवाहित नौजवान है जो सामान्य क्लर्क की नौकरी करता है । दो सौ रुपये मासिक वेतन पाता है । अविवाहित होने के कारण शहर में उसे कोई किराये पर मकान देने को तैयार नहीं । किसी प्रकार झूठ–मूठ का सहारा लेकर बड़ी मुश्किल से उसे सेठ धन्नामल का मकान किराये पर मिल जाता है । साढ़े बारह बच्चों के पिता धन्नामल पुराने ख्यालातवाला है । वह अपने घर में किसी अविवाहित युवक को रखना पसन्द नहीं करता । उसका मत है कि *''कुँवारों – रण्डुओं को रखने से घर की इज्जत कम होती है ।''*[१२६] कुछ दिनों के पश्चात् सेठ धन्नामल प्राणनाथ से उसकी बीबी को बुलालाने की जिद करता है । प्राणनाथ पर आवास के बाद अब औरत का संकट मण्डराने लगता है ।

संयोग से एकदिन प्राणनाथ मंजू नामक निःसहाय युवती को गुण्डों से बचाकर अपने मकान पर आश्रय देता है । वह धन्नामल सेठ के तकाजे से बचने के लिए मंजू को उसकी पत्नी बनने का नाटक करने के लिए राजी कर लेता है । मंजू प्राणनाथ को तात्कालिक दुविधा से बचाती हुई सेठ धन्नामल, पतितपावन शर्मा और ब्रह्मचारी के सामने उसकी पत्नी रूपमें पेश होती है । सप्ताह भर में प्राणनाथ, मंजू का साहचर्य पाकर उसके प्रति प्रणय–याचना कर बैठता है । मंजू अपने आपको विवाहित बताती हुई उसके प्रणय–प्रस्ताव का अस्वीकार कर देती है । वह अपने पति अजय को पत्र लिखकर सारा वृत्तान्त बता देती है । अजय अपने पुराने दोस्त प्राणनाथ के घर पर मंजूको सुरक्षित पाकर उसे कुछ दिन के लिए वहीं रूकने की सूचना देता हे ।

यद्यपि आगे चलकर प्राणनाथ के पिता गयाप्रसाद के आगमन से इस प्रणय–नाटक की कलई खुल जाती है, स्थिति गहरा जाती है । वस्तुतः प्राणनाथ पड़ोस में रहनेवाली रंजना नाम की युवती से प्रेम करता था । बनारसीदास (रंजना का पिता) और गयाप्रसाद के बीच ऐनवक्त पर कहासुनी हो जाती है और वह भी सेठ धन्नामल की उपस्थिति में इससे सवाल और भी पेचीदा बन जाता है । आखिर गयाप्रसादजी का मनः समाधान होता है । वे रंजना को

अपनी बहू बनाने के लिए तैयार हो जाते हैं । इसी के साथ नाटक समाप्त हो जाता है ।

(६) बिन बाती के दीप :

शुद्ध यथार्थवादी शैली (इब्सन शैली) में आलेखित 'बिन बाती के दीप' नाट्य रचना डॉ. शंकर शेष की परिष्कृत रचना है । इस *''नाट्यकृति उनकी मंजी हुई कलम का कमाल है ।''*[१२७] इसका रचनाकाल सन् १९६८ का है और यह लेखक की सबसे पहले प्रकाशित हुई रचना है । *''जीवन में लोग महत्त्वाकांक्षा में पागल होकर किस तरह अनैतिक बन जाते हैं, इसका दिग्दर्शन करानेवाली यह कृति नये प्रभाव को लेकर उपस्थित होती है । एक दृष्टि से देखा जाए तो नाटककार डॉ. शंकर शेष की नाट्ययात्रा में यह कृति किसी हद तक ऐतिहासिक लगती है ।''*[१२८] जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य का क्षेत्र भी आज–कल कलुषित और अनैतिक बन गया है । प्रसिद्धि के मोह में लिप्त आज का मानस दूसरों की कृतियों को उठाकर अपने नाम छपवाता है । और इनसे प्राप्त रायल्टी, पुरस्कार, मान–सम्मान से आत्म सन्तुष्टि करता है । साहित्यिक जगत को ग्रहण लगानेवाले ऐसे लोगों की तीव्र आलोचना शिवराज के माध्यम से नाटककार ने की है । साथ ही नाटक में नाटककार ने स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को एक नये धरातल पर परखने का प्रयत्न किया है । इस नाटक की कथा भी तीन अंकों में पथराई है ।

नाटक का नायक शिवराज एक सामान्य कवि है । वह सर्वोत्तम साहित्यिक सम्मान पाने की महत्त्वाकांक्षा से अभिभूत है । इसके फलस्वरूप वह परिवारवालों की नाराजगी को नजरन्दाज करके साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न अन्धी विशाखा से विवाह कर लेता है । उसे अखिल भारतीय साहित्यिक सम्मान व यश पाना है; अतः वह अपनी पत्नी विशाखा के साथ विश्वासघात करने से कतई कतराता नहीं ।

विशाखा के जरिए लिखे गए उपन्यासों – 'गरमधारा', 'गहराइयाँ', 'सूना आकाश', 'नई दिशा', 'माटी के घर', 'मनुष्य और मनुष्य' को अपने नाम से

छाप देता है । इस रहस्य को केवल शिवराज की टाइपिस्ट एवं प्रेयसी मंजू ही जानती है । मंजू अपनी आर्थिक विवशता के कारण शिवराज का साथ देती है । परन्तु आखिरकार वह शिवराज के कारनामों से व्यथित होकर उससे घृणा करने लगती है । उधर मेजर आनन्द विशाखा के सामने शिवराज के छल–छद्मों को खोलकर कटु सत्यों से उसे अवगत कराता है । चूंकि विशाखा के पास आदर्श भारतीय नारी का समर्पित हृदय है ।

वह शिवराज के जरिए किए गए छल–प्रपंच को उदात्त अर्थ में ग्रहण करती है । तथा अपनी अन्धेपन की स्थिति को पत्नीत्व से पुरस्कृत करनेवाले शिवराज के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है । उसके जैसी अन्धी के साथ विवाह कर के शिवराज ने उसे जो नयी जिन्दगी संगीन आधार, जीने की उम्मीद प्रदान की है । इन एहसानों के अन्तर्गत वह शिवराज के समस्त प्रपंच क्षम्य मानती है । वह कहती है – *''नहीं, शिव तुमने मेरा जीवन सार्थक किया है । तुमने मुझसे प्रेम किया है । तुमने मुझ अन्धी की भावनाओं को सहस्र–सहस्र लोगों तक पहुँचाया है ।''*[१२९]... *''तुम्हारा एक अपराध भी क्षमा नहीं कर सकती ? शिव, अब मेरा नया साहित्यकार तुम्हारे ही माध्यम से इस संसार तक पहुँचेगा ।''*[१३०]

अन्त में शिवराज अपने पापों का प्रकाशन डिनर–पार्टी में सबके सामने करने की तत्परता दिखाता है । विशाखा उसे रोकती हुई कहती है *''तुम ऐसा एलान न करना अन्यथा साहित्यकारों पर से लोगों का विश्वास हट जाएगा ।... जीवन में यदि कुछ विश्वासों की आवश्यकता होती है तो कुछ अन्धविश्वासों की भी ।''*[१३१] इस सन्दर्भ में डॉ. सुनीलकुमार लवटे का कथन है – *''आज की मूल्यहीन एवं पतनोन्मुख समाज व्यवस्था में, दाम्पत्य में होनेवाले अटूट सम्बन्ध, फिर भले ही वे जुगनू की तरह अल्पजीवी एवं अल्पप्रकाशी क्यों न हो, निःसन्देह आशादायी है । निराशा से घिरी व्यवस्था में उनका महत्त्व असाधारण है ।''*[१३२]

'बिन बाती के दीप' का अन्त नाटककार ने आदर्शवादी ढंग से किया है ।

(७) बाढ़ का पानी :

मध्यप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत 'बाढ़ का पानी' नाटक सन् १९६८ के समय की रचना है । पहले इसका शीर्षक लम्बा था 'बाढ़ का पानी : चन्दन के दीप' । बाद में केवल 'बाढ़ का पानी' ही कर दिया गया । इस *''नाट्यकृतिके लिए डॉ. शेष को मध्यप्रदेश के शिक्षा एवं सांस्कृतिक विभाग की ओर से आयोजित की गई नाट्यलेखन प्रतियोगिता में श्रेष्ठ लेखन का द्वितीय पुरस्कार दिया गया था ।''*[१३३] इस त्रिअंकी नाटक की सृष्टि गान्धीवादी जीवनदर्शन की पृष्ठभूमि पर हुई है ।

जातिभेद और वर्ग विषमता ने हमारे देश की बुनियाद को बहुत गहराई से प्रभावित किया है । मानव सभ्यता का इतना विकास होने के बावजूद हम छुआछूत की भावना से उबर नहीं पाए हैं । यदि *''हमें भारत को सुदृढ़ बनाना है, अजेय बनाना है तो ये दीवारें तोड़नी होंगी हमें इसके लिए अपने मूर्ख समाज से संघर्ष करना होगा ।''*[१३४]

नाटक में नाटककार ने समाज एवं देश को खोखला करनेवाली जातीयता एवं अस्पृश्यता, धार्मिक पाखण्ड, स्त्री की भावनाओं को कुचल डालने की प्रवृत्ति, धनलोभ आदि कई समस्याओं को केवल उठाया ही नहीं है, वरन, उनका आदर्शवादी समाधान भी प्रस्तुत किया है ।

नर्मदा तट पर बसे एक गाँव में नवल, चमार जाति का एक होनहार लड़का है । निम्नजाति का होने के कारण सब उसे हीन दृष्टि से देखते हैं । एक दिन नर्मदा में बाढ़ आती है । सारा गाँव बाढ़ की चपेत में आ जाता है । लेकिन अछूतों की बस्ती टीले पर होने से बाढ़ से अप्रभावित है । नवल अपने परोपकारी स्वभाव को रोक नहीं पाता । वह विपत्ति में फँसे लोगों की मदद करने के लिए ठाकुर से मिलने जाता है । पर ठाकुर उसे दुत्कार देता है साथ ही उसे पण्डित के आवारा लड़कों से पिटवाता है । धीरे–धीरे बाढ़ का पानी चारों और फैल जाता है, ऊपर से मूसलाधार वर्षा भी होने लगती है । प्राण संकट की स्थिति में सुरक्षित कहा जाए ऐसा एक ही स्थान बचा है, अछूतों का टीला । सब अछूतों के टीले पर चले जाते हैं । ठाकुर परिस्थिति

से समझौता कर लेता है पर पण्डित अपनी जन्मजात संकीर्णता छोड़ने को तैयार नहीं । पण्डित की वजह से सब कोई खाना नहीं खाता तो पण्डित को छीतू की थाली में खाना पड़ता है । नवल की माँ उसे मजबूर करती है ।

धीरे–धीरे बाढ़ का पानी कम होने लगता है तो लोगों के मन से ऊँच–नीच की भावना भी कम हो जाती है । सब मिलकर एक आदर्श गाँव बसाने का संकल्प करते हैं । पण्डित का आवारा बेटा इस बाढ़ का फायदा उठाकर ठाकुर की सम्पत्ति लूटकर जाने की कोशिश करता है । पर उसकी नाव में छेद हो जाने के कारण वह भाग नहीं पाता और गाँववालों के द्वारा पकड़ लिया जाता है । ठाकुर उसी धन को गाँव के उद्धार के लिए इस्तेमाल करने की घोषणा करता है ।

(८) बन्धन अपने–अपने :

तीन अंकों में विभाजित 'बन्धन अपने–अपने' नाटक का सृजन समय सन् १९६९ का है । इस नाटक में *''डॉ. जयन्त का चरित्र प्रतीक रूप में आजीवन महत्त्वाकांक्षाओं में जुटे व्यक्तियों की घुटन, पीड़ा और एकाकीपन को मूर्त करता है ।''*[१३५] मनुष्य कभी–कभी अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए प्रेम एवं विश्वास आदि बुनियादी आवश्यकताओं की उपेक्षा करता है । परन्तु लक्ष्य प्राप्ति के बाद उसके जीवन में अजीबो–गरीब सूनापन आ जाता है, एकाकीपन चुभने लगता है । ऐसे समय अपनी प्रतिभा से उपजी समस्त उपलब्धियाँ व्यर्थ लगने लगती हैं ऐसे समय *''महत् व्यक्तित्व का लबादा उसे समाज में सामान्य बनकर जीने नहीं देता, यही महत्त्वाकांक्षाओं की करुण परिणति है ।''*[१३६]

''वर्तमान जीवन में एक सीमा से परे अपनी महत्त्वाकांक्षा में जीता व्यक्ति करुणाजनक अन्त तक पहुँचता है । यह इस नाटक से इस रूप में उजागर होता है कि वर्तमान जीवन की विसंगति अपने पूरे रूप में स्पष्ट हो जाती है ।''[१३७] इसके अतिरिक्त *''नाटक में नाटककार ने प्रस्थापित शिक्षा व्यवस्था में निहित असंगतियों का उद्‌घाटन कर गुरु–शिष्य की प्राचीन परम्परा*

के विलय के सन्दर्भ में चिन्ता व्यक्त की है ।''[१३८] इस नाट्यकृति पर मध्यप्रदेश शासन की ओर से ग्यारह सौ रुपये का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है ।

डॉ. जयन्त प्रखर बुद्धिमान एवं पुरुषार्थी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान हैं । वे विश्व विद्यालय में लिपिशास्त्र के प्रवक्ता हैं । उन्होंने अपने जीवन को अध्ययन, अनुसन्धान और लेखन की दीक्षा से दीक्षित कर रखा है । उन्होंने संसार की प्राचीनतम लिपि को खोज कर अनुसन्धान में एक नये अध्याय को जोड़ा है । भारत सरकार उन्हें इस प्रशंसनीय खोज के पुरस्कार रूप 'पद्मभूषण' से विभूषित करती है ।

उन्हें वोशिंगटन युनिवर्सिटी की और से विजिटिंग प्रोफेसरशिप का ऑफर भी मिलता है । इसके पहले वे पेरिस की यात्रा भी कर चुके हैं । जीवन में महत्त्वाकांक्षा की यथेष्ट पूर्ति करने में वे प्रेम, भावना, ममता, स्नेह की नितान्त उपेक्षा करते हुए भावजीवन पर कुठाराघात करते हैं । उन्होंने अपने अनुज अनादि को माता–पिता के अभाव में भी उच्चशिक्षा दिला कर उसे प्रवक्ता बनाकर अपना कर्तव्य अदा किया है । चूँ कि अनादि और डॉ. जयन्त में फिर भी स्वभावगत भिन्नताएँ हैं । अनादि अपने अग्रज की भाँति केवल पुस्तक का कीड़ा न बनकर शोध छात्रा चेतना से प्रेम करता है । चेतना डॉ. जयन्त के निर्देशन में शोधकार्य करती है । अनादि की भाँति चेतना के मन में भी डॉ. जयन्त के प्रति पूज्यभाव है ।

डॉ. जयन्त ने आद्याजतक अपनी गृहस्थी के बारेमें कुछ सोचा ही नहीं । अतः जैसे–जैसे अवस्था बढ़ती है, उन्हें सूनापन महसूस होता है । वे अपने परममित्र डॉ. तर्कतीर्थ के परामर्श पर विवाह करने का निश्चय करते हैं । उनकी बीमारी के समय चेतना की सेवा–सुश्रुषा और लगन को देखकर वे उसके सामने पत्र द्वारा विवाह प्रस्ताव रखते हैं । डॉ. जयन्त इस बात से अनभिज्ञ हैं कि चेतना वास्तव में उनके छोटेभाई अनादि की प्रेमिका है । पता चलते ही झट से भ्रम का पर्दा उनकी आँखों से दूर हो जाता है । चेतना की आदर भावना की उन्होंने गलत व्याख्या की है । वे आत्मग्लानि से भर जाते हैं । उनसे नियति का अट्टाहास सहन नहीं होता । अब वे अनादि और

चेतना के बीच रहना नहीं चाहते । अतएव हमेशा के लिए भारत को अलविदा करके वॉशिग्टन चले जाने का निश्चय कर लेते हैं ।

(६) खजुराहो का शिल्पी :

सन् १९७० में रचित " *''खजुराहो का शिल्पी'' ऐतिहासिक कथावस्तु वहन करनेवाला एक संघर्षशील नाटक है, जो कलात्मक अभिव्यक्ति के जरिए हमें ऐसे जीवनादर्श की ओर ले जाता है, जहाँ आदमी, आदमी नहीं रहता, पर्याप्त आध्यात्मिक योगी बन जाता है ।''*[१३६] यह कृति डॉ. शंकर शेष की सशक्त कृतियों में से एक है । इस नाटक में मोह के क्षण को, पतन के क्षण को पहचान ने और उसे जीतने तथा उसके उदात्तीकरण करने की प्रक्रिया के दर्शन को रूपायित किया है । *''धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों स्थितियों में मोक्ष की अन्तिम अवस्था है । मोक्ष प्राप्ति से पहले 'काम' की अनिवार्यता है । यही दर्शन 'खजुराहो का शिल्पी' का केन्द्र है । 'मोह का क्षण' ही मानव को पतनोन्मुख बनाता है और 'मोह का क्षण' ही मानव को ऊर्ध्वमुखी । महत्त्वपूर्ण हुआ 'मोह का क्षण' । इन्हीं क्षणों के उतार–चढ़ाव में प्रवृत्ति–निवृत्ति मार्ग का रहस्य छिपा है । जिसे व्यक्त करना ही नाटककार का लक्ष्य है ।''*[१४०]

ऐतिहासिक परिदृश्य (ईसा की दसवीं–ग्यारहवीं शती) पर आधारित नाटक *''वस्तुतः अपने कथ्य में यह एक प्रयोग है, ऐतिहासिकता यहाँ मात्र सम्बल है, साश्वत मानवीय सत्य को प्रकट करने का ।''*[१४१] छः दृश्यों में विभाजित प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु अत्यन्त सरल एवं रोचक है ।

चन्द्रात्रेयवंश में उत्पन्न मध्यदेश का बलिष्ठ नरेश यशोवर्धन को एक रात सपने में उनकी अधिष्ठात्री देवी के दर्शन होते हैं । देवी हेमवती गहिरवार के राजा इन्द्रजीत के पुरोहित हेमराज की कन्या थीं । चौदह वर्ष में उनका विवाह हुआ और दो वर्ष बाद विधवा हो गई थीं । एकदिन उनकी मुलाकात एक सुन्दर पुरुष से होती है । वह अपरिचित व्यक्ति पर अत्यन्त मोहित हो उसे अपनी देह समर्पित कर देती है । वह गर्भवती हो जाती है । सपने में देवी हेमवती अपनी आप बीती कहती हुई राजा से मन्दिर निर्माण के लिए बिनती

करती है, जिसके भीतर जाने से व्यक्ति अपने जीवन के उस मोह के क्षण को जीत सके । राजा तत्काल सपने के अनुसार मन्दिर निर्माण के लिए ऐसे शिल्पी की तलाश करने में लग जाता है, जिसने मोह के क्षण को जाना हो, पहचाना हो और भोगा हो ।

विभिन्न शिल्प–तीर्थ की यात्रा के दौरान कविवर माधव को मेघराज आनन्द नामक एक महान शिल्पी यशोवर्मन की धर्मनगरी खजुराहो में ही मिल जाता है । राजकुमारी अलका शिल्पी की शिल्पकला से अति प्रभावित है और इसी कारण वह किसी भी वक्त शिल्पी की मूर्तिशाला में मूर्तियों के लिए प्रतिदर्शी बनने उत्सुक रहती है । शिल्पी राजा की कल्पनानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समस्त पहलुओं से युक्त मन्दिर निर्माण करता है । मन्दिर के बाहरी भाग मिथुन–मूर्तियों से रचकर शिल्पी कामातुर मानव की प्रत्येक चेष्टा को बेझिझक अंकित करता है, जिन्हें मानव निजी जीवन में भोगता है पर जीवन के बाहर उसका विरोध करता है । शिल्पी तथा अल्का के अविरत प्रयत्न के बाद मन्दिर निर्माण हो जाता है । परन्तु शिल्पी और अलका के सम्बन्ध को लेकर प्रवाद फैलता है । राजा शिल्पी की परीक्षा लेता है और शिल्पी के आदर्शपूर्ण नैतिकता से प्रभावित होता है । अलका शिल्पी से अभिभूत है पर शिल्पी तो मोह के क्षण को जीत चुका है । शिल्पी तो संसार का श्रेष्ठ शिल्पी बन गया, अध्यात्म की ऊँचाई पर पहुँचगया पर अलका संसार में ही बनी रही । अपनी इसी विवशता को लेकर वह मर्माहत हो जाती है ।

अन्ततोगत्वा शिल्पी की निर्मोहिता की परीक्षा होती है । अपनी प्रतिदर्श प्रतिमा को तोड़ने के लिए वह शिल्पी से अनुरोध करती है और जब शिल्पी अपनी सृजित रचना को तोडने से इन्कार कर देता है तो अल्का खुद हथौड़ा उठा लेती है शिल्पी अलका की प्रतिदर्श प्रतिमा को बाँहों में बाँध लेता है और व्याकुल कण्ठ से उत्तर देता है, कि मुझे इससे मोह नहीं है, बल्कि प्रेम है । इस रोचक संवाद के साथ नाटक समाप्त होता है ।

(१०) फन्दी :

डॉ. शंकर शेष के कलात्मक विकास की हामी भरनेवाला नाटक 'फन्दी' बहुचर्चित नाटक रहा है । इसका कारण इसकी विषयगत नवीनता और 'नाटक के भीतर नाटक' की प्रयोगात्मकता है । इसमें नाटककार ने फन्दी जैसे अकेले पात्र के द्वारा वेशभूषा परिवर्तन के बिना नौ पात्रों की भूमिका निभाने का कलात्मक आविष्कार किया है । 'फन्दी' नाटक का रचनाकाल सन् १९७१ का है । और तीन अंकों में इसकी कथा विस्तार पाती है । *''डॉ. शंकरशेष ने बड़ी सशक्तता के साथ 'फन्दी' में करुणा, समाज एवं कानून के संघर्ष को प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है । 'फन्दी' का सम्पूर्ण कथ्य न्याय व्यवस्था के सामने प्रश्न चिह्न लगानेवाला कथ्य है ।''*[१४२] 'फन्दी' भारतीय न्याय व्यवस्था की जड़ नियमों के प्रति तीखी प्रतिक्रिया है । इसमें एक प्रश्न उठाया गया है कि, *''कानून मनुष्य के लिए है या मनुष्य कानून के लिए ?''*[१४३] *''क्या कानून का सम्बन्ध मनुष्य की केवल बाहरी व्यवस्था से है ? क्या कानून का मनुष्य की भीतरी व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है ?''*[१४४] वस्तुतः *''समय के मूल्यांकन के साथ-साथ नियमों-उपनियमों, व्यवस्था, समाज सभी का उसीके अनुरूप पुनर्मूल्यांकन भी होता रहना चाहिए जिससे व्यवस्था में जड़ता न आने पाये । कानून कोई वेदवाक्य नहीं है जो बदला नहीं जा सकता ।''*[१४५]

एक ही दृश्यबन्ध में बंधित 'फन्दी' नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है – 'फन्दी' एक ईमानदार, संवेदनशील और अपने घर तथा पिता से अत्यधिक प्यार करनेवाले एक ऐसे गरीब ट्रक ड्राइवर फन्दी की त्रासद कहानी है, जो अपने कैंसर पीड़ित पिता को बचाने के लिए अपना सारा पैसा लूटा देता है, पत्नी के जेवर और घर के बर्तन तक बेच देता है । उसे मुम्बई इलाज के लिए ले जाने के लिए करामतुल्ला खान से बहुत ऊँची दर पर हजार रुपया कर्ज भी लेता है । लेकिन अब इस असाध्य बीमारी से बचाना तो क्या पिता को असहय दर्द से थोड़ी देर के लिए छुटकारा दिलानेवाले महंगे इंजेक्शन तक का प्रबन्ध करने वह असमर्थ हो जाता है तो मौत की भीख माँगते पिता को दर्द से हमेशा के लिए मुक्त करने के उदेश्य से विवश होकर मार डालता

है । मौजूदा न्याय व्यवस्था की नजर में फन्दी हत्यारा है और उसकी एकमात्र सज़ा है मौत । *''निश्चित मृत्यु के असाध्य क्षणों की पल–पल प्रतीक्षा की रौंगटें खड़ी कर देनेवाली विभीषिका को समाप्त करना मानवीय करुणा है अथवा व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन है ?''*[१४६] लेकिन नाटककार इसी बिन्दु से 'सुखमय मृत्यु', 'मानवीय गरिमापूर्ण जीवन मृत्यु' जैसे व्यक्ति के बुनियादी अधिकारों के साथ–साथ हत्या–आत्महत्या जैसे सार्थक एवं गम्भीर प्रश्नों को उठाते हैं । बेरिस्टर गंगानाथ का *''विश्वास है कि जिन बीमारियों का कोई इलाज नहीं है, उनके मरीज को अपनी जिन्दगी खत्म करने का अधिकार होना चाहिए ।''*[१४७]

डॉ. शेषजी बदले और बदले हुए सन्दर्भों में न्याय–व्यवस्था को बदलने की जायज और जोरदार माँग करता है । सरकारी वकील पीड़ित कुत्ते की तडपन से उसे मुक्त कराने के लिए गोली मार देना स्वीकार करता है परन्तु फन्दी द्वारा पिता का गला घोंटकर उसे चिर–पीड़ा से मुक्ति दिलाना मंजूर नहीं । फन्दी द्वारा स्थापित व्यवस्था का विरोध करना और उसे ज्यादा मानवीय बनाना ही नाटककार का उदेश्य रहा है ।

(११) एक और द्रोणाचार्य :

'एक और द्रोणाचार्य' डॉ. शंकर शेष की *''सर्वाधिक अभिमंचित एवं चर्चित गम्भीर''*[१४८] नाट्य रचना है । सन् १९७१ में रचित यह मिथकीय नाटक दो भागों पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभक्त है । *''एक और द्रोणाचार्य में मिथक और आधुनिक प्रसंगों का बिम्ब–प्रतिबिम्बभाव मिथक में आधुनिक युग का समावेश, पात्रों का मिथक से वर्तमान में प्रवेश आदि का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।''*[१४९] *''नाटककार ने अरविन्द, लीला, प्रेसिडेंट, अनुराधा और चन्दू के समानान्तर द्रोणाचार्य, कृपी, दुर्योधन, द्रौपदी और अश्वत्थामा के प्रासंगिक और सटीक दृश्य प्रस्तुत करके समकालीन नाटकों में इतिहास प्रयोग का एक नया पहलू प्रकट किया है ।''*[१५०] इसमें महाभारत कालीन आचार्यवर गुरु द्रोणाचार्य के जीवन प्रसंगों की संवेदनशील झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं । अवत्थामा का कृपी से

दूध की याचना करना, द्रोणाचार्य का आजीविकार्थ बाल–सखा द्रुपद के पास जाना, द्रोणाचार्य का कौरव–पाण्डव कुमारों का आचार्य बनना, एकलव्य से गुरुदक्षिणा स्वरूप दक्षिण हस्त का अंगुष्ठ माँगना, द्रौपदी का चीरहरण और युधिष्ठिर का 'नरो वा कुंजरो वा' अर्धसत्य इन घटना प्रसंगों के आधार पर सद्‌गृहस्थ अरविन्द के जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्त किया गया है ।

अरविन्द एक मध्यमवर्गीय, आदर्श और सिद्धान्तों पर चलनेवाला सद्‌गृहस्थ है । वह एक प्राइवेट कॉलेज में अध्यापक है । उस पर अपनी कैन्सरग्रस्त माँ और विधवा बहन की जिन्दगी अवलंबित है । लड़का मेडिकल कॉलेज में भर्ती होनेवाला है । अरविन्द के कॉलेज का प्रेसिडेंट एक व्यापारी है । उसने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए कई शिक्षण संस्थाएँ खोल रखी हैं । वह कॉलेज के प्रिन्सिपल को प्रलोभन व धमकियाँ देकर ग्रान्ट के रुपये लेकर अपने लेन–देन के व्यवसाय में लगाता है और हजारों रुपये कमाकर कॉलेज को लौटाता है ।

प्रेसिडेंट का लड़का राजकुमार कॉलेज में पढ़ता है, जिसे परीक्षा में नकल करते हुए अरविन्द पकड़ लेता है । इसकी रिपोर्ट वह युनिवर्सिटी को भेजकर आदर्श शिक्षा प्रणालिका का पालन करना चाहता है । उसकी पत्नी लीला और मित्र यदू प्रत्याघातों से विचलित हो, उसे कभी भी न्याय और सत्य के दुर्लंध्य रास्ते पर चलने से रोकते हैं । उनका हौसला तोड़ते हुए यदू कहता है, *''राजकुमार का विरोध करोगे तो हत्या । चन्दू का विरोध करोगे तो सामाजिक हत्या । हत्या से बच नहीं सकते तुम ।''*[१५१] राजकुमार और उसके साथी बड़े क्रूर हैं, *''अगर ये लोग विमलेन्दु की हत्या कर सकते हैं तो तुम्हारी क्यों नहीं ।''*[१५२] न्यायप्रिय, सत्यवक्ता, सच्चरित्र व्यक्ति होने के बादजूद अरविन्द कोई साहसी निर्णय नहीं कर पाता और विरोध की तकलीफ–देह भाषा की जगह समझौते की सुविधाप्रद भाषा बोलने लगता है और सत्ता के कभी न टूटनेवाले चक्रव्यूह में फँसकर मात्र *''बड़े–बड़े निरर्थक शब्द थूकनेवाला नपुंसक बुद्धिवादी''*[१५३] बनकर रह जाता है । अपने प्रिय छात्र चन्दू का धैर्य बँधाकर वह प्रेसिडेंट के दबावों के आगे झुक जाता है । इतना ही नहीं चन्दू को छात्रों को भडकाने के अभियोग में कॉलेज से निकाल दिया जाता है ।

प्रेसिडेंट अपने वादे के अनुसार अरविन्द को प्रिंसिपल बना देता है । एक दिन राजकुमार कॉलेज की छात्रा अनुराधा की एकान्तिक स्थिति का लाभ उठाकर बलात्कार की कोशिश करता है । संयोग से अरविन्द वहाँ पहुँचता है और अनुराधा को क्षत–विक्षत होने से बचा लेता है । अनुराधा उसके कहने पर राजकुमार के विरुद्ध रिपोर्ट लिखती है । किन्तु इस बार भी प्रेसिडेंट बीच–बचाव का रास्ता खोज केस को रफा–दफा कर देता है । अनुराधा इस मामले में दृढ़ता से आगे बढ़ती है, पर राजकुमार के गुण्डें उसे मारकर रास्ते पर फेंक देते हैं । लोग उसे आत्महत्या समझते हैं ।

आगे चलकर कथा प्रवाह मोड लेता है । प्रेसिडेंट बीमार पड़ता है । ब्लड प्रेशर की तकलीफ से निस्तार पाने वह डॉक्टर की 'सुबह–शाम घूमने जाने' वाली सलाह को शिरोधार्य कर अरविन्द के साथ टहलने जाने लगता है । एक दिन शाम को क्लिफ से नीचे गिर कर वह मर जाता है । अरविन्द पर प्रेसिडेंट को क्लिफ से धकेल कर मार दिए जाने का अभियोग चलाया जाता है । चन्दू चश्मदीद गवाह के रूप में अरविन्द के खिलाफ गवाही देता हे । नाटक चन्दू के अर्ध–सत्य के साथ ही समाप्त हो जाता है ।

(१२) कालजयी :

सन् १९७३ में रचित और पाँच भागों (दृश्यों) में नियोजित 'कालजयी' नाट्य रचना का कथ्य विषय बर्बर राजनीति रहा है । इसमें नाट्यकार ने ऐतिहासिक परिवेश में समसामयिक विद्रूप राजनीति को प्रस्तुत किया है । यह नाटक राजतन्त्र और जनतन्त्र के बीच संघर्ष और खास तौर पे सत्तातन्त्र के सामने प्रजातन्त्र की बेबसी, विवशता औरबाद में विद्रोह को रेखांकित करता है ।

'कालजयी' नाटक का कालजयी प्रखर सत्तालिप्सु, क्रूर, बर्बर, जुल्मी, ऐय्यासी और दमनकारी राजा है । वह अपने आप की स्थिति को सभी युगों में अक्षुण्ण बनाए रखनेवाला अधिनायकवादी निरंकुश शासक है । प्रजा उससे उत्पीड़ित है । प्रजावत्सलता का कोई आदर्श उसे छू तक नहीं सकता । उसे

तो केवल अपने चिर तारुण्य की चिन्ता है अतः वह यौवन साधना में व्यस्त रहता है । राज्य के अबालवृद्ध उसके अमानुषिक व्यवहार से आतंकित है । अपनी प्रबल और प्रचण्ड सेना में उसने अपनी पसन्द के लोगों को रखा है, पूवाँचल के लोगों से उसे तीव्र नफरत है । अतः अपनी पसन्द के लोगों का सम्बल पाकर वह मनस्वी कानून लादकर जनता पर त्रास गुजारता है । तानाशाही प्रवृत्ति के पोषक और दमनकारी वृत्ति के हिमायती होते हुए भी कालजयी निजी भयस्थानों के प्रति अत्यधिक सजग है ।

कालजयी प्रजा की स्वायत्तता छिनते और निर्मम शासन करते हुए यह भूल जाता है कि बेमर्याद तानाशाही विद्रोह को जन्म देती है । यही सत्य है कि आचार्य देशबन्धु के नेतृत्व में 'जनक्रान्ति आन्दोलन' के लिए युवतियों सहित युवक क्रान्तिकारियों का दल इकठ्ठा होता है । वे कालजयी की शासन प्रणाली से छद्मवेश धारण कर विद्रोह करते है । राजा अपने गुप्त शत्रुओं की गुप्त गतिविधियों की भनक पाकर सतर्क हो जाता है और विद्रोही के रूप में छिपे न्यायकेतु, विजयकेतु एवं वसुमित्र की योजना को असफल बना देता है । ये तीनों क्रान्तिकारीयों को देशद्रोही सिद्ध कर के प्राणदण्ड देता है । कालजयी को खत्म करना प्रजातन्त्र दल के लिए नामुमकिन बन जाता है ।

प्रजातन्त्र दल से जुड़ी पूरबी कालजयी की अमरता का रहस्य वैद्यराज मृत्युंजय को अपने मोहपाश में बाँधकर प्राप्त कर लेती है । उस रहस्य को जानकर महामन्त्री शीलभद्र शरदपूर्णिमा की मध्यरात्रि को कालजयी की हत्या करके उसकी लाश को पहाड़ी के नीचे फेंक देता है । शीलभद्र गुप्तरूप से क्रान्तिकारी दल ही का सदस्य है पर इस रहस्य को जिस प्रकार कालजयी और वैद्यराज मृत्युंजय नहीं पा सकते ठीक उसी प्रकार कालजयी को मार कर उसके जैसा मुखौटा पहनकर 'कालजयी राजा' बन बैठनेवाले मुखौटाधारी शीलभद्र को भी कोई नहीं समझ पातें ।

अतन्तः पूरबी नकली कालजयी के पेट में छुरा भौंक देती है । कालजयी के रूप में रहे शीलभद्र की दाहिनी भुजा पर दल का चिह्न उसकी असलियत बता देता है । वैद्यराज मृत्युंजय भी तथाकथित अमरत्व का भण्डाफोड करते

हुए कहता है कि, *''सत्ता पिपासा ही कालजयी को जन्म देती है... राजसत्ता को बनाए रखनेवाले स्वार्थी तत्त्व उसे सदैव अमृत पिलाते हैं । तीस वर्ष पहले भी मैंने उस कालजयी को जन्म दिया था जिसे शीलभद्र ने मारा ।''*[१५४] वैद्यराज मृत्युंजय अन्त में पूरबी के हाथ से तलवार छीनकर आत्महत्या कर लेता है ।

(१३) घरौंदा :

इन्सान की आन्तर्बाह्य संघर्ष स्थिति का चित्रिण करनेवाला 'घरौंदा' डॉ. शंकरशेष का सन् १९७४ में रचित प्रशंसनीय नाट्यशिल्प है । *''उनका एक नाटक 'अनिकेत' 'घरौंदा' के नाम से प्रकाशित हुआ । 'घरौंदा' नाटक की कथावस्तु पर श्री भीमसेन के निर्देशन में फिल्म बनी है ।''*[१५५] '' 'घरौंदा' को क्रिटिक अवार्डसे भी सम्मानित किया गया था ।''[१५६]

प्रस्तुत नाटक की कथा मुम्बई जैसे महानगर में सामान्य सा वेतन पाकर जीनेवाले मध्यमवर्गीय प्रेमी युगल की जटिल जिन्दगी की करुणान्तिका पेश करती है । छाया और सुदीप एक दफ्तर में क्लर्क की नौकरी करते हैं । दफ्तर के बॉस मोदी छाया में अपनी दिवंगत पत्नीसरला का एहसास करता है । यही कारण है कि छाया की टाइप सम्बन्धी अनेक गल्तियों के बावजूद भी उसने छाया को अपने दफ्तर में भर्ती किया है । सुदीप उसी दफ्तर में एक पुराना और कुशल क्लर्क है जो छाया के कार्यभार में हाथ बँटाकर उसे बार-बार सहायभूत बनता है । धीरे-धीरे दोनों एक-दूसरे के निकट आते हैं दोनों के मध्य कोमलभाव पनपता है । अब दोनों एक-दूसरे को भावि पति-पत्नी के रूप में देखने लगते हैं । अपनी भावि जिन्दगी की शुरूआत करने से पहले वे एक छत और चार दीवारों वाले एक छोटे से सुन्दर घर का स्वप्न संजोते हैं । परन्तु शहर की वास्तविकता यह है कि, *''बीस हजार से कम पगड़ी नहीं । पचास हजार से कम ऑनरशिप का* फलैट नहीं । किराये पर कोई मकान देता नहीं ।''[१५७]

सुदीप इस कठोर वास्तविकता से बेहद मायूस हो जाता है पर छाया उसका हौसला बढ़ाती हुई परामर्श देती है कि *''क्यों न हम लोग हर महीने*

थोड़ा–थोड़ा बचाना शुरू कर दें ।''[१५८] सुदीप उसकी बात को समझो स्वीकार कर कहता है, *''घर तो जब चाहे हो सकता है । लेकिन हमारी समस्या है मध्यवर्गीय नैतिकता का बोझ ।''*[१५९] आखिर दोनों फैसला करते हैं कि सुबह–शाम खान–पान और चाय–सिगरेट जैसे व्यसनों में कटौती करेंगे जब–तक कि घर का स्वप्न पूरा न हो जाए ।

हजारों रुपयों की जोड़–तोड़ की चिन्ता में डूबे सुदीप को अपने ग्रेड प्रमोशन पर रंचमात्र प्रसन्नता नहीं होती है । इस बहाने वह अपने दफ्तरी मित्रों के आग्रह पर व्यर्थ पैसे बहाना मुनासिब नहीं समझता । वह पार्टी की रस्म तक को भूल जाता है । वह फ्लैट के बुकिंग के लिए किसी प्रकार आठ हजार की रकम इकठ्ठी करने के लिए छाया को उसकी चेन और चुडियाँ बेचने के लिए विवश बनाता है । छाया अनमने भाव से वैसा करती भी है पर घरवाला स्वप्न पूरा नहीं होता है, क्योंकि बिल्डर रुपये लेकर नौ–दो ग्यारह हो जाता है ।

दूसरी बार, जब स्थिति सम्भलती है तो छाया का भाई गोविन्द अमरिका जाने हेतु उससे उसकी रही–सही जमापूँजी ले जाता है । अब तो दोनों के पास कोई चारा ही नहीं रहता । अतः दोनों के मन में घोर उदासीनता छा जाती है । कोई मार्ग नहीं सूझता है तो सुदीप बेईमानी का, षड्यन्त्र का रास्ता लेता है । वह छाया से कहता है, *''छाया ! अब हम फिर शुरू करते हैं, तो पाँच साल और ।... आखिर दूर रहना ही हमारी नियति है तो मैं सोचता हूँ.. तो हम भी उसी रास्ते पर* क्यों न चले जिसे शार्टकट कहते हैं । मैं तुम्हें कभी मकान नहीं दे सकूँगा । तुम्हें मोदी सब कुछ दे सकता है ।''[१६०]

छाया, सुदीप के हठाग्रह के वशीभूत होकर मोदी के साथ विवाह कर लेती है । मोदी के उसके त्वरित निर्णय पर महदाश्चर्य भी होता है । आगे चलकर सुदीप की धारणा आत्मघाती सिद्ध होती है । छाया मोदी के अंश को गर्भ में धारण करती है । सुदीप अपने किए पर पश्चाताप करता है और शराबी बन जाता है । मोदी उसे खड़े–खड़े डिसमिस कर देता है । उधेड़बुन स्थिति में वह छाया के नाम पत्र लिखता है जिसमें वो अपने किए का एकरार

करता है । पत्र मोदी के हाथ में आता है, उसे पढ़कर वह सिर पकड़कर बैठ जाता है । छाया घर छोड़कर जाने लगती है पर मोदी साधिकार भावना जताकर उसे रोक लेता है । छाया मुड़कर उसके गले लग जाती है । दोनों तन्मय हो जाते हैं ।

(१४) अरे ! मायावी सरोवर :

'अरे ! मायावी सरोवर' सन् १९७४ में रचित डॉ. शंकर शेष की नौटंकी शैली पर आधारित नाट्य रचना है । *''महाभारत के एक छोटे से कथा प्रसंग से प्रेरित सूत्रधार गायकवृन्द, गीत, संगीत, नृत्य और मुखौटों के इस्तेमाल से फैंटेसीनुमा रूप में बन्धा यह नाटक कई अंकों या दृश्यों में विभाजित होने के बजाय अनवरत चलता है और इसका मध्यान्तर ही इसे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध जैसे मंचनोपयोगी व्यावहारिक हिस्सो में बाँट देता है । कथ्य के स्तर पर यह नाटक चेतना नगर के राजा इल्वलु, उसकी रानी सुजाता और ब्रह्मर्षि ध्यानस्वरूप के माध्यम से एक भिन्न स्तर पर स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के विश्लेषण और विवेचन का ही नाटक है ।''*[१६१]

राजा इल्वलु के नगर में चारों ओर शान्ति है । राजा द्वारा बताए गए समस्त प्रजाकीय कार्यों को मन्त्री ने पूरे कर दिखाए हैं । राजा की दुविधा यह है कि, 'अब, क्या करें ?' मन्त्री के सामने भी यही सवाल कुण्डली मारकर बैठा है कि 'अब, क्या करें ?' अकर्मण्यावस्था में राजा का दम घुटने लगता है पर रानी को अपने काम से फुर्सत नहीं मिलती । वह रानी से अपनी उबाऊ स्थिति से त्राण पाने का मार्ग पूछता है । इस विषय पर रानी तीरथ–यात्रा करने शबरी नरायण, महानदी तट पर चले जाने का सुझाव देती है । राजा को यह सुझाव पसन्द आ जाता है । लेकिन वह रानी को भी साथ ले चलने का दृढ़ाग्रह रखता हे । परन्तु रानी साथ आने से साफ इन्कार कर देती है । क्योंकि उसे हजारों काम है । राजा के सवाल पर कि, 'वह निठल्ला बैठकर क्या करोगी ?' रानी इस पर जवाब देती है, *''एकबार औरत बन के देख, राजा । चौबीस घण्टें उसी में जी टंगा रहेगा ।''*[१६२] किन्तु राजा

आखिर रानी को पटाकर ही मानता है । वे दोनों कन्दनवन प्रवेश करते हैं । सर्वत्र प्रकृतिकी रमणीय शोभा को व्याप्त देखकर राजा प्रसन्नचित्त हो जाता है, किन्तु रानी को घर, बच्चों की और अपने अधूरे कार्यों की याद सत्ता रही है । रानी की दायीं आँख भी फड़कने लगती है । वह भावि अमंगल की कल्पना करके बिना शबरी नरायण के दर्शन किए राजा से वापस लौटने की प्रार्थना करती है । राजा शबरी नरायण के दर्शन किए बिना लौटना नहीं चाहता । इस विचित्र वन में पेड उल्टे लटके हुए हैं, उनकी जड़े आकाश की ओर एवं डालियाँ जमीन की ओर रहती हैं । आकाश का रंग लाल, बादलों का रंग हरा, बीच में तट और दोनों ओर नदी बह रही है । सफेद कौवे, काले हंस, सूण्डवाले शेर, शेर के जबडेवाले हाथी, मुसल के समान घास उन्हें दिखाई देती है । यहाँ का सिंह घास खाता है, गाय माँस खाती है, जुही से दुर्गन्ध आती रहती है और दिन में चाँद उग आता है । रानी इस गड़बड़वाली स्थिति से भौंचक्की सी रह जाती है ।

इतने में विद्यापीठ का कुलपति उल्लू आता है । राजा से अपना परिचय इस प्रकार देता है, *''हार्वर्ड का पीएच.डी., लन्दन का डी.एस.सी., बफेलो का डी.लिट्. और बम्बई का एल.एल.डी. हूँ ।''*[१६३] बीस साल विदेशों में रहने के बाद वह अपने देश में वापस लौटा है और उसका मूलभूत कार्य *''पूरी जनता को निरक्षर बनाना है ।''*[१६४] राजा उसकी रिसर्च सम्बन्धी बातों से प्रभावित हो आगे बढ़ता है । सामने से एक गाय आधुनिक चाल चलती हुई आती दिखाई देती है । वह अपने आपको डेयरी कोर्पोरेशन का मैनेजिंग डायरेक्टर बताती है । रानी अज्ञात भय से कम्पित हो, राजा से वापस लौटने को कहती है, *''राजा ! आग को छुकर नहीं देखते, जहर को पीकर अनुभव नहीं करते ।''*[१६५] परन्तु राजा को ऐसा शौक चर्राया है कि वह मनोरम सरोवर देखकर जलक्रीडा के लिए तत्पर हो जाता है । *''महल में तो तूं लौंडियों से घिरी रहती है, कभी मौका ही नहीं मिला ।''*[१६६] राजा के दृढ़ाग्रह पर रानी तो अनिच्छा प्रकट कर देती है पर राजा सरोवर में चला जाता है ।

सरोवर में स्नान करने के बाद राजा का जातीय परिवर्तन हो जाता है । रानी स्त्रीवेश में अपने पति इल्वलु को बड़ी मुश्किल से पहचान ने के पश्चात् कल्पान्त करती है । रानी तन्त्र–मन्त्र आजमाती है पर राजा अपना मूलरूप नहीं प्राप्त कर पाता । वहाँ के प्रमुख अखबार का सम्पादक श्वानराज राजा के काया–कल्पवाली बात को चारों ओर प्रकाशित कर देता हे । रानी सुजाता राजा को जंगल में छोड़ निराश होकर वापस लौटती है ।

यहाँ राजा की कमनीय काया तपोमग्न ब्रह्मर्षि ध्यानस्वरूप को विचलित कर जाती है । ऋषि से राजा को एक सुन्दर पुत्र कुमार की प्राप्ति होती है । कुछ वर्षों के गुजरने के बाद इल्वलुपुत्र अंशुमाली दिग्विजय के लिए निकलता है । कुमार और अंशुमाली के बीच भिडन्त होती है । रानी सुजाता वहाँ आ पहुँचती है । वह देखती है कि कुमार ने अंशुमाली को परास्त कर बन्दी बनाया है । स्त्री–वेश में राजा कुमार को चेतना नगर के राजसिंहासन के लिए योग्य उत्तराधिकारी के रूप में घोषणा करता है । किन्तु रानी इस मनस्वी निर्णय का प्रतिकार करती है । राजा (स्त्री) द्वन्द्व युद्ध की बात छेड़ता है । ऋषि कुमार और राज कुमार युद्ध रत होते हैं । इतने में इन्द्र का वहाँ अवतरण होता है । इन्द्र दोनों का मनःसमाधान करते हुए राजा के स्त्री–वेश का उद्धार करता है । राजा पुनः इल्वलुराजा के वेश में स्त्री–पुरुष के बीच की आपसी समझदारी की बात प्रस्तुत करता है ।

नाटक में मायावी सरोवर का चित्रण एक प्रतीक के रूप में है । इसकी प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करते हुए सूत्रधार कहता है, *''हमारी कथा के पुरुष को स्त्री, सिंह हो गाय, हंस को उल्लू बनानेवाले तालाब, हमारी जिन्दगी में भौतिक रूप से शायद कभी न आयें, लेकिन अनुभव के धरातल पर हम इनसे बच नहीं सकते । भडिये हमें बराबर इन तालाबों में अपनी सुविधा के लिए डुबोते रहेंगे और हमें वही बना देंगे जो हम नहीं बनना चाहते ।''*[१६७] नाटक का राजा इन तालाबों की एक दूसरी व्याख्या भी देता है, *''मेरी तरह जरूरी नहीं कि आप की जिन्दगी में भी कोई मायावी तालब प्रत्यक्ष रूप से आये, पर जीवन क्या अपने आप में सबसे बड़ा सरोवर नहीं है, सबसे आकर्षक*

सरोवर ? बस, इसमें कूदते रहिए, कुछ क्षणों के लिए पुरुष बनकर कूदिए, स्त्री बनकर निकलिए । स्त्री बनकर कूदिए पुरुष बनकर निकलिए । तब देखिए दोनों में आपसी समझ कितनी बढ़ती है ।''[१६८]

(१५) रक्तबीज :

सन् १९७६ में रचित 'रक्तबीज' नाट्यकृति का पूर्वनाम 'ऑक्टोपस' था । इस नाटक की रचना डॉ. शेषजी ने मानवीय मूल्यों की अवहेलना की प्रतिक्रिया स्वरूप की है । *''सरकारी बैठक में वे तबियत खराब होने से जा नहीं पाए और शब्दावली का सारा श्रेय रिजर्व बैंक को गया । परिश्रम का कहीं उल्लेख नहीं । बड़ा धक्का लगा । मानवी मूल्यों की अवहेलना... उन्हें गहरी ठेस लगी । इसमें से 'ऑक्टोपस' नाटक का जन्म हुआ ।''*[१६९] *''ऑक्टोपस' नामक श्री पेंड़से का मराठी उपन्यास पहले ही लिखा जा चुका था इसलिए नाटक का नाम बदलकर 'रक्तबीज' किया गया ।''*[१७०]

डॉ. शंकर शेष ने 'रक्तबीज' नाटक की प्रस्तुति पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध दो खण्डों में विभाजित करके की है । *''महानगरीय संस्कृति में होनेवाले उच्च-मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति का चित्रण करने के उद्देश्य से डॉ. शेष ने 'रक्तबीज' की रचना की है ।''*[१७१] '' 'रक्तबीज' का रचना आशय वर्तमान जीवन की भाग-दौड़ में अवरोधक की संस्कृति की त्रासदी दिखाना है । आज का मनुष्य इस त्रासदी में जी रहा है । वह सब कुछ जानते हुए भी अपने को उस चक्र से नहीं बचा पाता ।''[१७२]

दो कथाबीजों में विभाजित 'रक्तबीज' नाटक की शुरूआत हत्या-आत्महत्या की समस्या को उठाकर होती है । स्त्री (पात्र) इस विवाद का निरसन करती हुई बताती हे कि *''हत्या और आत्महत्या तो परिणाम है ।... हम सतही बातें छोड़कर बुनियादी सवालों पर बहस क्यों नहीं करते । असली है वह रक्तबीज । हमारी व्यवस्था की साँस-साँस में बैठा वह रक्तबीज । जानते हो, पुराणों में एक राक्षस था इस नाम का । उसे मारने की हर कोशिश नाकाम्याब होती थी, क्योंकि उसकी टपकती रक्त बून्दों से फिर हजारों*

रक्तबीज पैदा हो जाते थे । अगर हम उस देवी की तरह उसे नहीं मार सकते.. तो यह व्यवस्था चलती रहेगी... फिर हत्याओं और आत्महत्याओं का सिलसिला भी ।''[७३]

नाटक के पूवार्द्ध की कथा मि. शर्मा उसकी पत्नी सुजाता और बॉस माथुर भार्गव के बीच घटित होती है । मि. शर्मा एक मध्यमवर्गीय परिवार का आदमी है जो एक फर्म में नौकरी करता हैं । उसकी पत्नी सुजाता एक मालिश का तेल ओर दन्तमंजन बनानेवाली कम्पनी में टाइपिस्ट है, जो चार सौ वेतन पाती है । मि. शर्मा बड़ा बनना चाहता है, वह भी अपनी पत्नी का इस्तेमाल करके । पर वह यह नहीं जानता कि *''महत्त्वाकांक्षा क्रूरता की सबसे बड़ी रखैल है ।''*[७४] वह अपने बॉस को खुश करने के लिए अपने घर आमन्त्रित करता है । बॉस माथुर भार्गव अपने पिता की भाँति औरतों का शौकीन और ऐय्याशी तबियत का आदमी है । मि. शर्मा की धारणा है कि, *''इन लोगों को केवल इनके ही हथियारों से मारा जा सकता है ।''*[७५] वह मेहमान बनकर आए बॉस की हर उचितानुचित शारीरिक चेष्टाओं के लिए एवं उसकी अंकशायिनी बनकर उसकी यौन–सन्तुष्टि के लिए प्रस्तुत होने के लिए पत्नी सुजाता को मना लेता है । पत्नी पति की पदोन्नति के लिए वैसा ही करती है । माथुर भार्गव इसके बदले दोनों की तरक्की कर देता है । मि. शर्मा बन जाता है आसिस्टेन्ट मैनेजर और सुजाता बन जाती है स्टेनो । अन्ततः सुजाता माथुर भार्गव से गर्भवती बनती है । धीरे–धीरे माथुर भार्गव की दिलचस्पी सुजाता में से उठ जाती है । मि. शर्मा भार्गव का इस्तेमाल करके स्वयं मैनेजर बन जाता है । *''आखिर है तो रक्तबीज की सन्तान ।''*[७६]

नाटक के दूसरे दौर में रचनाकार ने एक और कथा प्रसंग को निरूपित किया है । डॉ. शन्तनु एक मेधावी वैज्ञानिक है । वह जिस इन्स्टीटयूट में काम करता है उसका डायरेक्टर डॉ. गोयल क्रूर महत्त्वाकांक्षी है । डॉ. गोयल शन्तनु के रिसर्च पेपर्स पर अपना नाम छपवाता है, वह भी ऊपर । इसके बदले में डॉ. शन्तनु को वह प्रमोशन तथा बंगला देता है, साथ ही कार लोन

भी सेक्शन कर देता है । डॉ. शन्तनु कड़ा परिश्रम करके आविष्कार करना चाहता है । इसके लिए वह अपनी जिन्दगी के वे मूल्यवान ग्यारह वर्ष खर्च कर देता है । पत्नी ललिता के मन में तीव्र सन्तानेच्छा पड़ी है उसके प्रति उसका कोई ध्यान नहीं । वह तो बस अपने रिसर्च में ही मस्त रहता है । इन सब प्रयत्न के संचित फल स्वरूप वह अपना वर्क फोरवर्ड करने डॉ. गोयल को दे देता है । डॉ. गोयल उसका शोध–प्रबन्ध लेकर उसे लम्बी छुट्टी पर भेज देता है । डॉ. शन्तनु और उसकी पत्नी ललिता तीन महीने के बाद वापस लौटते हैं । डॉ. शन्तनु को डॉ. गोयल के समस्त प्रपंचों का पता चल जाता है । डॉ. शन्तनु का मौलिक संशोधन अपने नाम से फोरवर्ड करके वह प्रसिद्ध हो जाता है ।

इस तरह की धोखेबाजी से डॉ. शन्तनु विक्षुब्ध हो जाता है, उसे जबर्दस्त आघात लगता है । अब कुछ न कर पाने की हालत में वह आत्महत्या करने के लिए विवश बनता है । पत्नी ललिता उसके इस तरह के पलायन को पसन्द नहीं करती । वह शन्तनु को डॉ. गोयल की हत्या के लिए प्रोत्साहित करती है । डॉ. गोयल शन्तनु द्वारा हत्या करने से पहले आत्महत्या कर लेता हे ।

(१६) राक्षस :

पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभाजित 'राक्षस' नाटक का रचनाकाल सन् १९७७ का है, हालांकि इसका प्रकाशन डॉ. शंकर शेष की मृत्यु के कई साल बाद सन् १९९० में हुआ । नाटक में नाटककर ने महाभारत के प्रसिद्ध राक्षस बकासुर की कथाको आधार बनाया है । *''हमारे अन्दर बैठा राक्षस जब तक जीवित है वह तब–तक अन्य राक्षसों को भी जन्म देता रहेगा । उसकी आँखों में स्वार्थ और जीभ पर झूठ की लार जम चुकी है । अपने आप को बचा लेने की साजिश में वह सबसे पहले उसे मार देना चाहता है जो उसका विरोधी है, जो उस राक्षसीवृत्ति का शत्रु है ।*'[७७] नाटक की कथावस्तु पूर्वदीप्ति

शैली में प्रस्तुत की गई है । पूर्वार्द्ध में राक्षस से आतंकित नगर का वर्णन है, तो उत्तरार्द्ध में राक्षस के साथ संघर्ष को रूपायित किया गया है ।

'राक्षस' नाटक की वास्तविक शुरूआत विश्वासनगर पर हुए राक्षसी हमलों के ताजा खबर से होती है । आस–पास के गाँववाले ये खबर पाते ही गाँव छोड़कर भाग रहे हैं । कवि (पात्र) इन कायरों को रोकना चाहता है परन्तु कवि के शब्दों पर विश्वास करके रूकने के लिए कोई तैयार नहीं । लोगों की धारणा है कि आज विश्वासनगर तो कल आज़ादनगर, दयानगर, श्रद्धानगर, करुणानगर... कोई नगर सुरक्षित नहीं रह पायेगा । राक्षस के आतंक से । राक्षस के बढ़ते कदमों को रोकने *''राक्षस और सैकडों गाँवों के बीच समझौता''*[७८] हो जाता है । कवि, राक्षस और उसके आतंक के भय से भयतीत होकर समझौता नहीं करने की सलाह ग्रामवासियों को देता है, क्योंकि *''हर समझौता तुम्हें नालायक, कमजोर, नपुंसक और बौना बनाता जाएगा ।''*[७९] *''समझौते से राक्षस की ताकात बढेगी ।''*[८०] लेकिन विद्रोही बोली बोलनेवाले कवि की लोग पिटाई करते हैं । उसे बेहोश बनाकर गाँव के बाहर फेंक देते हैं । लोगों की नजर में कवि मर जाता है । कवि की अप्रत्याशित मृत्यु पर श्वेतादेवी विलाप करती हुई कहती है *''.... अपनी कविता का अर्थ बताने से पहले ही चले गए तुम ।''*[८१]

गाँव छोड़कर गये लोग अब वापस आने लगे हैं । जिनमें लालदास (वैद), पीलाराम (धर्मगुरु), नीलादास (विद्वान) मुख्य हैं । उस गाँव में समझौते के फरिश्ता बनकर बैठे रणछोडदास की गाँववाले सत्कारविधि का आयोजन करते हैं, उसे शान्ति का दूत मानकर उसकी आरती उतारते हैं । उसने लाल, नीला, पीला वस्त्र पहन रखा है । रणछोडदास लालदास, पीलाराम, नीलादास पर ''औ३म् स्वार्थाय नमः'' का मन्त्र फूँककर उन्हें वशीभूत कर लेता है । वे तीनों रणछोडदास के चरण चाटने लगते हैं कि अस्त–व्यस्त हालत में कवि कविता गाता हुआ रणछोडदास को दिखाई पड़ता है । रणछोडदास कवि की भी वही दशा बनाना चाहता है परन्तु स्वार्थमन्त्र के फूँके जाने के बावजूद भी कवि मुस्कुराता रहता है । कवि कहता है *''मेरे पास है एक खतरनाक कविता...*

और जो कविता खतरनाक नहीं वह केवल शब्दों की जुगाली है... बुझी हुई आत्माओं के कोठे में रण्डी का भद्दा नाच है ।''[१८२] कवि कहता है कि वह गाँववालों को समझौते के षड्यन्त्र से जगाएगा । कविता गाकर जनता की सोयी चेतना जगाएगा । किन्तु रणछोडदास उसे रोकता है और लाल,नीला, पीला तीनों व्यक्ति उस पर टूट पड़ते हैं । रणछोडदास के मार्ग का शूल दूर हो जाता है । वह भोली–भाली जनता के सामने राक्षस की अपरिमित – शक्ति और भयंकरता का वर्णन करके सबके मन में राक्षस से प्रति भय पैदा कर देता है । *''राक्षस के एक पाँव में बँधा है विनाश, दूसरे पाँव में मौत, एक हाथ में है कई योजन लम्बा फरसा और दूसरे हाथ में हैं खून इकट्ठा करने के लिए आकाश कुण्ड जैसा खप्पर .... ।''*[१८३]

यम से भी अतिक्रूर उस राक्षस ने ८० गाँवों को निगल लिया है । राक्षस से बचने के लिए ग्रामवासी तीन शर्तों का पालन करते हैं । (१) हररोज एक आदमी को राक्षस से पास भेजना, (२) जवान या प्रौढ़ स्त्री–पुरुष के बदले दो बच्चें भेजें जाएँ और (३) कोई पता नहीं लगाएगा कि राक्षस के लोग उन्हें कहाँ ले जाते हैं ।

रणछोडदास की तिकड़मबाजी एकत्रित जनता को सम्मोहित कर जाती है । जनता हामी भरती जाती है और रणछोडदास लाल, पीले, नीले को पंचायत के सदस्य घोषित करता है । एवं श्वेतादेवी को *''इस हत्यारी पंचायत की अध्यक्षा''*[१८४] बनाकर उसकी मुक्ति को कैद कर देता है । अब राक्षस के पास एक–एक आदमी को नियमित रूप से भेजने की जिम्मेवारी पंचायत के गले मढ़ दी जाती है । पंचायत सबसे पहले कवि को भेजना चाहती है क्यों कि, *''उसके पास एक खतरनाक भाषा है... जो सीधे चमड़ी को चीरकर खून में मिल जाती है । वह झाग (फेन) नहीं, आग पैदा करती है ।''*[१८५] श्वेतादेवी पंचायत के इस फैसले का विरोध करती है पर तीन चौथाई मतोंवाले उसूल के सामने उसकी आवाज दब जाती है ।

नाटक के उत्तरार्द्ध में राक्षस के प्रति संघर्ष की स्थिति तीव्र होती दिखाई गई है । पंचायत के सदस्य लाल, पीले, नीले तीनों मक्कारों की नीचता को

नाटककार ने बड़ी कुशलता से पेश किया है । राक्षस के पास अपनी कविता के द्वारा जनता में विद्रोह की भावना जगानेवाले एवं चेतना प्रसारित करनेवाले कवि को सबसे पहले पंचायत भेजती है । कवि को गाँव के मध्य एक चबूतरे पर खड़ा किया जाता है । उसकी जबान कटी हुई है लहु से चेहरा सना हुआ है । तीनों व्यक्ति 'मेलोड्रामा' करते हैं । जैसे कि उन्हें कवि के बलिदान से तीव्र आघात लगा हो । कवि को माला पहनाकर उसकी कविता, दिलदारी, ईमानदारी, महानता की प्रशंसा करते हुए तीनों जैसे अघाते नहीं । मूर्ख जनता पंचायत के सदस्यों के द्वारा आजमाये जा रहे तरकट से अपरिचित ही रहती है । लालदास, पीलाराम, और नीलाराम मरनेवालों की सूची बनाकर चौराहे पर चिपका देते हैं ।

अब तो ये तीनों प्रपंची शल्यशोधन में इतने एकाग्र हो जाते हैं कि वैयक्तिक लाभ–हानि में बाधा बन रहे किसी भी शत्रु का नाम सूची में आगे–पीछे कर देते हैं । किसी को खेत चाहिए, किसी को जवान औरत तो किसी को चाहिए पाखण्डियों का भण्डाफोड करनेवाले की मौत ।

तीनसाल तक राक्षस की भूख मिटाते हुए अब केवल पंचायत के चारों सदस्य और बच्चे शेष रह गए हैं । श्वेतादेवी लाल, पीला, नीला व्यक्ति को मरने के लिए सन्नद्ध करती है । तीनों का ही स्वर है कि, *''हमारा काम सिर्फ दूसरों में बलिदान, त्याग और नैतिकता की भावना जगाना है ।''*[१८६] *''हमारे सिर्फ अधिकार हैं । कर्तव्यों की संहिता हमने दूसरों के लिए रखी है ।''*[१८७] तीनों व्यक्ति श्वेतादेवी को राक्षस का अगला शिकार होने की धमकी देते हैं । किन्तु श्वेतादेवी ने उन नन्हें बच्चों की फौज तैयार की है, जिनके *''हाथों में सर्जना की खुलजलाहट है ।... साँसों में शताब्दियों से जमीं जड़ता की बर्फ को पिघला देनेवाली गरमी है,''*[१८८] शोर सुनायी पड़ती है । एक तरफ पत्थरों कुदालियों और फावडों को लिए बच्चों का डर दूसरी तरफ राक्षस का डर तीनों व्यक्तियों के अस्थि–पिंजर को शिथिल कर देता है । वे तीनों स्त्री सहित राक्षस के ठिकाने की ओर चल पड़ते हैं । रास्ते में वे स्वार्थमन्त्र के प्रणेता रणछोडदास का स्मरण करके उसे प्रत्यक्ष पाते हैं । वह राक्षस की

संस्कृति के तीनखेल (१) बात–चीत की सभ्यता (२) सच्चा न्याय और (३) सुखमय संसार को पेश कर उसकी सर्वविनाशक यांत्रिकी सत्ता का परिचय देता है । *''राक्षस तो हर कहीं है ।... उसकी अपनी कोई काया नहीं, वह हमेशा दूसरों की काया में जीता है । वह सामने कभी नहीं आता । केवल अपने प्रतिनिधियों के जरिए अपना साम्राज्य फैलाता है ।''*[१८६]

रणछोडदास अजीब सी पिस्तौल चलाकर तीनों व्यक्तियों की आत्माओं को जमा देता है । वह कवि की जबान काटे जाने वाले नाटक का रहस्योद्‌घाटन करता है और कवि की प्रखर समर्थिका स्त्री की आत्मा को भी जमाने का असफल प्रयास करता है । किन्तु स्त्री का संकेत पाकर रक्तिम कमल फूल लिए दृढ़ता से आगे बढ़ रहे लड़के से रणछोडदास को भागना पड़ता है । वह कमल, जिसे उसने *''हजारों साँपों के पहरों में रखा था... हजारों वर्षोंसे भूखे–नंगों के खून से भरे तालाब में उगाया था ।''*[१९०] उस ताजगी, निर्भयता, मुक्ति और आभा के प्रतीक रूप कमल के स्पर्श मात्र से रणछोडदास लड़खड़ाता ढेर हो जाता है । स्त्री (श्वेतादेवी) कवि को उसके सपनों की दुनिया को सम्हालने का आह्‌वान करती है । इस पर कवि राक्षस के अमूर्तरूप को स्पष्ट करता हुआ कहता है, *''अभी तो केवल एक राक्षस के एक प्रतिनिधि को मारा है हमने.... पर राक्षस अभी भी जीवित है । वह नये–नये अमूर्तरूपों में हमेशा आता रहेगा ।''*[१९१]

अन्त में सब एकसाथ मुक्तिदाता कमल फूल की वन्दना करते हैं ।

(१७) पोस्टर :

सन् १९७७ में रचित *'' 'पोस्टर' महाराष्ट्र की कीर्तनशैली में लिखा गया लोक नाट्य है ।''*[१९२] 'पोस्टर' में संगठन की यह कथा कड़वी सच्चाई का वो घूँट है, जो हमें पीना भी है और स्वीकारना भी है । *''यह नाटक मध्यप्रदेश के आदिवासी इलाकों के अनपढ़ गँवार, शोषित और पीड़ित गरीब मजदूरों के बीच सदियों पुरानी जड़ता के टूटने और मजदूरों द्वारा सत्याग्रह एवं संगठित विरोध की अपनी अपरिमित ताकत को पहचानने का नाटक है ।''*[१९३] इसमें

''आदिम जाति के लोगों पर जमींदार तथा वन के अधिकारी द्वारा होनेवाले अत्याचार का चित्रण किया है ।''[१९४]

नाटक की शुरूआत में कीर्तनकार एक जमींदार पटेल द्वारा मजदूरों पर किए गए अत्याचार की कथा सुनाता है । एक घने जंगल में स्थित सौ–दो–सौ बस्ती का एक गाँव है । वहाँ का पटेल गाँव का मुखिया है और पुश्तैनी जमींदारी चलाता है । *''वहाँ चलता है दिन–रात काम । छँटाई का, सफाई का, धुलाई का ।''*[१९५] गाँव में अनपढ–गरीब आदिवासी रहते हैं । जिनको दो जून रोटी भी मयस्सर नहीं होती । पेट पालने के लिए वे यातो खेतीबारी करते हैं या मजदूरी । पटेल अपने मजदूरों को एक रुपये रोज की मजदूरी देता है । पटेल के लिए इतने सस्ते मजदूर मिलना भी मुश्किल है । मजदूर इस बात से अनभिज्ञ हैं कि उनकी कड़ी मेहनत की तुलना में उन्हें बहुत कम पैसा मिल रहा है । *''मालिक की मेहरबानी से हर एक के पेट में दो रोटी पहुँच जाती थी.... और सभ्यता की रक्षा के लिए शरीर का जो भाग ढँकना जरूरी है वह भी ढँक जाता था ।''*[१९६] *''यहाँ मौत बहुत सस्ती थी ।''*[१९७] मालिक जैसा कहता था लोग वैसा ही करते थे । गाँव का मुखिया पटेल अपनी पुश्तैनी परम्परा का बिल्कुल अनुसरण कर रहा है । वह ताकत और धमकी के बदौलत मजदूरों का बेरहमी से शोषण करता है ।

''यह पटेल खून चूसनेवाली उस जोंक के समान है जो मजदूरों के शरीर की एक–एक बूँद का हिसाब ले लेता है ।''[१९८] वह स्वामी अखण्डानन्द को बुलाकर, उससे स्वर्ग और नर्क की व्याख्या करवाकर धर्म का दुरुपयोग करता है । इसके जरिए वह मजदूरों में स्वामी भक्ति के बीज बोता है । वन के अधिकारियों को शराब पिलाकर वह उनकी अभद्र इच्छाओं की पूर्ति करवाता है । सुख–सुविधा पाने के मोह में कारिन्दा और सुखराम नामक दोनों मजदूर अपनी पत्नियों को पटेल के हवाले कर देते हैं । पटेल चूंकि औरतों के जिस्म का भारी शौकिन है ।

एक दिन चैती अपने मैके से पोस्टर उठा लाती है । जिसमें *''मजदूर युनियन जिन्दाबाद... हमारी एकता अमर रहे, हमारी माँगे पूरी करो... हमारी*

रोजी बढ़ाकर चार रुपया करो... अगर ऐसा नहीं करोगे तो परिणाम भयंकर होंगे । वाली विद्रोहात्मक बातें छपी थीं ।''[१९९] मजदूर उसे फैक्टरी में लगे स्वर्ग–नर्क के चित्र के पास चिपका देते हैं । पटेल जब उसे देख लेता है तो उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है । वह चीखता–चिल्लाता है और चार आने मजदूरी बढ़ाकर एवं ऐसी हरकत पुनः न करने की धमकी देकर चला जाता है ।

कल्लू और चैती (पति–पत्नी) मजदूरों में जागृति लाकर संगठित हो जाते हैं, जिस पर पटेल झुकता है और आठ आने रोज मजदूरी बढ़ा देता है । इस घटना से जैसे पटेल की नींद हराम हो जाती है । वह मजदूरों की दुःखती रग दबाकर देखता है । क्रान्ति के अगुवा कल्लू को वह मुकादम बनाता है तो चैती की अपनी हवेली पर डयूटी लगाता है । चैती खूब जानती हे कि यह पदोन्नति पटेल ने यूँ ही नहीं की है, वह जरूर कोई गहरी चाल चल रहा है । पटेल समझता है कि इस घटना से उसे दो फायदे हुए हैं : एक तो चैती की चंचल जवानी और दूसरा मजदूरों में चेतना की जगह आपसी फूट । हालांकि कल्लू किसी भी मूल्य पर चैती को रण्डी बनने से रोकना चाहता है परन्तु सभी मजदूर चैती को पटेल की हवेली पर भेजने के लिए उसे मजबूर करते हैं, क्योंकि रोटी की पीड़ा ने उन लोगों की मर्दानगी को भूला दिया है । उधर पटेल, चैती के हवेली पर न आने के कारण कल्लू की पिटाई करता है और चैती को कुतिया करार देता है ।

आखिर मजदूरों की सोई आत्मा जागती हैं । कल्लू और उसके साथी पटेल को घेर लेते हैं । कल्लू कोडे से पटेल की जमकर पिटाई करता है । इतने में सुखराम पुलिस को लेकर आ धमकता है । कल्लू और उसके साथियों को जमींदार की हत्या करने की कोशिश के सिलसिले में दस–दस साल की सज़ा हो जाती है । चैती को *''जबरदस्ती वहीं पहुँचा दिया गया, जहाँ उसे पहुँचना था ।''*[२००]

(१८) चेहरे :

'चेहरे' नाटक डॉ. शंकर शेष की सन् १९७८ की रचना है । *''क्रूर यथार्थ से साक्षात्कार करानेवाला यह नाटक डॉ. शेष की प्रतिभा की एक और सशक्त अभिव्यक्ति है ।''*[२०१] डॉ. शेषजी ने यह नाटक दूरदर्शन की विशेषताओं को ध्यानमें रखकर लिखा है । *''प्रतिष्ठा के मुखौटे पहनकर प्रतिष्ठित आदमी बनकर समाज का निर्मम शोषण करनेवाले चेहरे आज हर कहीं नजर आते हैं ।''*[२०२] आज के युग में मनुष्य अपनी असलियत (जो भीतर से बड़ी क्रूर, निष्ठुर और डरावनी है) को छिपाने के लिए तरह–तरह के पैंतरे रचता है, सज्जनता का दम्भ करता है, सदाचार और सच्चरित्रता का अंचरा ओढ लेता है, अपने मूल चेहरे को छिपाने हेतु नकली चेहरा चिपकाकर समाज को छलता है । दोहरी जिन्दगी जीनेवाला तथाकथित आधुनिक मानव मानव–सभ्यता के लिए बहुत बड़ा खतरा बन गया है । समाज के लिए शल्य सिद्ध हुए ऐसे नकाबपोशियों की वास्तविक पहचान करानेवाला यह नाटक है 'चेहरे' । *''चेहरे अर्थात् हमारे चेहरे, सबके चेहरे, अन्दर से कुछ, बाहर से कुछ दिखनेवाले चेहरे । चोर की खाल में ईमानदार और साहू की खाल में चोर.... जो दिखता है वह वैसा है भी या नहीं ?.... प्रत्येक चेहरा खुद ही अपनी वास्तविकता व्यक्त करने पर विवश हो जाता है ।''*[२०३]

डॉ. शंकरशेष ने समाज के तथाकथित प्रतिष्ठित लोगों के पाखण्ड का पर्दाफाश करते हुए उसे बेनकाब किया है । इस सच्चाई को प्रकट करने के लिए उन्होंने गाँव के एक चर्चित व्यक्ति भरोसेजी की अन्त्येष्टि विधि को माध्यम बनाया है । इसका कथासूत्र इस प्रकार है – गाँव के एक सच्चरित्र ईमानदार समाज सेवक भरोसेजी की मृत्यु हो गई है । सारा गाँव उनकी शवयात्रा में शामिल है । जब भरोसेजी की अन्तिम यात्रा शुरू होती है तब मूसलाधार वर्षा होती है । सभी एक खण्डहर में आश्रय लेते हैं । वहाँ बैठे पण्डित, साहुकार, परमानन्द, गेदासिंह सब बातों–बातों में ही बहस करने लगते हैं । तभी भवानी के आग्रह से वातावरण में गम्भीरता लाने के लिए

भजन–कीर्तन किया जाता है । तब कहीं जाकर शोक सभा सा लगने लगता है । सभा का अध्यक्ष परमानन्द बनता है ।

शोक सभा में शामिल होते हुए भी खम्बाटा और कुमार बिजनेस की बातें करने लगते हैं । सभी को शोक सभा में तल्लीन होता देखकर मौका पाकर विनोद कमली का सन्दूक चुराने का प्रयत्न करता है । लेकिन वह गेन्दासिंह द्वारा रंगे हाथों पकड़ा जाता है । गेन्दासिंह भी कोई कम न था । विनोद अगर चोर था तो गेन्दासिंह धोखेबाज । इसलिए दोनों लगभग एक ही जात के होने के कारण चुराए गए माल का आपस में बँटवारा कर लेते हैं । तभी दोनों में झपट होने लगती है । उनकी आवाज सुन रमाकान्त अपने साथियों को बुला लाता है । शोक सभा के लिए आए लोग तहकीकात की सभा प्रारम्भ करते हैं । वहाँ आए सभी लोग लाश को तो भूल ही जाते हैं । चोरी के इस मामले को सुलझाने में लग जाते हैं । इस चोरी के बहाने पंचों की असलियत का पता चलता है । भरोसेजी और अध्यापिका के सम्बन्धों की चर्चा होने लगती है । अध्यापिका भरोसेजी के साथ अपने सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करती हुई कहती है कि, *''भरोसेजी मुझे एक वेश्यालय से निकालकर लाये थे ।... हम दोनों ने मिलकर संकल्प किया था कि बची हुई जिन्दगी दूसरों के लिए जिएँगे ।''*[२०४] वे *''मेरे लिए सबकुछ थे ।''*[२०५] पति, मित्र, गुरु कुछ भी कह लो । *''भरोसेजी मुझसे विवाह करना चाहते थे । लेकिन मैंने मना किया था । मैं नहीं चाहती थी कि उनकी प्रतिभा को धक्का लगे । अगर इस बारे में अपराधी कोई है तो मैं... भरोसेजी नहीं ।''*[२०६]

इस प्रकार एक दूसरे के चरित्र पर लांछन लगाने में और नोच–खसोटने में समय व्यतीत हो जाता है । बरसात थम जाती है । प्रेस–रिपोर्टर और फोटोग्राफर आते हैं तो सभीलोग अलग–अलग मुद्राओं में फोटो खिंचवाने लगते हैं ।

(१६) कोमल गान्धार :

सन् १६७० में सृजित 'कोमल गान्धार' नाटक *''संरचना की दृष्टि से दो भागों – पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित है । पूर्वार्द्ध में गान्धारी के विवाह से लेकर सन्तानोत्पत्ति और उत्तराधिकार के उलझे प्रश्न का चित्रण है तो उत्तरार्द्ध में मन के स्तर पर एक–दूसरे से उदासीन पति–पत्नी और उनकी ममत्वहीन उपेक्षित सन्तान के मनोविज्ञान एवं दुष्परिणामों के साथ–साथ गान्धारी और धृतराष्ट्र के एक–दूसरे को पहचानने तथा कुन्ती और विदुर के एक–दूसरे से मिलकर स्वेच्छा से दावाग्नि में उन सबके आत्मदाह का संकेत दिया गया है ।''*[२०७] नाटक का फलक विस्तृत एवं व्यापक है । नाटककार ने 'कोमल गान्धार' के माध्यम से नारी जीवन की विडम्बना को प्रस्तुत किया है । अनादि काल से नारी का शोषण होता आया है । पुरुष का प्रचण्ड अहं उसका इस्तेमालकर उसकी कोमल भावनाओं, सुन्दर स्वप्नों को क्षतविक्षत करता रहा है । *''डॉ. शेष ने 'कोमल गान्धार' लिखकर दुबारा महाभारतीय मिथ को अपनाया । इसके पूर्व डॉ. शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य' लिखकर इसे अपनाया था । संजय, भीष्म, धृराष्ट्र, शकुनि, गान्धारी जैसे महाभारतीय चरित्रों को लेकर चलनेवाली इस कृति में नाटककार ने धृतराष्ट्र तथा गान्धारी के संघर्ष को प्रस्तुत किया है । डॉ. शेष ने गान्धारी के चरित्र को नये आयामों में उपस्थित कर इस कृति को दर्शन एवं चिन्तन के धरातल पर भी सशक्त बनाया है । क्षण के मोह की बात यहाँ भी प्रतिबिम्बित है । गान्धारी के जीवन की शोकांनिका भी इसी क्षण के मोह पर आधृत है । जीवन में पत्नीत्व से मातृत्व सबल होता दिखाकर नाटककार ने इस क्षण के मोह का चिन्तन प्रस्तुत किया ।''*[२०८]

नाटक का प्रारम्भ गान्धारी के हस्तिनापुर आगमन की यात्रा से होता है । गान्धार नरेश सुबल अपनी कायरता और विवशता के वशीभूत होकर अपनी बेटी का विवाह जन्मान्ध धृतराष्ट्र से करते हैं । यह विवाह दोनों के लिए अभिशाप बन जाता है । गान्धारी और शकुनि धृतराष्ट्र के जन्मान्धत्व वाले तथ्य से अनभिज्ञ हैं । युवा–सुलभ भावों से वह स्पन्दित होती है और

भावि पति का मन में काल्पनिक चित्र देखने लगती हैं, *''वे किसी देवदार के वृक्ष की तरह ऊँचे है, गान्धार के पठारों की तरह उनकी छाती चौड़ी है, माथा आकाश के टुकडे की तरह, धारदार नाक और सूर्य के बच्चे की तरह चमकती है उनकी आँखें ।''*[२०६]

लेकिन हस्तिनापुर पहुँचने पर एक दासी द्वारा अपने पति के विकलांग होने की बात सुनकर उसके सारे अरमान चूर–चूर हो जाते हैं । उसे सत्य का पता चलता है कि उसके साथ राजनीतिक षड्यन्त्र खेला गया है । उसे *''राजरक्त से जन्मे एक शरीर से ज्यादा कुछ नहीं माना गया ।''*[२१०] वह इस विश्वासघाती, घिनौने छल–प्रपंच एवं अन्याय का बदला आजन्म अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे रखने की सार्वजनिक घोषणा करके लेती है । वह अपने कर्तव्यों से मुँह मोड़ लेती है और आत्मकेंद्रित हो जाती है । वह आदर्श पतिव्रता के रूप में कुरुवंश में महासती का गौरव हाँसिल करके भी निरपराध धृतराष्ट्र को क्षमा नहीं कर पाती । पति के अतिशय अनुरोध के बावजूद वह आँखों पर से पट्टी नहीं हटाती । गान्धारी की उपेक्षा धृतराष्ट्र को एक दासी के प्रति जाने के लिए प्रेरित करती है ।

हस्तिनापुर के उत्तराधिकारी की समस्या से भीष्म पीड़ित हैं इसीलिए वे पाण्डु के भी दो विवाह कर देते हैं । *''भीष्म ने दूसरों के बच्चें ही पाले हैं । दूसरों का ब्याह कराया हे । और तो और, अपने पिता का भी ।''*[२११] पाण्डुरोग से पीड़ित महाराज पाण्डु दोनों पत्नियों के साथ राज्य त्याग कर तपस्या के बहाने नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने के उदेश्य से वन में चले जाते हैं । वहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है । माद्री सती होती है । कुन्ती अपने और माद्री के बच्चों को लेकर हस्तिनापुर लौटती है । इधर गान्धारी माँ बनती है । पुत्र दर्शन की अभिलाषा को उसकी विषाक्त अहम्भावना और कटुता पूरी होने नहीं देते । प्रतिशोध और घृणा की भावना इसे सदैव पत्नीत्व और मातृत्व के सुख से वंचित रखता है । गान्धारी सौ पुत्रों की प्रसूता तो बन जाती है लेकिन मातृत्व का भाव उसे छू तक नहीं पाता है ।

उत्तरार्द्ध का आरम्भ गान्धारी और धृतराष्ट्र संवाद से होता है । दुर्योधन अपने आपको हस्तिनापुर का एकमेव अधिकारी बताते हुए पाण्डवों को सुई की नोंक जितनी भी जमीन न देने के कि उदण्डता दिखाता है । धृतराष्ट्र गान्धारी की जड़ महानता की अपेक्षा कुन्ती की ममत्वपूर्ण भूमिका की प्रशंसा करता है । दृश्यान्तर के साथ ही संजय के संवाद से युद्ध में कौरवों की पराजय का समाचार मिलता है । संजय, गान्धारी और धृतराष्ट्र को मरणासन्न दुर्योधन के पास ले जाता है । *''इन भावुक क्षणों में गान्धारी अब पट्टी खोलने की इच्छा व्यक्त करती है परन्तु धृतराष्ट्र विजेता पाण्डवों के सामने उसे छोटा, अविश्वसनीय और साधारण होते हुए नहीं देख सकते ।''*[२१२] जीवन–संध्या के क्षण वे दोनों परस्पर के अहम्भाव त्यागकर अब जुड़ते हैं । रागद्वेष और क्षुब्धमन अब शान्त है । गान्धारी पट्टी खोल देती है । वह धृतराष्ट्र का हाथ पकड़कर उन्हें उसी वन की ओर ले जाती है, जिधर कुन्ती और विदुर गए हैं । दोनों दावानल में आगे लगातार आगे बढ़ते जाते हैं ।

(२०) आधी रात के बाद :

'आधी रात के बाद' डॉ. शंकर शेष की अन्तिम नाट्य रचना है । इसका सृजनकाल सन्१९८१ का है । एक ही अंक और एक ही दृश्यबन्ध में सुनियोजित इस नाटक का पूरा कार्य व्यापार मध्यरात्रि के बाद घटित होता है । 'आधी रात के बाद' के माध्यम से लेखक ने समाज के उन सफेदपोश प्रवंचकों की काली–करतूतों का भण्डाफोड़ किया है, जो बलात्कार करते हैं, घर जलाते हैं, हत्या करवाते हैं, लाखों रुपये खा जाते हैं तथा हर किस्म के जुल्म गुजारते हैं, तथापि समाज के बीच सिर उन्नत करके घूमते हुए रंचमात्र लज्जित नहीं होते । नाटककार ने नाटक की कथा को पूर्वदीप्ति पद्धति में प्रस्तुत किया है । यहाँ नाटककार ने अपराधी को नहीं परन्तु न्यायधीश को कठघरे में खड़ा किया है । जासूसी कथावृत्त पर आधारित होते हुए भी *''यह नाटक उद्देश्य प्रधान है । जज, कानून, अदालत और पुलिस में व्याप्त भ्रष्टाचार को नाटककार चोर के माध्यम से अनावृत्त करता है ।''*[२१३]

नाटक का सूत्रपात न्यायमूर्ति राघवेन्द्रसिंह के मकान में रातके बारह बजे राजकुमार या राज नामक चोर के घूस आने से होता हे । जजसाहब पुलिस कमिश्नर को डायल करता है लेकिन कोई रिस्पोन्स नहीं मिलता है । वस्तुतः चोर को बाहर की दुनिया रास नहीं आती । उसका विश्रान्ति स्थान तो जेल का बैरक है । जिसमें तरह–तरह के अपराधी शामिल है । जैसे – *''डाक्टर, इंजीनियर, बैंकवाले, अफसर, वकील''*[२१४] इत्यादि । अपनी बैरकवाले वकील ने यह रास्ता उसे बताया है । कि *''सीधे किसी जज के घर में चोरी करो । कम से कम उसका नाटक करो । जज सीधे पुलिस को फोन करेगा और उसकी गवाही से एक पेशी में मामला निपट जाएगा ।''*[२१५] चोर मामले को संगीन रूप देना चाहता है लेकिन जज के *''घर में तो कुछ नहीं है । एक ऑवरसियर के घर के जितना सामान भी नहीं है ।''*[२१६] चोर की यह ग्यारहवी चोरी है । पर जज साहब के घर में *''ढाई सौ रुपये की कोई चीज ही नहीं''*[२१७] मिलती । ढाई–सौ रुपये की चीज के अभाव में झूठ–मूठ की स्टोरीसे काम चल सकता हैं, क्योंकि *''हर मुकदमें में दो इस्टोरी सुननी पड़ती है... जब नहीं होती तो बनानी पड़ती है न ।''*[२१८] जज साहब पुनः नम्बर डायल करता है परन्तु इस बार भी उन्हें कोई रिस्पोन्स नहीं मिलता ।

इस ऊबाऊ स्थिति से तंग आकर चोर जज के सामने अपने अतीत के किस्सों को खोलता है । किस्सा क्या खुलता है, सफेदपोशी वर्ग के गोरखधन्धे का पर्दाफाश होता है । चोर की बातों में तथ्य छिपा जानकर जज साहब इन्हें सुनने की उत्सुकता जताता है । चोर क्रमशः एक–एक किस्से, चौर्य प्रसंग के जरिए रहस्यस्फोट करता जाता है ।

किस्सा–१ : में फिल्म प्रोड्यूसर के घर वह चोरी करके उसकी बीस–लाख की ब्लैक मनी उठा लेता है । परन्तु मालिक के आ जाने से वह भाग नहीं सकता । वह उसकी दुःखती रग पहचानता हैा इन्कमटैक्षवालों के छापे एवं बदनामी के भय से वह काँपने लगता है । आखिर वह समझौते के लिए तैयार हो जाता है । सूटकैस में से एक लाख रुपये निकाल कर बाकी

सब रुपये वह फिल्म प्रोड्यूसर को वापस कर देता है । घर के नौकर को 'प्रोमिस' के पचास हजार दे देता है । वह जज से कहता है कि *''पच्चास हजार तो उस नौकर को दे दिया । प्रोमिस था प्रोमिस । आखिर अपना भी कोइ उसूल है ।''*[२१६] जज साहब जानना चाहता है कि उसने फिर पचास हजार का क्या किया ? चूंकि चोर इसका उत्तर न देते हुए अपनी बात आगे जारी रखता है । जजसाहब को चोर की रहस्यमय बातों में दिलचस्पी लगती है ।

किस्सा–२ : में वह बताता है कि *''अगर एक नपुंसक आदमी ने एक औरत को धोखा देकर शादी की तो उस औरत ने धोखा देकर देह का सुख उठा लिया तो उसमें बुराई क्या ?''*[२२०] चोर की बातों में जज साहब का विश्वास जगता है । चोर आगे बढ़ता है और किस्सा–३ सुनाता है । जजसाहब गम्भीर हो जाता है ।

किस्सा–३ : में वह बताता है कि उसने रसूलभाई के साथ मिलकर भोपाल में फर्नीचर का धन्धा शुरू किया । वहाँ उसे रागिनी नामक एक युवती का प्यार प्राप्त होता है । दोनों शादी के लिए तैयार हो जाते हैं । शादी करीब–करीब तय हो चुकी थी कि शहर में बड़े–बड़े व्यापारियों की तिजौरियाँ खुलने लगीं । अखबारों ने बम्बई की गैंग का नाम लेकर चीखना शुरू किया । देखते–देखते बम्बई की पुलिस आयी और सन्देह के आधार पर उसे पकड़ कर ले गयी । कुछ नहीं हुआ । पुलिस ने उसे छोड़ दिया परन्तु वहाँ से छूटते ही एक और मुसीबत माथे पर पड़ती है । उसके पुराने दोस्त उसके पास समाज सेवक के घर में पड़ा नये ढंग का सेफ खोलने का प्रस्ताव लेकर आते हैं और साथ न देने पर पुलिस में उसकी पुरानी जिन्दगी की रिपोर्ट कर देने की धमकी देते हैं । वह विवश बन जाता है । उन लोगों के इशारों पर वह समाज सेवक के घर का बिल्कुल नये ढंग का *''नोटों से, सोने के बिस्कुटों से''*[२२१] भरा सेफ खोलने के गुनाह में पकड़ा जाता है और सज़ा हो जाती है ।

किस्सा–४ : में वह उसकी घोर लाचारी का वर्णन करता है । अपनी दशा सुधारने के लिए वह सिनेमा के टिकट ब्लैक करनेवाली गैंग में भर्ती हो गया था । सट्टेवाला बड़ा सेठ रोज के पाँच रूपये देता था । पुलिस का रेकोर्ड ठीक करने के लिए दादा लोग अपने नौकरों को बारी–बारी से जेल भेज देते थे । एक दिन उसे भी भेज दिया गया । बस, गुनाहीत जिन्दगी की जैसे शुरूआत हो जाती है ।

अब वह जज साहब को कुछ ताजे किस्से, जिसके पीछे की राजनीतिक गहरी चाल से खुद जज साहब भी अनजान है, सुनाता है । वह कहता है कि पुरानी तीन मंजिला चाल में आग लगाकर उसके स्थान पर बड़ी बिल्डिंग खडी करके लाखों की पूंजी इकठ्ठी करनेवाले उन सफेदपोशी गुनहगार के बर्बर इरादे को क्या अदालत जानती है ? हाँ, आग लगने के कारणों की तहकीकात करनेवाला और उसकी रुह तक पहोंचनेवाले गरीब पत्रकार को ट्रक के नीचे कुचलवा देनेवाले शयतानों को वह जानता है । जिस प्रकार प्रि–प्लान आग लगायी गई उसी प्रकार पत्रकार को हमेशा खामोश कर दिया गया । इसका वह प्रत्यक्षदर्शी गवाह है । वह यह भी बता देता है कि इस मुकदमे का वास्तविक अपराधी और उसके गुण्डे उसके पीछे पड़े हैं और उसे ढूँढते–ढूंढते यहां तक आ चुके हैं ।

नाटक की कथा रोमांचक मोड़ तब लेती है जब चोर जजसाहब को ब्रीफकेस बताता है । जो उसी पत्रकार का है जिसे ट्रक नीचे कुचलवा दिया गया । जिसमें समाज के उन प्रच्छन्न शत्रुओं के काले साम्राज्य का दस्तावेज संग्रहीत हैं । जजसाहब नम्बर डायल करके देखता है । पुलिस रवाना होती है । चोर मुस्कुराता हुआ किचन में घूस जाता है । नाटक का इस प्रकार समापन हो जाता है ।

सन्दर्भ सूची :

१	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१३
२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१३
३	प्रेमचन्द कथा साहित्य समीक्षा और मूल्यांकन : डॉ. धर्मध्वज त्रिपाठी, पृ.७९
४	'बाढ का पानी' डॉ. शंकर शेष, पृ.५
५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१३
६	डॉ. शंकरशेष का नाटक साहित्य, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ.१०
७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.२९
८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.२८
९	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१३
१०	नाटककार शंकरशेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ.२
११	नाटककार शंकरशेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ.२
१२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.३५
१३	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.३६
१४	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.३७
१५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.५४
१६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.५४
१७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.३७
१८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४३
१९	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४७
२०	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.३६

२१	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (मेरा छोटा भाई, कृष्णराव शेष), पृ.९२
२२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (मेरा छोटा भाई, कृष्णराव शेष), पृ.९२
२३	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (मेरा छोटा भाई, कृष्णराव शेष), पृ.९र
२४	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१४
२५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१४
२६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.५८
२७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१६
२८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१४
२९	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१४
३०	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१५
३१	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१५
३२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१६
३३	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८७
३४	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८८
३५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१४
३६	नाटककार शंकर शेष –सुनीलकुमार लवटे, पृ.३
३७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१५
३८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१५
३९	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२३

४०	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२४
४१	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२५
४२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२ ८
४३	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१४
४४	नया विवाह : कहानी, प्रेमचन्द से, उद्दधृत, पृ.५
४५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४६
४६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४६
४७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.७१
४८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.७१
४९	सारिका – रेणुस्मृति अंक, १ से १प अप्रेल १९७९, काठ के तख्ते पर मस्तीकी करवट, श्री रामकृष्ण, पृ.२२
५०	दृष्टव्य – डॉ. सेठ गोविन्ददास, देश रत्न, राजेन्द्रप्रसाद, पृ.६५
५१	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८९
५२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२४
५३	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (मेरा छोटा भाई, कृष्णराव शेष), पृ.९३
५४	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४५
५५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२८
५६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२५
५७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.२५
५८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.६४
५९	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.३३

६०	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.६६
६१	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४९
६२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.७०
६३	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('शंकर शेष, एक जीवन्त स्मृति', डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री), पृ.७९
६४	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८५
६५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८५
६६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८७–८८
६७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('स्व. शंकर भैया', गोपालराव शेष), पृ.९१
६८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.२०
६९	नाटककार शंकर शेष – डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ.५
७०	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.२१
७१	सारिका, अंक र७९, पृ.६
७२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८८
७३	रंगधर्मी नाटककार : शंकर शेष, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ.२५
७४	रंगधर्मी नाटककार : शंकर शेष, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ.२५
७५	नाटककार शंकर शेष – डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ.६
७६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.५८
७७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.६
७८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४६
७९	रंगधर्मी नाटककार : शंकर शेष, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ.२१
८०	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.४८
८१	सारिका, अंक–३०१, पृ.२२
८२	सारिका, अंक–३०१, पृ.र७

८३	सारिका, १० जनवरी १९८२ में प्रकाशित
८४	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('स्मृति चित्र', अनिल शर्मा कालेले), पृ.१०५
८५	सारिका, अंक–३०१, पृ.२२
८६	शंकर शेष के नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन, डॉ. रमाकान्त दीक्षित, पृ.३२
८७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.९०
८८	सारिका, अंक–र७९, पृ.६
८९	सारिका, अंक–३०१, पृ.३७
९०	सारिका, अंक–३०१, पृ.३७
९१	सारिका, अंक–३०१, पृ.२२
९२	सारिका, अंक–३०१, पृ.२२
९३	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('शंकर शेष, एक जीवन्त स्मृति', डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री), पृ.८०
९४	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('उन्होंने मुझे बेहद सहयोग दिया' – भीमसेन), पृ.८३
९५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८८–८९
९६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, 'मूर्तिकार' पृ.६२
९७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, 'बाढ का पानी' पृ.१४५
९८	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (स्व. शंकरभैया', गोपालराव शेष), पृ.९१
९९	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (मेरा छोटा भाई, कृष्णराव शेष), पृ.९३
१००	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.८९–९०
१०१	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१५
१०२	राजपथ से जनपथ : नट शिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.४०
१०३	राजपथ से जनपथ : नट शिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.४०
१०४	धर्मयुग – १५–र१, नवम्बर, १९८१
१०५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.७३
१०६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('रचनाधर्मी शंकर शेष – रज्जन त्रिवेदी), पृ.९०

१०७	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१९
१०८	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६१
१०९	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६९
११०	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.७०
१११	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६२
११२	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.९१
११३	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६३
११४	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३०
११५	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२१
११६	'शकुन्तला की अँगूठी', सुरेन्द्रवर्मा, पृ. १११
११७	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१६
११८	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२०
११९	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३०
१२०	राजपथ से जनपथ : नट शिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.७३
१२१	'नयी सभ्यताः नये नमूर्ने', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९
१२२	'नयी सभ्यताः नये नमूर्ने', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२३
१२३	'नयी सभ्यताः नये नमूर्ने', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२१
१२४	'नयी सभ्यताः नये नमूर्ने', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.५५
१२५	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३४
१२६	'तिल का ताड', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.७४
१२७	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. १२
१२८	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. १२
१२९	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९८
१३०	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९९
१३१	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९८
१३२	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३६
१३३	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. १२

१३४	'नई राह', हरिकृष्ण प्रेमी, पृ. १६
१३५	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक, डॉ. रीता कुमार, पृ. १०७
१३६	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक, डॉ. रीता कुमार, पृ. १०६
१३७	रविवार, १४–२०, अप्रैल, १९८५, पृ.५४
१३८	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३८
१३९	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ४३
१४०	राजपथ से जनपथ : नट शिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.९६
१४१	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक, डॉ. रीता कुमार, पृ. १०८
१४२	डॉ. शंकरशेष का नाटक साहित्य, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ. ६१
१४३	'फन्दी', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६०
१४४	'फन्दी', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६०
१४५	राजपथ से जनपथ : नट शिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.१०९
१४६	राजपथ से जनपथ : नट शिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.१०५
१४७	'फन्दी', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.४४
१४८	हिन्दी नाटक : आजकल, डॉ. जयदेव तनेजा, (संवेदनशीलता की त्रासदी) पृ.९२
१४९	गोविन्द चातक, आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना, पृ.८६
१५०	हिन्दी नाटक : आजकल, डॉ. जयदेव तनेजा, (संवेदनशीलता की त्रासदी) पृ.९३
१५१	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२८३
१५२	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२८३
१५३	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३०३
१५४	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१८०
१५५	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० (सबसे अन्त में और सबसे पहले – डॉ. विनय), पृ.१६
१५६	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.६६
१५७	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
१५८	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
१५९	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
१६०	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४५
१६१	हिन्दी नाटक : आजकल, डॉ.जयदेव तनेजा, पृ.५५

१६२	'अरे! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९२
१६३	'अरे! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९७
१६४	'अरे! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९७
१६५	'अरे! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९८
१६६	'अरे! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२०१
१६७	'अरे! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२३२
१६८	'अरे! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२३२
१६९	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.५९
१७०	शंकरशेष रचनावली, खण्डःएक, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९० ('एक साथ की गाथा' – श्रीमती सुधाशेष), पृ.५९
१७१	नाटककार शंकर शेष, डॉ.सुनीलकुमार लवटे, पृ.६२
१७२	शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०,'दो शब्द' से उद्धृत
१७३	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३७२
१७४	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३७६
१७५	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३७८
१७६	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३९३
१७७	शंकर शेष का नाट्य संसार, डॉ. नीना शर्मा, पृ.८२
१७८	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१३१
१७९	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१३२
१८०	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१३२
१८१	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१३२
१८२	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१४३
१८३	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१४६
१८४	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१५३
१८५	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१५४
१८६	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१७२
१८७	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१७२
१८८	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१७३
१८९	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१८२

१९०	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१८४
१९१	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१८४
१९२	नाटककार शंकर शेष, डॉ.सुनीलकुमार लवटे, पृ.६७
१९३	हिन्दी रंगधर्म दशा और दिशा, जयदेव तनेजा, पृ.२९
१९४	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.१६०
१९५	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२९४
१९६	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२९१
१९७	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२८९
१९८	शंकर शेष का नाट्य संसार, डॉ. नीना शर्मा, पृ.९६
१९९	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३०३–३०४
२००	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२१
२०१	'चेहरे', भूमिका, डॉ. विनय, पृ.८
२०२	रंगकर्मी नाटककार, शंकरशेष, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ.१०४
२०३	'चेहरे', भूमिका, डॉ. विनय, पृ.२२४
२०४	'चेहरे', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२७८
२०५	'चेहरे', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२७८
२०६	'चेहरे', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२७८
२०७	हिन्दी नाटक : आजकल, डॉ. जयदेव तनेजा, (स्त्री–पुरुष सम्बन्ध), पृ. ५८
२०८	नाटककार शंकर शेष, डॉ.सुनीलकुमार लवटे, पृ.१६
२०९	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.४३१–४३२
२१०	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.४३३
२११	भीष्म की आत्मकथा, डॉ. शंकरशेष, सारिका, अंकः३०१, पृ.२५
२१२	हिन्दी नाटक : आजकल, डॉ. जयदेव तनेजा, पृ.५७
२१३	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकरशेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ.१९३
२१४	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२४
२१५	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२६
२१६	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
२१७	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२८
२१८	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३३०–३३१

२१९	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३३६
२२०	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३३८
२२१	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३३८

द्वितीय अध्याय

समसामयिकता : स्वरूप एवं आयाम

द्वितीय अध्याय
समसामयिकता : स्वरूप एवं आयाम

(१) विषय प्रतिपादन :

आधुनिक युग में और विशेषतः सन् १९६० के बाद साहित्य की विभिन्न संज्ञाओं पर व्यवस्थित रूप से विचार हुआ है । नये आन्दोलन जगते हैं और नयी संज्ञाएं अस्तित्व में आती हैं, तब उन पर विभिन्न कोणों व दृष्टियों से सोचने का स्तुत्य प्रयास साहित्य जगत में निरन्तर हुआ है । यद्यपि आज की स्थिति इस दृष्टि से सन्तोषजनक कही जा सकती है । साहित्य में व्यवहृत उन संज्ञाओं को लेकर विवाद केवल हमारे यहाँ ही नहीं, अन्यत्र भी ठीक–ठीक प्रमाण में उठा है । स्थल, काल, परिवेश, सामाजिक स्थित्यन्तरों, जनमानस की बदलती हुई मानसिकता के सन्दर्भ में साहित्यिक विभावनाओं में परिवर्तन हमेशा होता रहा है । ऐसी संज्ञाओं में, उनके अर्थ में संकोच एवं विकास की प्रक्रिया का होना भी बिलकुल स्वाभाविक है । परिणति के रूप में तब उन संज्ञाओं को लेकर पर्याप्त मात्रा में मतमतान्तर चल पड़ते हैं, उलझन पैदा होती है । इतना ही नहीं तत्सम्बन्धी प्रश्न व अभिप्राय पेचीदा बन जाता है । कभी–कभी संज्ञा को लेकर किए गए अर्थविधान संज्ञा–विमुखता की स्थिति पैदा कर देता है । ऐसा होना सहज बात है । किन्तु ऐसे वक्त पर किसी भी संज्ञा को उसके समग्र परिप्रेक्ष्य में देखना अनिवार्य हो जाता है । उसमें समय–समय पर हुए परिवर्तनों की प्रक्रिया का अंकन करना चाहिए । संज्ञा जिस प्रकार से और जिन कारणों से इधर–उधर होती है, यह सब लक्ष में लेना चाहिए । महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों में उसका कहाँ–कहाँ सूक्ष्मतापूर्वक विनियोग हुआ है और कैसे परिणाम सामने आये हैं ? उससे कैसे परिणाम निर्मित हुए हैं ? इन सबका धैर्यपूर्वक विचार करना अनिवार्य है । अर्थात् उसकी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में जाँच–पडताल होनी चाहिए । जिससे कि यह संज्ञा अधिक स्पष्ट हो

सके । तब सम्भव है कि हम संज्ञा के मूल अर्थ के करीब पहुँचने में सफल हो सके ।

'समसामयिकता' शब्द प्रयोग के साथ ही समानान्तर विचार प्रक्रिया प्रबुद्ध पाठक के मन में जगती है कि, यह 'समसामयिकता' क्या चीज है ? साहित्य में उसकी क्या आवश्यकता है ? कौन–कौन से रूप में यह निरुपित होती रही है ? रचनाकार उसके निरूपण के लिए क्यों विवश बनता है ? साहित्यकार उसका प्रयोग करके क्या सिद्ध करना चाहता है ? चूंकि ऐसी प्रश्नावली ही हमें 'समसामयिकता' के मूल तक ले जा सकती है । और उसकी वास्तविक पहचान दिलाने में सहयोगी हो सकती है ।

अतः मेरा सबसे पहला उपक्रम होगा 'समसामयिकता' की अवधारणा स्पष्ट करना । तदनन्तर उसकी निष्टवर्ती सज्ञाओं के साथ उसका सम्बन्ध और भेद विषयक विवेचन करना, जिससे कि विवेच्य संज्ञा की अवधारणा का मूल स्वरूप स्पष्ट हो सके और उसका समग्र अर्थबोध प्राप्त हो सके ।

(२) समसामयिकता : व्युत्पत्ति, संज्ञा एवं अर्थविचार :

'समसामयिकता' अपने आप में एक ऐसी विभावना है, जो न सिर्फ जटिल और कठिन है, बल्कि अपरिभाषेय भी है और कुछ सीमा पर्यन्त व्यापक भी है । *''जिस प्रकार कुछ समय पहले प्रत्येक 'आधुनिक' ने 'आधुनिकता' की व्याख्या करना अपना 'परम पावन' कर्तव्य समझा, उसी प्रकार समकालीन साहित्यकारों ने 'समकालीनता' को अपने–अपने दृष्टिकोण को व्याख्यायित किया ।''*[१] फिर भी अलग–अलग आधारों पर जाँचा–परखा भी गया है । अतः 'समसामयिकता' में निहित अर्थ की अभिव्यंजना करने से पूर्व इसकी व्युत्पत्ति, संज्ञा एवं अर्थविचार पर दृष्टिक्षेप करना अत्यावश्यक होगा ।

'समसामयिकता' शब्द के मूल में 'समय' संज्ञा रही है । इसलिए 'समय' शब्द, उसके पर्याय 'समय' से अन्य शब्दों का रूपान्तर और अर्थ आदि पर विचार करने से 'समसामयिकता' शब्द के अभिप्रेत अर्थ की प्राप्ति होगी ।

(i) 'समय' शब्द और अर्थ :

'' 'समय' शब्द मूलतः संस्कृत भाषा का शब्द है । यह शब्द 'सम्' धातु में 'इ + अच्' प्रत्यय लगकर बना है । जिसका अर्थ है, काल, मौका, अवसर इत्यादि ।''[२]

(ii) 'सामयिक' एवं 'सामयिकता' शब्द और अर्थ :

'' 'समय' में 'ठञ्' (इक्) प्रत्यय के योग से 'सामयिक शब्द की सृष्टि होती है । सम्बन्धार्थक तद्धित प्रत्यय 'ठञ्' का 'इक्' होता है ।''[३]

समय + ठञ् = सामयिक ।

जिसका अर्थ होता है – *प्रथानुसारी,*
परम्परागत
नियत समय का पालन करनेवाला[४]
समय सम्बन्धी,
समय पर का,
वक्त सम्बन्धी,
समयोचित[५]
समय से सम्बन्ध रखनेवाला,
वर्तमान समय का,
समय को देखते हुए उपयुक्त या ठीक
समयानुसार इत्यादि ।

'सामयिक' विशेषण के साथ 'ता' परसर्ग लगने पर इसकी भाववाचक संज्ञा 'सामयिकता' बनती है –

सामयिक + ता = सामयिकता ।

इसका अर्थ –

सामयिक होने का भाव,
वर्तमान समय,
परिस्थिति आदि के विचार से युक्त दृष्टिकोण या अवस्था ।[७]

'सामयिकता' संज्ञा के पूर्व 'सम्' विशेषण लगकर 'समसामयिकता' ऐसा एक नया ही अर्थसभर शब्द निर्मित होता है –

सम् + समय + इक + ता = समसामयिकता ।

'सम्' का अर्थ, एक ही, समय के साथ, एक–सा, सुसंगत, समान होता है ।[८]

कुल मिलाकर 'समसामयिकता' का अर्थ –

एक ही समय का[८]

एक ही समय में होनेवाला निष्पन्न होता है

यद्यपि इसकी विशद व्याख्या के लिए विभिन्न भाषाओं के कोशों का अभिमत ग्रहण करना अत्यावश्क होगा ।

❀ विभिन्न हिन्दी कोशों के अनुसार :

(i) ***नालन्दा विशाल शब्द सागर*** में 'सम्' और 'सामयिकता' दो अलग–अलग शब्द प्राप्त होते हैं ।

सम = समय, यथावत् ।

सामयिकता = (संज्ञा स्त्री) (सं.) सामयिक होने का भाव, वर्तमान समय, परिस्थिति आदि के विचार से युक्त दृष्टिकोण या अवस्था ।[१०]

(ii) ***मानक हिन्दी कोश*** में 'समसामयिक' और 'समकालीन' विशेषण परक शब्द को एक ही अर्थ के द्योतकरूप में प्रस्तुत किया गया है । यथा –

समसामयिक – वि.(सं.) = *समकालीन ।*[११]

समकालीन – वि. (सं.) = *(१) जो उसी काल या समय में जीवित अथवा वर्तमान रहा हो, जिसमें कुछ और विशिष्ट लोग भी रहे हैं । एक ही समय में रहनेवाले । जैसे–महाराणा प्रताप अकबर के समकालीन थे ।*

(२) उत्पत्ति, स्थिति आदि के विचार से एक ही समय में हुए हों । (कॅन्टेम्पोरेरी)[९२]

(iii) ***बृहत् हिन्दी कोश*** में भी 'समसामयिकता' अथवा 'समकालीनता' के विशेषण परक 'समसामयिक' और 'समकालीन' शब्दों को समानार्थक संज्ञा के रूप में प्रयोजित किया गया है । जैसे

- *समसामयिक – वि. (कन्टेम्पोरेरी) जो एक ही समय में हुए हों या विद्यमान रहे हों ।*[९३]
- *समकालीन – वि. एक समय में रहने या होनेवाला । समसामयिक ।*[९४]

उपर्युक्त कोशों के अनुसार दिए गए अर्थों में बहुधा समानता लक्षित होती है । तथा 'समसामायिकता' भाववाचक संज्ञा के विशेषणों – 'समसामयिक' एवं 'समकालीन' में कोई अर्थगत भेद दृष्टिगोचर नहीं होता ।

हिन्दी भाषा में प्रयुक्त 'समसामयिकता' संज्ञा का अर्थ देखने के उपरान्त हिन्दी–अंग्रेजी तथा अंग्रेजी–हिन्दी कोशों में इस संज्ञा के अर्थों की खोज जरूरी है ।

❀ हिन्दी–अंग्रेजी तथा अंग्रेजी–हिन्दी कोशों के अनुसार :

(i) ***शिक्षार्थी हिन्दी–अंग्रेजी शब्द कोश*** में 'समकालीन' शब्द प्राप्त होता है । तदनुसार –

समकालीन Samkalin a Contemporary घटनाएँ Events, समस्याएँ Problems, समाज Society, साहित्य Literature, तुलसी और मीरा थे Tulsi and Meera were Contemporaries.[९५]

(ii) ***बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश*** में 'समसामयिकता' के जैसा अर्थबोध करानेवाली उस कुल–समुदाय की अन्य संज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं । यथा –

* *Contemporaneity, Contemporaneousness = समसामयिकता, समकालिकता, समकालीनता ।*[१६]

* *Contemporariness = समवयस्कर्ता, समकालीनता, अस्मत्कालिकता, समसामयिकता ।*[१७]

(iii) ***व्यावहारिक अंग्रेजी–हिन्दी कोश*** में 'समसामयिक' विशेषणपरक संज्ञा के लिए अन्य अभिप्रेत संज्ञाओं का जिक्र किया गया है । जैसे – 'समकालीन', 'समकालिक', 'अद्यतन', 'आधुनिक' आदि ।

Contemporaneous-adj. Contemporary, समकालीन ।[१८]

Contemporary-adj

1. *Belonging to the same time or period, समकालीन, समकालिक ।*
2. *Upto date, modern, अद्यतन, आधुनिक ।*[१९]

(iv) ***साहित्यिक पारिभाषिक शब्द कोश*** के अन्तर्गत 'समसामयिक' और 'समकालीन' विशेषणपरक संज्ञाओं को समानार्थी बताते हुए इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है ।

Contemporaneous (कॅन्टेम्पोरेनियस) : समसामयिक, समकालीन ।

❀ *कला और युग के सम्बन्ध पर विचार करनेवालों के स्पष्टतः दो मत लक्षित होते है :*

(१) बहुत से चिन्तकों का विचार है कि कोई भी रचना अपने युग के लिए तो महत्त्वपूर्ण होती है, कई अंशों में परवर्तीयुग के लिए भी उसका महत्त्व बना रहता है । इस प्रकार यह प्राचीन भी होती है और अर्वाचीन भी ।

(२) कला और युग के सम्बन्ध में कुछ अन्य चिन्तकों का मत है कि किसी भी कलाकृति का पूर्ण अध्ययन करने के लिए उसके युग की परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि रचनाकार प्रत्यक्षतः उन्हीं से गम्भीर प्रेरणा प्राप्त करता है ।[२०]

यहाँ ध्यातव्य यह है कि 'समसामयिकता' के सन्दर्भ में 'समसामयिक' या 'समकालीन' विशेषण परक संज्ञा के लिए 'घटनाएँ', 'समस्याएँ' 'समाज', 'साहित्य' तथा 'परिस्थितियों' आदि अर्थ बोध आलोच्य विषय के लिए अभिप्रेत है, जो उक्त कोशों के द्वारा निर्देशित हैं ।

❀ *गुजराती शब्द कोशों के अनुसार :*

विभिन्न गुजराती शब्द कोशों में 'भगवद्गोमण्डल', 'बृहद् गुजराती कोश', 'सार्थ गुजराती वर्तनी कोश' में 'समसामयिकता' के लिए 'समकालीन', 'समकालीनता', 'समसामयिक' जैसे समतासूचक संज्ञाएँ मिलती है, जो अन्य भाषा के शब्दकोशों की भाँति अर्थबोध कराती हैं । यथा –

(i) भगवद्गोमण्डल :

समकालीनता (सं.) स्त्री. एक ही समय में होने का भाव, समकालीनपन, एक ही वक्त में होनेवाला ।[२१]

समसामयिक (सं.) वि. एक ही समय में स्थित या उत्पन्न, समकालीन ।[२२]

(ii) बृहद् गुजराती कोश :

समकालीन – वि. (सं.) एक ही समय का, समसामयिक ।[२३]

समसामयिक – विं. (सं.) समकालीन ।[२४]

(iii) सार्थ गुजराती वर्तनी कोश :

समकालीन – वि. (सं.) एक ही काल में साथ–साथ विद्यमान ।[२५]

समसामयिक – वि. (सं.) समकालीन ।[२६]

❀ अंग्रेजी कोशों के अनुसार :

(i) न्यू वेबस्टर्स डिक्शनरी ऑफ द इंग्लीश लैंग्विज :

कॅन्टेम्पोरेनियस (समसामयिक) – एक ही समय में साथ–साथ विद्यमान होना अथवा किसी एक युग से सम्बन्ध होना, समकालीन ।

कॅन्टेम्पोरेनियसली (समसामयिकता) वि. – समकालीनता / समकालिकता ।
कॅन्टेम्पोरैरी (समकालीन) संज्ञा, बहु. – समवयस्कर्ता, एक ही समय का, समकालीनता ।[२७]

(ii) कॉलीन्स इंग्लीश डिक्शनरी :

कॅन्टेम्पोरैनियस (समसामयिक) वि. – एक ही समय में साथ–साथ विद्यमान, घटित होना, समसामयिकता अथवा समकालीनता ।

कॅन्टेम्पोरैरी (समकालीन) वि. – (१) एक ही समय से सम्बद्ध, एक ही सयम में विद्यमान अथवा घटित ।
(२) वर्तमान का अथवा वर्तमान में घटित ।
(३) आधुनिक के सदृश, अथवा वर्तमान विचारशैली, प्रचलित रीति, उपाय इत्यादि ।
(४) समवयस्कर्ता
(५) एक ही काल में साथ–साथ विद्यमान, समकालीन ।
(६) कोई भी घटना, व्यक्ति जो समकालीन है ।
(७) प्रतिस्पर्धी पत्रकारिता ।[२८]

स्पष्ट है कि हिन्दी, हिन्दी–अंग्रेजी तथा अंग्रेजी कोश, गुजराती एवं अंग्रेजी कोशों में 'समसामयिकता' के मद्देनजर 'समसामयिक' या 'समकालीन' अथवा 'समकालिक' शब्दों के जो विभिन्न अर्थच्छाया प्राप्त होती हैं, उनमें समानता सूचक शब्द अधिक हैं । भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में यह बात बहुत स्पष्ट है कि 'समसामयिकता' के जो विविध अर्थ है, उन्हीं अर्थों में यह शब्द भिन्न–भिन्न भारतीय आर्यभाषाओं में प्रचलित है ।

(३) निकटवर्ती संज्ञाएँ :

'समसामयिकता' एक कालावधि क्रम है । वह एक स्थिति–विशेष का बोध कराती है । इसकी निकटवर्ती और लगभग समानान्तर चलनेवाली, एक ही भाव, आशय और अर्थ को वहन करनेवाली तथा थोड़ी–बहुत भिन्न अर्थच्छाया के साथ व्यवहृत होनेवाली संज्ञाओं में आधुनिकता, नवीनता, तात्कालिकता, युगबोध इत्यादि का समावेश होता है । जिनका विस्तृत रूप से विवेचन आगे किया जाना अभिप्रेत है ।

(४) समसामयिकता :

'समसामयिकता' की अवधारणा में 'समय' शब्द समूहवाची है, 'सामयिक' विशेषण है और 'सामयिकता' भाववाचक संज्ञा है । इस भाववाचक संज्ञा के आगे 'सम्' उपसर्ग लगकर 'समसामयिकता' का संश्लिष्ट रूप निर्माण होता है ।

'समसामयिकता' के लिए अंग्रेजी में 'कोइवल' (*Coeval*)[२९] अथवा 'कॅन्टेम्पोरेनिटी' (*Contemporaneity*)[३०], 'कॅन्टेम्पोरेनियसनेस' (*Contemporaneous-ness*)[३१] 'कॅन्टोम्पोरेरिनेस' (*Contemporariness*)[३२] तथा 'सिमलटेनिअस' (*Simultaneous*)[३३] शब्द उल्लेखनीय हैं । हिन्दी में इसके पर्यायवाची शब्द के रूप में 'समकालीनता' विशेष प्रचलित है, जो पीछे विभिन्न कोशों के आधार पर बताया गया है । जिसका अर्थ हे *''उसी समय या कालखण्ड मे होनेवाली घटना या प्रवृत्ति या एक ही कालखण्ड में जी रहे व्यक्ति''* 'समसामयिकता' संज्ञा समय सापेक्ष है और एक स्थिति विशेष का ज्ञान कराती है । 'डॉ. चन्द्रशेखर इसे 'समकालीनता' तथा 'आधुनिकता' के परिप्रेक्ष्य में अलगाते हुए

कहते हैं कि, '' *'समसामयिकता' अपने आप में एक काल–प्रक्रिया है और 'समकालीनता' उसमें ही किन्तु उससे भिन्न एक अन्य प्रकार की प्रक्रिया है । एक बडे लीवर के साथ एक प्रक्रियात्मक यांत्रिकता में जुडे अन्य छोटे–छोटे लीवर है, जो एकसाथ ही गतिमान होते हैं, एक दूसरे की सापेक्षता में गतिमान होते हैं ।''*[३४] वस्तुतः डॉ. चन्द्रशेखर ने समय की परिधि तथा उसके आयाम के आधार पर 'समसामयिकता' को 'आधुनिकता' से सीमित और 'समकालीनता' से व्यापक बताते हुए तीनों को परस्पर पृथक बताया है । डॉ. रवीन्द्र भ्रमर 'समसामयिकता' और 'समकालीनता' को एक ही मानते हुए इसके तीन अर्थ संकेतित करते हैं – ''(१) कालविशेष से सम्बद्ध (२) व्यक्ति विशेष के कालयापन से सम्बद्ध (३) साहित्य, समाज और प्रवृत्ति–विशेष से सम्बंधित संश्लिष्ट कालखण्ड ।''[३५] डॉ. नगेन्द्र समसामयिकता को सीमित संकुचित अर्थ में ही आधुनिकता के समकक्ष मानते हैं, *''आज के सीमित सन्दर्भ में आधुनिक का एक संकुचित अर्थ 'समसामयिक' भी उभरकर सामने आया है । इस सन्दर्भ में आधुनिकता का अर्थ है वर्तमान का युगबोध, यही दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित रहती है ।''*[३६] *डॉ. नीहाररंजन रे जैसे प्रख्यात चिन्तक तो 'समसामयिकता' और 'आधुनिकता' को एकरूप करते हुए एक–दूसरे की पहचान को बेहतरीन ढंग से मूर्त करनेवाली बताते हैं कि, ''*समसामयिकता' शब्द 'आधुनिकता' की अवधारणा को बेहतर ढंग से मूर्त करता है ।''[३७] *''समसामयिक और आधुनिक में जो अन्तर है, वह केवल समय का ही नहीं, अन्तर्दृष्टि का भी है । कदाचित् रचना विधान का भी है ।''*[३८] गुजराती साहित्य के मूर्धन्य विवेचक श्री चन्द्रकान्त बक्षी उसे केवल समय से सम्बद्ध करते हैं – ''*समय के एक स्तर अथवा लेवल पर प्रवर्तित स्थिति समसामयिकता है । स्थल–काल की भाषा में यह काल के एक ही तबके सम्भवित होती है ।''*[३९]

'समसामयिकता' में निरन्तरता का गुण हमेशा विद्यमान रहता है । अविरत बहते स्रोत की भाँति रहने से उसमें वर्तमानबोध की स्थिति तादृश होती है । डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय अपने लेख 'आधुनिक और समसामयिकता' में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं, *''समसामयिकता का बोध 'इस समय'*

का बोध है, अपने वर्तमान का बोध, उस क्षण का बोध, जिसमें हम जी रहे हैं । अतएव समसामयिकता वर्तमान बोध है और वर्तमान बोध उस आधुनिकता का ही एक अंग है, जिसका प्रारम्भ कुछ समय पूर्व हो चुका है । आधुनिक युग में उत्पन्न होकर और आधुनिक युग की उपलब्धियों और असंगतियों पर विचार करके ही हम समसामयिकता बोध को समझ सकते हैं, क्योंकि समसामयिकता के बोध में आधुनिक युग के वे तत्त्व शामिल हैं, जिन्होंने समसामयिकता को जन्म दिया है ।''[४०]

कुल मिलाकर 'समसामयिकता' आधुनिक कहे जाने वाले काल–खण्ड का एक अंग होते हुए भी वर्तमान समय में संचरित प्रवृतियों का द्योतक है । किसी भी देश अथवा समाज की ज्वलन्त समस्यओं का निरूपण, वहाँ के लोगों का उन समस्यओं से जूझना तथा उनके उत्थान–पतन की क्रियाएँ, प्रक्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ, उनकी गतिविधियाँ तथा संवेदनाएँ आदि सब मिलकर समसामयिकता का बोध कराते हैं ।

(५) समसामयिकता से तात्पर्य :

'समसामयिकता' समय के आयाम से किसी काल–खण्ड विशेष के समाज, परिवेश में प्रवर्तमान मानवजीवन और जगत् की विभिन्न परिस्थितियों, संवेदनाओं, गतिविधियों, संक्रमित होते रहे मूल्यों को देखने–परखने की दृष्टि है । वह हमें विशिष्ट प्रकार की समाज और साहित्य को समझने की दृष्टि प्रदान करती है । जो मानवजीवन, जीवन–मूल्यों व जीवन–प्रणाली में होते रहे परिवर्तनों का रूपांकन करती है । वेबस्टर के शब्दकोश में बताया गया है कि, ''*इस शब्द का प्रयोग तात्कालिक घटना से लेकर सम्पूर्ण जीवनकाल अथवा कुछ वर्षो, दशकों, यहाँ तक कि शताब्दी पर्यन्त विस्तीर्ण कालावधि के सन्दर्भ में भी किया जा सकता है ।*''[४१] हालांकि समसामयिकता की परिधि आधुनिकता और युगबोध की अपेक्षा मर्यादित या सीमित ही रहेगी । आधुनिकता की गोद में खेलती हुई वह अपने समय के साथ बिल्कुल संश्लिष्ट रहती है । और प्रवर्तमान समस्याओं, प्रवृत्तियों, घात–प्रतिघात स्थितियों का यथार्थबोध कराती है ।

विश्वस्तर पर उठनेवाली कोई भी चेतना अन्तर्राष्ट्रीय समाज को प्रभावित करने में सक्षम होती है । तब वैश्विक मानव–सभ्यता के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवन में संक्रमण की प्रक्रिया का शुरू हो जाना बहुत ही सम्भव है । साहित्य में भी यह चेतना एवं प्रवृत्ति अनेक दशकों तक प्रवाहमान बनी रह सकती है । समसामयिकता को परिभाषित करते समय कुछ वर्षों से लेकर अनेक दशकों तक के समय–खण्ड पर विचार किया जाता है, अतः कालपरिधिवाला सन्देह गौण हो जाता है तथा समाज में प्रवर्तमान चेतना महत्त्वपूर्ण हो जाती है । इस प्रकार समसामीय्कता का सम्बन्ध किसी काल–खण्ड विशेष से ही न रहकर उस काल–खण्ड में विद्यमान प्रवृत्तियों, समस्याओं आदि से अनिवार्यतः जुड़ जाता है ।

प्रत्येक समय की एक खास पहचान होती है और उस समय के धरातल पर पनपे हुए समाज में एक विशेष चेतना होती है, जो भाव संचेतनस्तर पर एवं कालसंचेतन स्तर पर किसी अन्य समय खण्ड में विद्यमान समाज की समग्र चेतना से भिन्न होती है तथा अपनी अलग लाक्षणिकता रखती है । यह समग्र चेतना उस समाज, देश के निवासियों की मानसिकता में प्रतिबिम्बत होती है । *''वास्तविक अर्थों में संवेदनशील एवं जागरूक वही है, जो समय की नब्ज अपने हाथों में लिए प्रतिपल परिवर्तित हो रहे परिवेश एवं स्थितियों के प्रत्येक स्पन्दन को अनुभव करता चलता है और तज्जन्य संवेदनाओं, मान्यताओं, मूल्यों और विश्वासों पर आधारित लोक–मानस पर नजर रखता है । केवल इस तरह से ही वह अपने समय को वास्तविक अर्थ में जीता है । अपने काल–खण्ड से जुड़े रहने का एक ही स्रोत है – समकालीन साहित्य का पठन–पाठन, क्योंकि संवेदनशील कवि या लेखक की अपनी कृतियों के माध्यम से अपने युग की युगीन–मानस की अविकल प्रतिलिपि प्रस्तुत करने की चेष्टा भी करते हैं ।''*[४२]

समसामयिकता के *''स्वरूप–निर्धारण, उद्‌घाटन एवं प्रस्तुततिकरण आदि में अनेक स्थितियों का सामूहिक योगदान होता है ।''*[४३] ये स्थितियों को ही उसके तत्त्व माने जाने चाहिए । किसी भी समय की अन्तरात्मा को प्रकट करने के

लिए आन्तरिक उपकरणों के साथ–साथ उसके बाह्य उपकरणों का विशेष समर्थन आवश्यक होता है । समसामयिकता को सजीव रूप देने में वे सभी तत्त्व सम्मिलित किए जा सकते हैं, जो समय–विशेष के समाज जीवन का सांगोपांग तथा सम्पूर्णचित्र सभी विशेषताओं के साथ उभारने में सहायता देते हैं ।

वस्तुतः समसामयिकता का सीधा सम्बन्ध समय के साथ है और समय का सीधा सम्बन्ध देशकाल, परिवेश या समाज से है । बिना देश या समाज के समय की कोई पहचान नहीं । जिस प्रकार आत्मा को प्रकट होने के लिए देह का आलम्बन जरूरी होता है, ठीक उसी प्रकार समय के संश्लिष्ट विशेषताएँ (समसामयिकता) बिना समानाधार को अस्तित्व नहीं रखती । फलतः समाज या देश समसामयिकता का महत्त्वपूर्ण अंग है । उसके द्वारा समाज विशेष के *''मनुष्यों का जीवन तथा उनकी प्रवृत्तियों, समस्याओं, संवेदनाओं, मनःस्थितियों आदि का समग्रता के साथ प्रस्तुतिकरण किया जाता है ।''*[४४] इस चित्रण में समयगत यथार्थता अवश्यरूपेण झलकनी चाहिए । क्योंकि आधुनिकता के दीर्घ पड़ाव के अतर्गत एक समसामयिकता की स्थिति दूसरी समसामयिकता की स्थिति से अलग पड़ती है । क्योंकि *''समसामयिकता स्थिति विशेष का आयाम है ।''*[४५] ये एक जैसी नहीं होती । समय उस पर जैसा रंग छिड़कता है, उसी रंगरूप से यह सृजित होती है । समय बहुरंगी होता है, अतः नवीनता का इसमें संचार कर देता है । यूँ भी हम आगे देखनेवाले है कि नवीनता समसामयिकता से अत्यन्त निकट पड़नेवाला मूल्य है । ऐसे विशिष्ट और सर्वांगीण चित्रण एवं समाज–जीवन के दृश्यों का अंकन देखकर पाठक इनसे विश्वस्त हो सकेगा, क्योंकि अपने समय की सही खबर समसामयिकता से ही सम्भव है । वह इसके वस्तुगत (स्थूलरूप) एवं आत्मगत (सूक्ष्मरूप) से भी अवगत होगा । यहाँ ध्यातव्य है कि एक को तथ्य के अनुरूप होना चाहिए तो दूसरे को लेखक की मनोदशा के अनुरूप ।

''समय या काल विशेष की दृष्टि से 'समकालीनता' शब्द की लघुतम व्याप्ति एक क्षण में सिमट सकती है । व्यक्ति–विशेष की दृष्टि से 'समकालीनता' की परिधि का । अन्वेषण करने पर तो उसकी सम्पूर्ण आयु का

काल–खण्ड ही इसकी सीमा में आ जाता है । साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से किसी भी लेखक, कवि, साहित्यकार अथवा आलोचक के लेखन–काल में प्राप्त प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में इसका निर्धारण किया जा सकता है ।''[४६] समसामयिकता की अभिव्यक्ति एवं स्वीकृति की अभिव्यक्ति रचनाकार में नानारूपों में होती है । यथा–विचार और चिन्तन प्रक्रिया में समसामयिकता, दृष्टिकोण की समसामयिकता, समस्या निरूपणविधि में समसामयिकता, समाज को नवीन दृष्टि प्रदान करने में एवं परम्परा ग्रहण–त्याग तथा नवीन के ग्रहण–त्याग आदि के स्थापन सम्बन्धी में समसामयिकता ।

जब से मानव ने होश सम्भाला है, वह काल–चेतना प्रवाह के साथ निरन्तर यात्रा कर रहा है । ऐसा करते रहने से ही उसने दृष्टि के विकास के साथ अपना भी विकास किया है । काल–चेतना प्रवाह से विच्छिन्न होकर जीना यद्यपि नामुमकिन है फिर भी यदि वह जीये तो वह सर्वथा अप्राकृतिक होगा, आदिमता का पर्याय होगा । समय स्रोत में बहना और बहते रहने का सहयोग प्रदान करना उसकी जीवन्तता की निशानी होगी । समसामयिकता के लिए तो यह आग्रह की चीज है कि उसे पानेवाला कालधारा की समृद्ध चेतना से सजग और सम्पृक्त रहे । क्योंकि कलाकार से सदा नवीन या नवसर्जन की ही अपेक्षा की जाती है और यह निश्चय ही जीवन का एक वांछित गुण है । कला साहित्य में तो समसामयिकता के दृष्टिकोण की स्वीकृति और भी वांछनीय है । *''जीवन और साहित्य का अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो समाज और साहित्य का परस्पर अटूट सम्बन्ध है । मानव–जीवन के सम–विषम भावों को साहित्यकार अपनी कृति में किसी न किसी रूप में अंकित करने का अवश्यमेव करता है । मानव–जीवन या समाज का यह अंकन अन्तर्जगत तथा बहिर्जगत दोनों से सम्बद्ध है ।''*[४७] समाज या जीवन का एक अंश 'समसामयिकता' है । अतः समसामयिकता का दृष्टिकोण अपनाए बिना सही अर्थों में नवसर्जन सम्भव व सार्थक नहीं हो पाता ।

समसामयिकता निरूपण के समय यदि एसे विस्तृत आयाम को दृष्टिपथ में रखने से नाटक जैसी सर्वोत्तम विधा के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और

सांस्कृतिक परिवेश का रेखांकन तथा संशोधन विषय का वास्तविक आशय व मन्तव्य उपलब्ध होगा ओर उसकी गति, दिशा और दशा के ज्ञान के प्रति हम भली–भाँति आश्वस्त हो सकेंगे ।

(६) समसामयिकता के समीपवर्ती सन्दर्भ :

किसी विषय के यथार्थज्ञान के लिए वैज्ञानिक प्रविधि अधिक योग्य मानी जाती है । जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक वस्तु का तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके अन्तरंग तत्त्वों की तह तक जाता है और उसका विश्लेषण करके उसकी तात्त्विक समझ हमें प्रदान करता है, वैसे साहित्यिक अवधारणा के सम्बन्ध में उसकी *''सही समझ के लिए उसके अन्तरंग तत्त्वों के विश्लेषण के साथ–साथ उन निकटवर्ती सन्दर्भों की प्रकृति का ज्ञान भी आवश्यक होता है, जो उस विषय को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं ।''*[४८]

कभी ऐसा भी होता हो कि किसी विषय का स्वरूप इतना जटिल हो कि प्रचलित पद्धति से काम नहीं चलता, तब उस विषय की जानकारी के लिए उसके समीपवर्ती सन्दर्भ उसके अर्थ–क्षितिज को खोलने में सहायभूत होते हैं । इनसे एक तो आलोच्य अवधारणा की सीमा मर्यादाओं का ख्याल स्पष्ट हो जाता है और दूसरा कि उसके सार्थक प्रयोग का ज्ञान हमें अर्जित होता है । इस दौर में हम समसामयिकता की समीपवर्ती विभावनाओं पर एक दृष्टिक्षेप करेंगे ।

(i) समसामयिकता और आधुनिकता :

'आधुनिकता' एक अर्थबहुल संज्ञा है । इसका प्रयोग अनेकविध और अर्थ लचीला रहा है । इसके बहुआयामी अर्थ और सन्दर्भों के कारण साहित्यिक उन्नायक भी इसे परिभाषित करना कठिन महसूस करते हैं । यह काल–प्रवाह में निरन्तर बहनेवाली काल–प्रक्रिया है ।

'आधुनिकता' का कोशगत अर्थ उसे समय के साथ जोड़ देता है । *''जो अभी का है, वर्तमानकालीन है, आज–कल का है, नूतनकालीन है, इत्यादि ।''*[४९] 'समसामयिकता' का कोशगत अर्थ भी वही अर्थबोध कराता है । हालांकि ये

दोनों एक–दूसरे से भिन्न होते हुए भी परस्पर विरुद्ध नहीं । *''इन दोनों संज्ञाओं का प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से समय के साथ अवश्य सम्बन्ध है ।''*[५०] डॉ. शिवप्रसादसिंह 'समसामयिकता' और 'आधुनिकता' के अर्थबोध–ग्रहण में रहे जोखम की ओर संकेत करते हुए दोनों को परस्पर पृथक् करते हुए कहते हैं, *'' 'समसामयिकता' कलेवर की चीज होती है । आधुनिकता समसामयिक बिखराव और कलेवरगत उथल–पुथल के भीतर निरन्तर प्रवाहित गतिशील चेतना को समझने का दृष्टिकोण है ।... इसलिए समसामयिक को आधुनिक मान लेना जोखम है ।''*[५१]

वस्तुतः विशदता की दृष्टि से 'समसामयिकता' की सापेक्षता में 'आधुनिकता' का फलक अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है । 'आधुनिकता' का सम्बन्ध समयवाचक शब्द की अपेक्षा गुणवाचक विशेष है । 'समसामयिकता' एक समय–खण्ड का निर्देश करती है, जबकि 'आधुनिकता' विशिष्ट भावबोध और शैली का । 'आधुनिकता' में युगविशेष का गुण सन्निहित है, 'समसामयिकता' में स्थिति–विशेष का ।

युग सन्दर्भ में यदि इन्हें देखें तो प्रत्येक युग की 'समसामयिकता' और 'आधुनिकता' दोनों एक नहीं होगी । इसका कारण है कि 'समसामयिकता' की परिधि 'आधुनिकता' के सन्दर्भ में सीमित है, इसलिए यह एक ही युग में अनेक रूप में दिखाई देगी । जबकि 'आधुनिकता' का फलक व्यापक होने के कारण वह समग्र युग संवेदन का द्योतक है । लक्ष्मीकान्त वर्मा इन दोनों के बीच की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं, *''आधुनिकता युगविशेष का गुण है, समसामयिकता स्थिति विशेष का आयाम है । आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है, जो हमें देशकाल का बोध देती है, समसामयिकता देशकाल के साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है ।''*[५२]

(ii) समसामयिकता और युगबोध :

'युगबोध' और 'समसामयिकता' के बीच सन्देह इसलिए पैदा होता है कि 'युग' शब्द भी काल, समय के अर्थ को इंगित करता है । *''युग सामयिक जनमानस की आन्तरिक चेतना की विकास प्रक्रिया का अवबोधक है ।''*[६३]

प्राचीनकाल से लेकर आज पर्यन्त समय–निर्धारण के लिए 'युग' शब्द का प्रयोग होता रहा है । 'युग' समय की सुदीर्घ परिव्याप्ति का सूचक है । इस अर्थ में 'युगबोध' एक निश्चित समयावधि से सम्पृक्त विचारबोध, जीवनानुभव, मूल्यबोध, संवेदना और समस्याओं के प्रति प्रतिबद्धता है । इस प्रकार युगबोध का समन्वित अर्थ हुआ, *''युग की विवेकपूर्ण पहचान । स्पष्टतः काल–विशेष के बोध से सम्पृक्त रचना युगबोध से युक्त मानी जाती है ।''*[६४]

'युगबोध' में 'समसामयिकता' होती है, इसलिए प्रत्येक युग का बोध भिन्न होता है । 'युगबोध' और 'समसामयिकता' को इसी कारण एक समझने की भूल की जाती है । 'समसामयिकता' युग–सन्दर्भ में यद्यपि बहुत ही सीमित दायरे में बन्धी हुई चेतना है । 'युगबोध' के समक्ष वह काल–खण्ड के व्यापक फलक पर उठने और मिटनेवाली तरंग के समान है । ध्यानाकर्षक बात यह है कि किसी युग–विशेष की जो–जो भी परिस्थितियाँ, परिवेशगत समस्याएँ, मूल्य व मान्यताएँ होती हें वे अन्तोगत्वा अपने सीमित फलक पर 'समसामयिकता' ही कहलाती है ।

संक्षेप में सामयिकबोध और युगीनबोध दोनों में प्रवृत्ति एवं प्रकृतिगत फर्क निहित है । सामयिकबोध युग की संवेद्यता को बड़ी क्षिप्रता से पकड़ लेता है । इसी में इसकी महत्ता छिपी हुई है ।

(iii) समसामयिकता और समकालीनता :

'समसामयिकता' के पर्यायवाची रूप में 'समकालीनता' शब्द व्यवहृत हुआ है । *''अंग्रेजी में इनके लिए 'कोइवल' (Coeval)*[६५]*, 'कॅन्टेम्पोरेरीनेस' (Contemporariness)*[६६]*, 'कॅन्टेम्पोरेनिटी' (Contemporanity)*[६७]*, 'सिमलटेनिअस्' (Simultaneous)*[६८]*,* शब्दों का उल्लेख मिलता है । विभिन्न कोशकार भी इन्हें

एक–दूसरे के पर्यायवाची बताते हैं । यहाँ तक कि इनका प्रयोग एक–दूसरे के स्थान पर बड़ी सुगमता से किया जाता रहा है । साधारण बोल–चाल की भाषा में भी ये दोनों किसी प्रकार की पृथकता का संज्ञान नहीं करातीं । किन्तु कुछेक आधुनिक समीक्षकों ने इन दोनों के मध्य एक सूक्ष्म विभाजक रेखा खिँचते हुए इन्हें भिन्न–भिन्न अर्थच्छायावाली संज्ञा घोषित किया है तथा आधुनिकता जैसा अर्थविस्तार दे दिया है ।

नवलेखन के दौर में 'समकालीनता' शब्द बहु प्रचलित रहा । परिणाम स्वरूप 'समसामयिकता' शब्द धुन्धला हो गया । फिर उसे नये शिरे से उठाया तो गया पर अन्तर विवेचन के साथ ।

मूलतः ये दोनों समतावाची शब्द हैं । दोनों एक ही प्रकार के अर्थबोध की द्योतक हैं तथा दोनें की शाब्दिक एवं आर्थिक संरचना भी एक सी है । अतः इन दोनों को अलग–अलग ध्रुवों पर स्थापित कर विवेचित करना त्रुटिपूर्ण होगा ।

(iv) समसामयिकता और तात्कालिकता :

'समसामयिकता' को भ्रान्तिवश कभी–कभी 'तात्कालिकता' मान लिया जाता है । लेकिन '' *'समसामयिकता', 'तात्कालिकता' भी नहीं है ।''*[६] अतः इनको अलगाना न केवल 'समसामयिकता' के स्वरूप को समझने में सहायक होगा प्रत्युत्, इन भ्रान्तियों का निरापद रूप से शमन भी होगा ।

''तत्कालीन में 'तुरन्त', 'शीघ्रता' का बोध अन्तर्निहित है, अतः वह कालांश अपने से पूर्व के कालांश से निरन्तरता का आभास नहीं देता, जबकि समसामयिकता में यह निरन्तरता विलुप्त नहीं होती, यह प्रच्छन्न रूप में सदैव विद्यमान रहती है ।''[६०] 'तात्कालिकता' से अभिप्राय अभी ही, इसी समय निर्मित घटना से है जो यह प्रतिपादित करती है कि इसका कुछ समय पूर्व घटित घटना से कोई सम्बन्ध नहीं । यह अपने आप में बिल्कुल निर्लेप होती है ।

'तात्कालिकता', क्योंकि एक अस्थायी स्थिति है । अतः जो भी कारण हो, अपने अल्पजीवन के कारण वह अतीत की किसी घटना से जुड़ नहीं पाती है, न इसका किसी–भी स्थिति में निर्वाह होता है । 'समसामयिकता' की दृष्टि केवल वर्तमान पर ही केन्द्रित नहीं रहती, उसका व्यतीत घटनाओं से भी लगाव रहता है । 'समसामयिकता' के विकास में अतीत का उतना ही योगदान है, जितना कि वर्तमान का ।

'तात्कालिकता' और 'समसामयिकता' में समसामयिकता अधिक व्यापक है, क्योंकि 'तात्कालिकता' जल्दी बदलती है । संक्षेप में कहे तो आधुनिकता का वर्तमान सामसामयिकता है तो समसामयिकता का वर्तमान तात्कालिकता ।

(v) समसामयिकता और नवीनता :

'नवीनता' 'समसामयिकता' के बिल्कुल निकट पड़नेवाला मूल्य है । *''नवीनता का समसामयिकता से अनिवार्य सम्बन्ध है । जो समसामयिक है उसका नवीन होना आवश्यक है ।''*[१९] क्योंकि 'समसामयिकता' की परिधि का निर्धारण 'नवीनता' ही करती है । वस्तुतः 'नवीनता' तो 'समसामयिकता' का अलंकरण है, जिससे वह सबके सहज आकर्षण का केन्द्र बन जाती है । 'नवीनता' से 'समसामयिकता' तरोताजा रहती है । *''वेबस्टर्स कोश के अनुसार ताजा से अभिप्राय उस नयेपन से है जो अपने में जीवन्तता, सामर्थ्य और अछूतापन लिए हुए है ।''*[२०] कृति में यह कलात्मकता के रूप में प्रकट होती है । 'नवीनता' से तात्पर्य है, जो पहले कभी उसी रूप में अस्तित्व नहीं रखनेवाला मूल्य, जिसका आविर्भाव अभी–अभी हुआ हो और चल पड़ा हो, जिसके अस्तित्व के बारे में हाल ही सम्यक् ज्ञान एवं परिचय हुआ हो, जो परम्परागत–मूल्य से बिल्कुल भिन्न हो और जो परम्परागत तो हो पर थोड़े–बहुत परिवर्तन एवं संगोपन के साथ विलक्षण छटा से प्रकट हुआ हो ।

साहित्य के सन्दर्भ में 'नवीनता' लेखक की उन वैयिक्ति विशेषता को कहा जा सकता है, जो किसी अन्य लेखक में न हो । 'समसामयिकता' की तरह 'नवीनता' भी गतिशील रहती है और इन दोनों के सामंजस्य से '

आधुनिकता' विकासशील बनती है । हालाकि 'समसामयिकता' एक समग्र अवधारणा है वहाँ 'नवीनता' उसकी एक अतिरिक्त विशेषता है । अर्थात् वह साधनरूप या अंगरूप होती है । 'समसामयिकता' के सन्दर्भ में *''नवीनता की शक्ति और सीमा उसके साधन–रूप होने में ही है ।''*[१३]

(७) समसामयिकता के विविध आयाम :

देशकाल के बोध से जो सक्रिय गतिशीलता जुड़ी रहती है, उसके प्रमाण हमें समसामयिकता से ही मिलते हैं । क्योंकि समसामयिकता स्थिति–विशेष का आयाम है । शाश्वत–मूल्यों और सत्यों को, परिस्थितियों के घात–प्रतिघात द्वारा जड़ता और असफलता से उबारने का कार्य समसामयिकता का ही है । इस समसामयिकता को आन्दोलित करनेवाले अनेक आयाम हैं, जो इसे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करके एक नवीन विचारबोध और भावबोध को जन्म देते हैं ।

समसामयिकता के इन विविध आयामों को निम्नरूप से वर्गीकृत किया गया है –

(i) सामाजिक आयाम
(ii) आर्थिक आयाम
(iii) राजनीतिक आयाम
(iv) सांस्कृतिक आयाम

(i) सामाजिक आयाम :

'समाज' शब्द का अर्थ है, *''समुदाय, दल, समूह या सभा ।''*[१४] एक ही स्थान पर रहनेवाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करनेवाले वे लोग जो मिलकर अपना एक अलग समूह बनाते हैं, समाज कहलता है । जैसे–आर्यसमाज, संगीत समाज । सांप्रतयुग के प्रखर चिन्तक श्री पाण्डुरंगशास्त्री आठवलेजी 'समाज' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ समझाते हुए कहते हैं ,*''संस्कृत में 'समज' और 'समाज' ऐसे दो शब्द हैं । 'समजः पशुनां संघः ।' 'समज' शब्द पशुओं के समूहों के लिए प्रयुक्त किया जाता है । मानव समूह के लिए*

'समाज' शब्द प्रयुक्त करता है, क्योंकि उसके पास ध्येय, विचार और कार्य है ।... अर्थात् जिस समूह में अनेक व्यक्ति होते हुए भी उन सब में ऐसी अहंकार की संवादिता प्रस्थापित हुई है, जिसमें वर्तमान सुख–दुःख, राग–द्वेष और भावि आशा–आकांक्षाएँ एक बनी हुई है और जिसका ध्येय एक ही है ऐसे सुव्यवस्थित, सुग्रथित और सुविचारी समूह को 'समाज' कह सकते हैं ।''[१५] समाज केवल मानव–समूह का नाम नहीं है । ऐसा मानव–समूह तो हम किसी वारदात के समय, खेल के मैदान पर, जादूगर के खेलों को देखने के लिए एकत्रित किसी चौरहे पर पाते हैं । वहाँ एकत्रित मानव–समूह को 'भीड़' कहा जायेगा । *''समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता । 'समाना अजन्ति' समान संचरणशील व्यक्ति–समूह ही समाज है ।''*[१५]

प्रत्येक मनुष्य पैदा होते ही समाज में पलता है, उसी में पलकर बड़ा होता है और परम्परा एवं संस्कार को ग्रहण करता है । इस तरह से मनुष्य समाज का आजीवन सदस्य बन जाता है । करीब–करीब सभी मनुष्य कुछ अंश तक समान होते हैं और कुछ अपने तरह के अकेले व्यक्ति होते हैं एवं अपनी अलग पहचान बना लेते हैं । समाज में रहनेवाले प्रत्येक प्राणी को पारस्परिक सहयोग, सम्बन्ध और सौहार्द की अपेक्षा रहती है । इनके अभाव में समानता–असमानता, सहयोग–संघर्ष, सहिष्णुता–असहिष्णुता जैसी परस्पर विरुद्ध भावनाएं भी, सम्मिलित रहती है । यही कारण है कि समाज फिर जाति, वर्ग, परिवार, समुदाय अलग–अलग इकाइयों में विभाजित होकर रह जाता है ।

युगानुरूप समाज और सामाजिकता में नयी–नयी चेतना जन्म लेती रहती है । जैसे कि प्राचीनकाल में समाज का नियमन धर्मसत्ता करती थी, मध्यकाल में राजसत्ता तो आधुनिक काल में तर्कसम्मत भौतिक सत्ता कर रही है । वैज्ञानिक आविष्कारों ने समाज में बौद्धिक चेतना जगायी है ।

विश्व की सभी संस्कृतियाँ आघात–प्रत्याघात सहती हुई अपने रूप में परिवर्तन किया करती हैं । परिवर्तन की इस सामान्य प्रक्रिया में कोई क्षीण होती है, तो कोई हावी । जैसे पाश्चात्य संस्कृति विश्व की समस्त संस्कृति एवं मानव सभ्यताओं पर अपना प्रभाव एवं आधिपत्य जमाने में सफल रही है ।

''वैज्ञानिक आविष्कारों और ब्रिटेन की बर्षों की पराधीनता और उसके प्रभाव ने हमारे सामाजिक रहन–सहन और मानव–मूल्यों को प्रभावित किया है ।''[४७] भारतीय सभ्यता और मूल्य इसके प्रभाव स्वरूप नये सिरे से पनप रहे हैं । नतीजा यह होता है कि मूलभूत जीवन–प्रणाली, आचार–प्रणाली में युगानुरूप उतार–चढाव एवं बदलाव होता रहता है । परिवर्तन का यह दौर सभी युगों, सभी दशकों में समानुपात् परिलक्षित होता है ।

(ii) आर्थिक आयाम :

धर्मशास्त्र में अर्थशास्त्र की और अर्थशास्त्र में धर्मशास्त्र की चर्चा अनिवार्य है । अन्यथा दोनों अपूर्ण रह जाते हैं । दोनों में अपने–अपने विषय की प्रधानता है । प्राचीनकाल में समाज का नियमन धर्म–शास्त्र करता था, फिर भी वहाँ राजनीति और नीतिशास्त्र को अर्थशास्त्र से विकसित होती दिखाया गया है । अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल धन या सम्पत्ति प्राप्त करने के उपायों का विवेचन करना नहीं । इसमें मानव जीवन के सभी पहलू आ जाते हैं ।

'धर्मस्यमूलमर्थः' इस आशय में अर्थशास्त्र को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों का समन्वित स्वरूप माना गया, जिसमें समाज की यथार्थवादी एवं लौकिक समस्याओं का वस्तुगत विवेचन हो । यह तो निर्विवाद सत्य है कि जहाँ अर्थ और धर्म में परस्पर विरोध हो वहाँ हमारे प्राचीन मनीषी धर्म का ही अवलम्बन ग्रहण करने की शिक्षा देते हैं, अर्थ की नहीं । तत्कालीन समय में धर्म की सर्वोपरिता मानी गयी थी । अर्थ का महत्त्व था पर गौण रूप में । जैसा कि चतुर्वर्गफल के अन्तर्गत धर्म–अर्थ–काम और मोक्ष में अर्थ का स्थान द्वितीय है । सभी स्मृतिग्रन्थ भी 'अर्थ' की अपेक्षा 'धर्म' की प्रधानता को स्वीकार करते हैं । हालांकि अर्थ की आवश्यकता हर जगह महसूस होती है । इसीलिए तो अर्थ को सभी प्रयोजनों का साधन बताया गया है ।

मानव–समाज को समृद्धिशील बनाने हेतु आर्थिक समृद्धि पर बल देना आवश्यक है । यह एक ऐसी भौतिक आवश्यकता है, जिसके अभाव में हमारी

सारी योजनाएँ निष्फल हो जाती हैं । सच तो यह है कि अर्थतन्त्र ही शासनतन्त्र के संचालन का आधार है । इसके बिना राज्य निष्क्रिय एवं निष्प्राण हो जाता है । महाभारत के अनुसार *''कोश शून्य राजा बलविहीन हो जाता है ।''*[८९] इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य की समृद्धि हेतु कोश–संचय पर विशेष बल दिया । प्राचीन ग्रथों में राजस्व, राजकर प्रणाली, राजकीय सहायता, शुल्क, अनुदान, ऋण वितरण आदि विषयों पर अनेकशः विचार प्रस्फुटित हुए हैं । इस अर्थसंग्रह का उपयोग राजा अपने भोग–विलास में न कर सकता था । इसका उद्देश्य समाज कल्याण था ।

आधुनिक युग में पश्चिम के देशों में हुई औद्योगिकक्रान्ति के प्रभाव स्वरूप आजादी के बाद हमारे देश में मिश्रित अर्थ व्यवस्था की नींव पड़ी । *''आजादी के बाद भी देश की आर्थिक स्थिति शोचनीय रही.. औद्योगिक क्षेत्र में भी बड़े पूंजीपति घरानों का एकाधिकार रहा ।''*[९६] बड़ी आबादीवाला भारत देश अपनी प्राचीन मानसिकता से परित्राण पाकर दुनिया के सम्पन्न राष्ट्रों की भाँति वित्तोपार्जन की दिशा में फर्लांग भरने लगा । यद्यपि समग्र विश्व को झकझोरनेवाली पूँजीवादी व्यवस्था तथा साम्यवादी या समाजवादी व्यवस्था – दोनों व्यवस्थाओं की बुनियादी खामियों को दृष्टिपथ में रखते हुए इनका समन्वित रूप अपनाया । परन्तु आर्थिक विपन्नता में सुधार किंचित् नहीं हुआ । जगदीश नरायण–श्रीवास्तव के शब्दों में, *''हमारे समाज का अर्धसामन्ती संस्कार और अर्धपूंजीवादी रवैया पूरी चालाकी में लगा हुआ है कि वर्तमान स्थितिशीलता के विरुद्ध जो भी प्रामाणिक आन्दोलन चले, भीतर ही भीतर उनके मूल मुद्दों में तरतीम करके कुछ ऐसी स्थिति पैदा की जाय कि वह व्यवस्था के लिए खतरनाक होने के बजाय उसके पोषक तत्त्वों में बदल जाय ।''*[९७]

इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था परोक्षतः अक्षुण्ण रही और पुष्टि पाती रही । देश का बहुसंख्यक वर्ग रिश्वत, चोर बाजारी, मंहगाई, गरीबी, बेरोजगारी, भूखमरी एवं निर्धनता की चक्कियों में निरन्तर पिसता रहा । देश के आर्थिक सुधार हेतु विभिन्न योजनाएँ भी भ्रष्टाचार और अनैतिकता के परिवेश में फलदायी नहीं बन सकीं । उद्योगों के विकास ने खेतिहर कृषकों को

मजदूर बनने के लिए विवश बनाया । इन समस्त समसामयिक क्रिया–प्रतिक्रियाओं का सशक्त अंकन तत्कालीन साहित्य का प्रधान कथ्य–विषय रहा है ।

(iii) राजनीतिक आयाम :

राजनीति एक यौगिक शब्द है । 'राज' तथा 'नीति' दो शब्दों के योग से 'राजनीति' शब्द निर्मित होता है । जिसका अर्थ है – राजा की नीति । राज्य के शासन के सम्बंधित सभी प्रकार का ज्ञान राजनीति की सीमा में आ जाता है । राजनीति का आशय शासनप्रणाली, शासननीति, नियम और विधान से है । राजनीति के लिए अंग्रेजी शब्द *'Politics'*[७१] खास प्रचलित है । हिन्दी शब्दसागर में राजनीति को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, *''राजनीति वह नीति है, जिसका सहारा लेकर शासक अपने राज्य की रक्षा और शासन की पद्धति को दृढ़ करता है ।''*[७२]

राज्यहीन समाज का अभ्युदय असम्भव है । राजनीतिक समाज के अभ्युदय में राजा की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसलिए राजा को जगत की वृद्धि का हेतु कहा गया है । राजा से गुरुत्तर अपेक्षा रखी जाती है कि वह शिष्टों का प्रतिपालन करे और दुष्टों का दमन । राजा दण्डविधान से सबको शासित करता है । 'मनुस्मृति' के अनुसार प्रजा राजदण्ड के भय से स्वधर्म से विचलित नहीं होती, न्यायपथ से चलायमान नहीं होती । क्योंकि राजा कार्यपालिका एवं न्यायपालिका दोनों का प्रधान था ।

''दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुबुधाः ।। ७–१८ ।।''[७३]

(अर्थात् ''दंड सब प्राणियों पर राज करता है और दंड ही सब प्राणियों की रक्षा करता है, सबके सोने पर केवल दंड ही जागता रहता है और पण्डित लोग दंड को ही धर्म कहते हैं ।'') दण्डकर्ता न्यायपूर्वक दण्डविधान करता है । दुष्ट, दमनकारी, शास्त्रज्ञानहीन, शासक को दण्डधारण करने की शास्त्र आज्ञा नहीं देता ।

राज्य को स्मृतियों के समान ही नीतिग्रथों ने सात अंगोवाला स्वीकार किया है । शुक्रनीति ने राज्य के अंगों की शरीर के अवयवों से नामतः उपमा दी है । तद्नुसार *''राज्य रूपी शरीर का राजा शिर है, नयन मन्त्री, श्रोत मित्र, मुख कोश और मन बल है । दुर्ग–राष्ट्र इसके हाथ–पैर हैं ।''*[१४] प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजपद को दैवी संस्था मानते हुए भी राजा के कर्तव्यों को एक विशिष्टता प्रदान करने की कोशिश की है । विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में उदात्तराजा के कार्यों का अध्ययन कर श्री पी.वी. काणेजी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि *''राजा के मुख्य कार्य थे (१) प्रजा का रक्षण या पालन (२) वर्णाश्रम – धर्म नियम का पालन (३) दुष्ट–दमन और न्याय ।''*[१५]

किसी भी राजा के लिए यह आवश्यक होता है कि वह दान–मान–सत्कार से सदा प्रजा का रंजन करता रहे । उसके द्वारा समय–समय पर पारित की गई योजनाएँ किस प्रकार, कितनी मात्रा में प्रजा तक पहुँच सकी है तथा अपनी शासन कला से प्रजा सन्तुष्ट है या नहीं ? इन तथ्यों की जानकारी हेतु वह गुप्तवेश में नगर–भ्रमण भी करता है । प्रजा का यथोचित पालन न करनेवाले प्रजापीड़क, दुष्ट और शिष्ट परिपालन रूप अपने मूल कर्तव्य से रहित होने पर राजा की बड़ी दुर्गति होती है, प्रजा की विद्रोहाग्नि उसे जलाकर खाक कर देती है ।

उत्तराधिकारी के लिए सामान्यतः नियम बना दिया गया कि राजा का ज्येष्ठपुत्र युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया जाए । शेष राजपुत्रों को भी षड्यन्त्र आदि से दूर रखने के लिए राजा के विभिन्न सहायक पदों पर नियुक्त किया जाए । चूंकि उत्तराधिकारी तय करते समय परामर्शदाताओं (मन्त्री, धर्मगुरु) की सलाह अवश्य ली जाती । विकलांग और योग्यता शून्य व्यक्ति राजा बनने योग्य नहीं समझा जाता था ।

यह निर्विवाद सत्य है कि प्राचीन भारत में राजतन्त्रतात्मक शासन–प्रणाली और गणतन्त्रतात्मक शासन–प्रणाली को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त थी । परन्तु कालान्तर में विविध प्रकार की शासन–प्रणालियाँ अस्तित्व में आई । आधुनिक

भारत में प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र शासन–प्रणाली उत्तम शासन–प्रणाली के रूप में आज विद्यमान है ।

(iv) सांस्कृतिक आयाम :

''संस्कृति यदि साहित्य को जन्म देती है तो साहित्य संस्कृति के विकास में अपना सहयोग देता है । संस्कृति की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है । साहित्य के द्वारा संस्कृति का पोषण होता है ।''[७६]

'' 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा के 'सम्' उपसर्ग–पूर्वक 'कृ' धातु से 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – संशोधन करना, सुधारना, उत्तम बनाना, सुन्दर या पूर्ण बनाना अथवा परिष्कार करना ।''[७७] 'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध मूलतः संस्कार से है । अंग्रेजी में इसके लिए 'कल्चर' (*Culture*)[७८] शब्द विख्यात है । हमारे यहाँ तो संस्कृति को अत्यन्त व्यापक माना है । इसमें खान–पान, वेश–भूषा, रीति–रिवाज, आचार–विचार सभी बातें आ जाती हैं । तथापि संस्कृति में बाह्य आचरण की अपेक्षा आन्तरिक संघटन पर अधिक बल दिया जाता है । दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि पहला व्यावहारिक है तो दूसरा जीवन–मूल्यों से युक्त ।

''संस्कृति किसी देश जाति अथवा मानव के उन आन्तरिक गुणों की समष्टि का नाम है जो उसके आचार–विचार, कार्य–कलाप एवं जीवन पद्धतियों में अभिव्यक्त होती है । मानव अपने सांस्कृतिक गुणों, मूल्यों के कारण एक दूसरे से चरित्र, धर्म, नैतिकता आदि में भिन्न व्यक्तित्व वाला होता है । प्रत्येक जाति, देश अथवा व्यक्ति के भी (भिन्न परिवेश में पलने के कारण) भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक मूल्य होते हैं । सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति हमारे भावों, विचारों एवं व्यवहारों द्वारा होती है । हमारी संस्कृति के गुण या मूल्य है – दया, प्रेम, करुणा, सहानुभूति, सत्य, अहिंसा, परोपकार, आस्था, श्रद्धा, क्षमा, उदारता, विश्वबन्धुत्व की भावना, त्याग एवं संयम तथा सदाचार आदि ।''[७९]

भारत की अपनी संस्कृति की एक लम्बी परम्परा है । प्रत्येक युग संस्कृति को अपने ढंग से प्रभावित करता है । प्रत्येक युग की संस्कृति का एक विशिष्ट आयाम होता है, जो उस युग की विशिष्टता को प्रतिध्वनित करता है । मध्यकालीन संस्कृति के मूल्य देवी–देवताओं की वन्दना और तीर्थयात्रा तथा सामाजिक आदर्शों के साथ जुड़े हुए थे । रीतिकालीन सामन्तीय सांस्कृतिक मूल्यों का अस्वीकार करके राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्यों का उदय हुआ, लेकिन स्वतन्त्रता पश्चात् वे गरिमा खो बैठे । इसके साथ विदेशी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से सांस्कृतिक मूल्यों में तेजी से विघटन हुआ, जिसकी प्रतिध्वनि समसामयिक साहित्य में सुनायी पड़ी । सारांश रूप में संस्कृति मानवीय या प्राकृतिक वातावरण से प्रभावित समुदाय विशेष के जीवन चिन्तन, धर्म चिन्तन, समाज चिन्तन, साहित्य चिन्तन और व्यवहार की आन्तरिक प्रवृत्ति है, जो समाज द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है और सामाजिक सदस्यों द्वारा अर्जित भी की जाती है ।

(८) समसामयिकता : परिवर्तन के कारण :

परिवर्तन एक नैसर्गिक प्रक्रिया है । परिवर्तन की आन्धी सभी स्थितियों, परिस्थितियों एवं मानवमूल्यों को प्रभावित करती है । परिवेश के परिवर्तन के साथ–साथ समसामयिकता का स्वरूप भी बदल जाता है । परिवर्तन के प्रसंग में यह ध्यानाकर्षक है : एक तो यह कि परिवर्तन स्वतः नहीं होता चलता उसकी कुछ प्रेरक शक्तियाँ होती हैं जिनके कारण उसे गति मिलती चलती है, और दूसरी यह कि परिवर्तन का अर्थ यह कदापि नहीं कि सभी कुछ परिवर्तित हो जाता है । वस्तुतः क्रान्ति के काल में भी, जिसे हम आमूल परिवर्तन कहते हैं सभी कुछ परिवर्तित नहीं होता । हाँ परिवर्तन की पहुँच गहरी अवश्य होती है ।

वैसे प्रत्येक युग और परिस्थिति में समसामयिक संचेतना व्याप्त होती है । यही तो कारण है कि प्रत्येक काल–खण्डों एवं परिस्थितियों में समसामयिकता बदलाव पाती रहती है । किसी एक काल–खण्ड विशेष की

समसमायिकता अन्य काल–खण्ड विशेष की समसामयिकता से अनुभूति के स्तर पर नितान्त भिन्न मालूम पडेगी । क्योंकि *''समसामयिकता एक ही युग में अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है ।''*[८०] अतः उसकी वास्तविक पहचान के लिए वही युग सन्दर्भ में देखना अधिक सुविधाप्रद रहेगा । चूंकि एक बात खास ध्यान में रखनी है कि वह शाश्वतकालीन नहीं है । अपरिवर्तनेय जैसा कोई तत्त्व उसमें मौजूद नहीं होते, जो उसे शाश्वत और चिरन्तन बनाये रखें ।

समसामयिकता के बदलाव के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हुए विज्ञान के उदय को प्रमुखता दी जा सकती है । वस्तुतः विश्वफलक पर उभरने वाली कोई भी घटना या विचारधारा, देश–विदेश के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक सभी परिवेशों को प्रभावित करती है । जैसे, *''१९१७ में रूसी क्रान्ति के पश्चात् जार शासन की समाप्ति और लेलिन के साम्राज्यवाद की स्थापना ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी को प्रभावित किया । रूस ऐसा पहला देश बना जहाँ मजदूरों व किसानों को महत्त्व मिलना शुरू हुआ । कृषि को उद्योग का दर्जा मिला । किसानों और मजदूरों के अमानवीय शोषण का अन्त हुआ । चीन, पोलैण्ड, उत्तरीजर्मनी आदि देशों में साम्यवादी सरकारें बनीं । इस रूसी क्रान्ति ने विश्व परिदृश्य को बदलकर युगबोध के बदलाव का संकेत दिया ।''*[८१] युगबोध के बदलाव के संकेत पर समसामयिकता भी बदलाव का संकेत देती है और सबसे पहले पहले संकेत देती है ।

विज्ञान का उदय केवल भौतिक क्षेत्र को ही प्रभावित नहीं करता, बल्कि उससे मानव चेतना भी प्रभावित होती है । मध्यकाल में जीवन के केन्द्र में ईश्वर प्रतिष्ठित था । अतः उस समय के व्यक्ति की चेतना आस्था के पिण्ड से निर्मित हुई थी । नवलकिशोरजी के शब्दों में *''विज्ञान के उदय ने पुरानी मान्यताओं के समक्ष गहरे प्रश्नचिह्न लगा दिये थे और मनुष्य पहले जिन धर्मग्रन्थों में प्रणीत नियमों या आचार–विधानों को अन्तरात्मा की आधारभूमि मानता था, वे धीरे–धीरे निरर्थक हो चुके थे ।''*[८२] आधुनिक मनुष्य के केन्द्र में विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि है । एक ओर तो मानवीय गरिमा के प्रति प्रबुद्ध चेतना उसके मन में उभरी और वह अपने आपको अकेला और निरर्थक भी

अनुभव करने लगा । तो दूसरी ओर मनुष्य का यन्त्रीकरण हुआ । ऐसी स्थिति में समसामयिकता भी नवीन स्वरूप धारण कर लेती है ।

वैज्ञानिक उपलब्धियों, तकनीकी ज्ञान और औद्योगिक उन्नति ने जीवन–पद्धति में इतने द्रुतगामी परिवर्तन किए जो पहले कभी नहीं हुए थे । इसके परिणाम स्वरूप वर्तमान समय में मूल्य–परिवर्तन की गति भी बड़ी तीव्र रही है । पहले मूल्यगत परिवर्तन कई युगों या पीढ़ियों के बाद ही लक्षित किए जा सकते थे, किन्तु पिछले कुछ वर्षों से अर्थात् महायुद्धोत्तरकाल से तो यह मूल्य–परिवर्तन इतनी क्षिप्र गति से हुआ है कि समसामयिकता को परस्पर अलग पड़ती हुई हम स्पष्ट लक्षित कर सकते हैं ।

विज्ञान के अग्रसरित होते चरणों ने मानव के जीवन, आस्था, अनुमान, कल्पना, धर्म, दर्शन, साहित्य, मूल्यों, सम्बन्धों, मान्यताओं और संस्कृति–सभ्यता सभी को बूरी तरह से झकझोरा है । साहित्य इस बात को प्रतिबिम्बित करता है, *''जिस प्रकार परिवार में एक नये बच्चे के पैदा होने से परिवार के सदस्यों के पूर्ववर्ती सम्बन्धों में कुछ परिवर्तन आ जाता है, उसी प्रकार विज्ञान का हर नया आविष्कार समाज के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में कुछ–न–कुछ हेर–फेर कर देता है, पुराने सम्बन्धों के स्थान पर नए सम्बन्ध पैदा ही नहीं होते बल्कि सम्बन्धों में एक–दो धागे और बढ़ जाते है... ।''*[३]

प्रस्तुत प्रसंग में यह कहना उचित होगा कि पूर्वोक्त सभी कारण जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करते हुए युग परिवर्तन की ओर बढ़ते हैं और इन कारणों से निर्मित नवीन बौद्धिक चेतना समसामयिकता के बदलाव का प्रधान कारण बनती है ।

(६) समसामयिकता और नाटक :

कोई भी साहित्य अपने देश की समसामयिकता से अछूता नहीं रह सकता । चेतन या अचेतन रूप में साहित्यकार के मानस में समसामयिकता के ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया चलती रहती है । यदि समसामयिकता और साहित्य के सम्बन्धों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो हम पाएँगे कि यह

सम्बन्ध कभी भी सार्वभौम नहीं होता । वह अपने देश के जातीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों से अपना आकार ग्रहण करता है । ऐसी स्थिति में समसामयिकता और साहित्य के सम्बन्धों का आयात सम्भव नहीं जिसका प्रयत्न हमारे नये साहित्यकारों द्वारा किया जा रहा है ।

सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि समसामयिकता एक कालसापेक्ष अवधारणा है, *''एक* कालावधिक्रम है''[८४] जो प्रत्येक युग में अपना अस्तित्व रखती है । नाट्य रचना में मानव जीवन की क्या भूमिका है ? यह समझ लेना सुज्ञजनों के लिए परमावश्यक होता है । क्योंकि *''समकालीनता पूरे युग से जुड़ी हुई नहीं है, वह अपने समय की एक खास पहचान है ।''*[८५]

प्रवर्तमान परिवेश या समसामयिकता का सम्बन्ध साहित्य की किसी भी विधा के साथ बहुत सहज होता है । परन्तु नाटक, एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसे द्विज की उपमा दी जा सकती है, अर्थात् जिसका जन्म लेखन और मंचन के तौर पर दो बार होता है । डॉ. शेषजी इस बारे में अपना मत प्रकट करते हुए कहते है, *''मैं मानता हूँ कि नाटक ऐसी विधा है जिसमें रचना का जन्म दो–बार होता है । नाटक का पहला जन्म होता है लेखन के स्तर पर । इसके बाद लेखक गौण जीव होता है । मंचन के साथ नाटक का दूसरा जन्म होता है तभी नाटक को सम्पूर्णता मिलती है ।''*[८६]

नाटक एक सशक्त और संवेदनशील विधा है । रसानुभूति की दृष्टि से एक सर्वश्रेष्ठ कला भी है । कारण यह है कि जिस कला से अधिकाधिक रसानुभूति हो, वही श्रेष्ठ कला होती है । क्योंकि कला में रसप्राप्ति को प्रधानता दी जाती है । इस नाते समसामयिकता से एक साहित्य स्वरूप विशेष के आधार पर उसका सबसे प्रत्यक्ष और निकट का रिश्ता है । नाटक के रचयिता की हैसियत से रचनाकार अपने युग की प्रवर्तमान स्थितियों से अन्तर्बाह्य दोनों रूपों में प्रभावित होता है । इन प्रवर्तमान स्थितियों में प्रवहमान चेतना का विशिष्ट रूप ही समसामयिकता है । नाटककार अपनी रचनाओं में उसी को व्यक्त करता है । समसामयिक के क्रिया–कलापों की प्रतिक्रिया ही साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होती है । *''समसामयिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र*

को प्रतिबिम्बित करने में नाट्य–विधा सर्वथा सक्षम है । एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ती यह विधा मानव जीवन के अधिक पास आती जा रही है, जो समाज एवं व्यक्ति को नयी चेतना देने में बहुत उपयोगी रही है ।''[७]

भारत में नाटक और नाट्यशास्त्र की परम्परा काफी प्राचीन है । साहित्य की यह आदि विधा है और काव्यशास्त्र का प्रारंभिक स्वरूप नाटक को केन्द्र में रखकर ही विकसित किया गया । नाटक में श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के माध्यमों का समावेश हैं । अपने चाक्षुष–प्रभाव के कारण यह अपने आप में अद्वितीय विधा है । नाटककार डॉ. शंकरशेष इस विधान की पुष्टि करते हुए कहते हैं, *''नाटक एक सांधिक कला है । उसका स्वभाव दृष्य है । उसका आनन्द चाक्षुष है । जिस प्रकार उसके सृजन के अनेक धरातल हैं उसी प्रकार उसके आस्वाद के । नाटक में कृति का संसार पुनः शरीरी आकार धारण कर थियेटर में हमारे सामने उपस्थित होता है ।''*[८]

मंचन के स्तर पर पहुँचकर नाटक की प्रेषणीय शक्ति दुगुनी हो जाती है । यूँ भी नाटक रसानुभूति करानेवाली सर्वश्रेष्ठ कला है । मूर्त का प्रभाव अमूर्त के प्रभाव से अधिक रसानुभूति देनेवाला और स्थायी होता है । नाटक में आँख, कान, मन, बुद्धि आदि सब तन्मय होकर रसानन्द लेते हैं । इसलिए उसका प्रभावक्षेत्र अन्य साहित्यिक–विधाओं से कहीं बढ़ चढ़कर और बहुत विस्तृत होता है ।

वस्तुतः जिस समय लेखक किसी रचना को लिखना प्रारम्भ करता है, उस समय की पृष्ठभूमि का उसके मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है । परिवेश लेखकीय प्रतिक्रिया को जगाता है । परिवेश का वह विशिष्ट अनुभवखण्ड जिससे लेखकीय प्रतिक्रिया आन्दोलित होती है और वह आत्माभिव्यक्ति की मांग से व्याकुल होकर रचना के लिए प्रवृत्त होता है । स्वातन्त्र्योत्तरकाल में देश में भारी उथल–पुथल हुई है । उस समय की समसामयिकता ने जन–जीवन को गहराई से प्रभावित किया है । समसामयिक नाटक में उसके अनेक स्पष्ट चित्र उभरे हैं । जैसे *''स्वातन्त्र्योत्तर नाटक में निराशा, कुण्ठा, सन्त्रास, दुष्चरित्रता, व्याभिचार, उत्कोच और भ्रष्टाचार के नाना प्रकार के चित्र विकास रूपी*

सिनेमाघर में दिखाए जाने लगे । उन्हीं चित्रों की प्रदर्शनी स्वातन्त्र्योत्तर नाटक का इतिहास है ।''[६] भारत–चीन और भारत–पाक युद्धों के बाद देश को नयी–नयी समस्याओं से जूझना पडा । इन परिस्थितियों ने जन–मानस को आक्रान्त किया । स्वातन्त्र्योत्तरकालीन समसामयिकता को उसकी समग्रता के साथ पेश करते हुए साहित्येतिहासकार लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि *''ज्यों–ज्यों इलाज किया मर्ज बढ़ता ही चला गया । विकास योजनाओं के बावजूद देश का चरित्र भ्रष्ट हुआ है, स्वतन्त्रता पर प्रश्नचिह्न अंकित हुए हैं, सेवा और सह–अस्तित्व की जगह स्वार्थ और अवसरवादिता पनपी है, देशप्रेम की जगह बेईमानी, तस्करी, घूसखोरी, चोरबाजारी ने ली है । राजनीति नेताओं के स्वार्थ से भ्रष्ट हुई है और यह भ्रष्टाचार ऊपर से छनकर नीचे के तबके में फैलता जा रहा है, भोजन, वस्त्र, आवास की समस्या का समाधान नहीं हो पाया है और मँहगाई, बेरोजगारी, गरीबी, हिंसा, चोरी, लूट, भ्रष्टाचार एवं चारित्रिक अवमूल्यन बढ़ता गया है, न्याय पद्धति शिथिल हुई है और राजनीतिक चूहों ने संविधान को कुतरना शुरू किया है, परिणाम स्वरूप चारों ओर कुण्ठा, क्षोभ भग्नांश, आक्रोश, हताशा, दिशाहीनता, भ्रम फैला है और आजादी का स्वप्न छिन्न–भिन्न हो गया है । कुल निष्कर्ष हर क्षेत्र में मूल्य–हीनता आज हमारी नियति बन चुकी है ।''*[७०]

साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में आजादी के बाद भारी बदलाव आया है । नयी संस्कृति और नये जीवन–भूल्य प्रकट हुए । इसलिए उसकी अभिव्यक्ति की शैली में भी बदलाव आना सहज हो गया था । भावाभिव्यक्ति में शब्दों की अक्षमता ने लोगों का विश्वास शब्दों पर से उठा दिया और भाषा की जगह 'हरकत की भाषा' ने जगह बना ली । औद्योगिक सभ्यता के परिणाम–स्वरूप अजनबीपन और विसंगतियाँ जीवन और परिवेश पर छा सी गईं । नाटकों में इस अभिव्यक्ति के फलक पर एवं रचना–विधान के फलक पर विसंगतियों को विन्यस्त कर दी गई । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी–नाटकों में घोर अनिश्चय की स्थिति में शिल्प की अनिश्चित रूप–विधान की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है । *''अगर कोई नाटककार आज की इस जीवन स्थिति को व्यक्त*

करना चाहे तो उसके समक्ष यह समस्या पैदा होती है कि वह ऐसा कैसे करे ? अपने शिल्प–विधान में किस कौशल का उपयोग करे कि इस सामयिक विडम्बना को सही–सही रूपायित कर सके ?''[९]

समसामयिक भावबोध और विचारबोध को रूपायित करने नये शिल्पों का प्रयोग किए जाने की परम्परा शुरू हुई । शिल्प के विषय में सिद्धनाथकुमार का मन्तव्य दृष्टव्य है । : ''शिल्प वह कुशलता है जिसके द्वारा किसी वस्तु या कृति में सौन्दर्य की सृष्टि होती है ।''[२] इसके अन्तर्गत हम मिथकीयनाटक, प्रतीक नाटक, लोक नाटक आदि को रख सकते हैं । इनके जरिए रचना में नयापन, आकर्षण, विलक्षणता और सौन्दर्य सृष्टि के प्रयास किए गए हैं ।

उपर्युक्त विवरण के निष्कर्ष रूप यह कह सकते हैं कि साहित्य का कोई भी रूप हो, समसामयिकता की अवहेलना नहीं कर सकता । और फिर नाटक तो एक सर्वोत्तम दृश्य–श्रव्य विधा है । समसामयिकता से सम्पृक्ति बनाये रखने के कारण उसमें उत्तरोत्तर निखार आता रहा है । यही कारण है कि आज हम–सब नाटक को अत्यन्त जीवन्त एवं प्रभावशाली साहित्य–स्वरूप के रूप में एकसाथ स्वीकार करते हैं ।

सन्दर्भ सूची :

१	समकालीन कहानी : रचना मुद्रा, पुष्पपालसिंह, पृ. २०
२	संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे, पृ. १०६८
३	संस्कृत व्याकरण रचना तथा निबन्ध, डॉ. रामजी उपाध्याय, ६७
४	संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे, पृ. १०६८
५	भगवद्गोमण्डल भाग–६, प. ८७१५
६	नालन्दा विशाल शब्द सागर, सं. श्री नवलजी, पृ. १४३४
७	नालन्दा विशाल शब्द सागर, सं. श्री नवलजी, पृ. १४३४
८	हिन्दी शब्द कोश, डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. ८०३
६	हिन्दी शब्द कोश, डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. ८०३
१०	नालन्दा विशाल शब्द सागर : सं. श्रीनवलजी, पृ. १४३४
११	मानक हिन्दी कोश : पाँचवा खण्ड : सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. २८३
१२	मानक हिन्दी कोश : पाँचवा खण्ड : सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ. २७८
१३	बृहत् हिन्दी कोश, सं. कालिका प्रसाद, पृ. ११६६
१४	बृहत् हिन्दी कोश, सं. कालिका प्रसाद, पृ. ११६८
१५	शिक्षार्थी हिन्दी अंग्रेजी शब्द कोश, डॉ. हरदेवबाहरी, पृ. ६५५
१६	बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश, भाग–१, डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. ३६४
१७	बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश, भाग–१, डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. ३६४
१८	व्यावहारिक अंग्रेजी–हिन्दी कोश, सं. बदरीनाथ कपूर, पृ. २४१
१६	व्यावहारिक अंग्रेजी–हिन्दी कोश, सं. बदरीनाथ कपूर, पृ. २४१
२०	साहित्यिक पारिभाषिक शब्द कोश : सं. महेन्द्र चतु. एवं प्रो. तारकनाथ बाली, पृ. ६६–७०
२१	भगवद्गोमण्डल, पृ. ८४६८
२२	भगवद्गोमण्डल, पृ. ८५०७
२३	बृहद् गुजराती कोश : खण्ड : दो, सं. केशवराम का. शास्त्री, पृ. २१७३
२४	बृहद् गुजराती कोश : खण्ड : दो, सं. केशवराम का. शास्त्री, पृ. २१७६
२५	सार्थ गुजराती वर्तनी कोश, गुजराती विद्यापीठ, पृ. ८२०
२६	सार्थ गुजराती वर्तनी कोश, गुजराती विद्यापीठ, पृ. ८२२
२७	न्यूवेबस्टर्स डिक्शनरी ऑफ द इंग्लीश लैंग्विज, डीलेर, पृ. २१६
२८	कॉलिन्स इंग्लीश डिक्शनरी, सं. पेट्रिक्स हेंक्स, पृ. ३२४
२६	भार्गव इंग्लीश डिक्शनरी, सं. प्रो. आर. सी. पाठक, पृ. १०५
३०	बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश : भाग–१, डॉ. हरदेवबाहरी, पृ. ३६४
३१	बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश : भाग–१, डॉ. हरदेवबाहरी, पृ. ३६४
३२	बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश : भाग–१, डॉ. हरदेवबाहरी, पृ. ३६४
३३	भार्गव इंग्लीश डिक्शनरी, सं. प्रो. आर. सी. पाठक, पृ. ५६५
३४	समकालीन हिन्दी नाटक : कथ्य चेतना, डॉ. चन्द्रशेखर, पृ. १०

३५	समकालीन हिन्दी कविता, डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, पृ. १६
३६	नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ, डॉ. नगेन्द्र, पृ. ६३
३७	"य therefore, often wonder if the term - Contemporaneity does not better articulate the - Concept of modernity"- Modernity and Contemporary Indian Literature, P. 5.
३८	"विकल्प" कथा साहित्य विशेषांक – १६६८, ई. सं. शैलेष भटियानी, ' समकालीन कहानी में नयी संवेदना' ।
३६	'आभंग', चन्द्रकान्त बक्षी, पृ. १२३
४०	जलते और उबलते प्रश्न, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ. ७१
४१	बेबस्टर्स, थर्ड इन्टरनेशनल डिक्शनरी, वोल्यूम–I पृ. ४६१
४२	समकालीन हिन्दी कविता में आम आदमी, मृदुला जोशी, (प्राक्कथन से उद्धृत)
४३	उपन्यास का आँचलिक वातायन, डॉ. रामपत यादव, पृ. ४२
४४	उपन्यास का आँचलिक वातायन, डॉ. रामपत यादव, पृ. ४२
४५	नयी कविता के प्रतिमान, डॉ. लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ. २६४
४६	समकलीन हिन्दी कविता में आम आदमी, मृदुला जोशी, पृ. १
४७	उपन्यास का आँचलिक वातायन, डॉ. राममत यादव, पृ. ५०
४८	दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, डॉ. जयसिंह 'नीरद', पृ. ४४
४६	बृहत् हिन्दी कोश – सं. कालिका प्रसाद, पृ. १३८
५०	आधुनिकता : एक संकुल संप्रत्यय, बिपिन आशर, पृ. १६
५१	'कल्पना', अगस्त–सितम्बर, १६६६, 'नवलेखन विशेषांक–१', सम्पादकीय ।
५२	नयी कविता के प्रतिकमान, डॉ. लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ. २६४
५३	दृष्टव्य – हिन्दी रामकाव्य का स्वरूप और विकास बदलते युगबोध के परिप्रेक्ष्य में, प्रेमचन्द माहेश्वरी, पृ. ४७
५४	द ओक्सफोर्ड डिक्शनरी, वोल्यूम, XII
५५	भार्गव इंग्लीश डिक्शनरी, सं. प्रो. आर. सी. पाठक, पृ. १०५
५६	बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश : भाग–१, डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. ३६४
५७	बृहत् अंग्रेजी–हिन्दी कोश : भाग–१, डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. ३६४
५८	भार्गव इंग्लीश डिक्शनरी, सं. प्रो. आर. सी. पाठक, पृ. ५६५
५६	समकालीन कहानी की पहचान (प्रस्तावना) डॉ. नरेन्द्र मोहन, पृ. ७
६०	समसामयिक नाटकों में वर्ग–चेतना, पृ. ६४
६१	दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, डॉ. जयसिंह 'नीरद', पृ. ५२
६२	वेबस्टर्स थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी, पृ. १५२२
६३	दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, डॉ. जयसिंह 'नीरद', पृ. ५३
६४	राजपाल हिन्दी शब्द कोश, डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. ८०५
६५	विजिगीषु जीवनवाद (हिन्दी), प्रवाचक– श्री पाण्डुरंगशास्त्री आठवले, पृ. ४
६६	मेरे प्रिय निबन्ध (साहित्यकार : व्यक्ति और समष्टि), ले. महादेवी वर्मा, पृ. २३

६७	आंचलिक कथा : दशा और दिशा, मैत्री, पुष्पा, ३ मई से ९ मई १९९२, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, पृ. ४२
६८	भार्गव इंग्लीश डिक्शनरी, सं. प्रो. आर. सी. पाठक, पृ. ४६७
६९	हिन्दी शब्द सागर (भाग–८), सं. श्यामसुन्दर दास, पृ. ४५१
७०	'मनुस्मृति' – सरल टीका, पण्डित रामेश्वर, पृ. १५४
७१	'शुक्रनीति', शुक्राचार्य, पृ. १/६१
७२	धर्मशास्त्र का इतिहास – दूसरा भाग, पी.वी. काणे (अनु–अर्जुन चौबे कश्यप), पृ. ६०१
७३	(राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः) महाभारत, शान्तिपर्व, १३०/१२
७४	हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, रप अप्रैल, १९९०
७५	समकालीन कविता पर एक बहस, जगदीश नरायण श्रीवास्तव, पृ. १२२
७६	साहित्यशास्त्र, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. १०
७७	कल्याण–हिन्दू संस्कृति, अंक, पृ. २४
७८	भार्गव इंग्लीश डिक्शनरी, सं. प्रो. आर. सी. पाठक, पृ. १३३
७९	बदलते मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक, डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत, पृ. ७८
८०	आधुनिकता : एक संकुल संप्रत्यय, बिपिन आशर, पृ. २७
८१	हिन्दी खण्डकाव्यों में युगबोध, डॉ. राजबाला भारद्वाज, पृ. ३५
८२	मानववाद और साहित्य, नवलकिशोर, पृ. २०–२१
८३	आधुनिक साहित्यबोध, डॉ. नामवरसिंह, पृ. ४४
८४	समकालीन हिन्दी कविता के विविध आयाम, अंजनीकुमार दुबे (प्रस्तावना से उद्धृत)
८५	समकालीन हिन्दी कविता के विविध आयाम, अंजनीकुमार दुबे (प्रस्तावना से उद्धृत)
८६	सारिका, अंक–३०१, पृ. २२
८७	साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना, डॉ. जयश्री शुक्ला (मुखपृष्ठ से उद्धृत)
८८	रंगमंच (लेख), शंकरशेष रचनावली, खण्ड : पाँच, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष १९९०, पृ. ३६२
८९	नाट्य निबन्ध, दशरथ ओझा, पृ. २०३
९०	रंगमंच की भूमिका और हिन्दी नाटक, रघुवर दयाल वार्ष्णेय, पृ. ३६४
९१	नया नाटक : उद्भव और विकास, डॉ. नरनारायण राय, पृ. १०१
९२	हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास, सिद्धनाथ कुमार, पृ. १७

तृतीय अध्याय

डॉ. शंकरशेष के नाटकों में सामाजिक परिवेश

तृतीय अध्याय
डॉ. शंकरशेष के नाटकों में सामाजिक परिवेश

❀ स्वातंत्र्योत्तर युगीन भारतीय समाज :

स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे सामाजिक, नैतिक एवं आर्थिक मूल्यों में जो विघटन हुआ है उसके फलस्वरूप पुराने स्थिर सत्य अधिकांश झूठे दिखाई देने लगे । नई सामाजिकता तथा बदले हुए परिवेश की विकास चेतना एवं पारम्परिक जीवनगत मूल्यों में भारी उथल–पुथल मची थी । *''संयुक्त परिवारों का टूटना दाम्पत्य जीवन एवं वैयक्तिक जीवनधारा में अनेक परिवर्तन साथ ही भारतीय समाज अनेक विसंगतियों, विषमताओं एवं कुरीतियों से मुक्त नहीं हो सका था । एक सुनिश्चित जीवन दृष्टि से जीवनयापन करना कठिन होता जा रहा था । वर्गभेद, जातिभेद, धार्मिकता कलुषता, अन्धविश्वास, रुढिवादिता ने जीवन को अशान्त, असुरक्षित और अस्थिर बना दिया था ।''*[१]

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज व्यवस्था में परिवर्तन आने का महत्त्वपूर्ण कारण शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार है । आज आम आदमी ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर रहा है जिससे उसका चिन्तन विकसित हुआ है । स्त्री–पुरुष दोनों को ही विकास के समान अवसर प्राप्त हो रहे हैं और इसी कारण नारी भी आज घर की चहार दीवारी में कैद नहीं बल्कि अपने अधिकारों, अपने व्यक्तित्व निर्माण, अपनी स्वतन्त्रता के प्रति सजग है । शिक्षा ने उसे आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बना दिया है । अब वह किसी के आश्रय की आवश्यकता अनुभव नहीं करती इसलिए अपनी स्वतन्त्रता पर आक्रमण होने पर आज की नारी विद्रोहिणी बन जाती है । विष्णुप्रभाकर के नाटक 'युगे युगे क्रान्ति' की शारदा नारी जीवन में नवोन्मेष की स्थिति की प्रतीति कराती हुई मुक्ति की

घोषणा करती है – *''स्त्रियाँ घर में रहने के लिए नहीं होतीं । वे दिन अब बदल गए । क्या तुम नहीं जानते कि आदि शक्ति, महाचण्डी, महामाया, महाकाली ये सभी स्त्रियाँ थीं । इन्होंने ही अनाचारी दानवों को मारकर सृष्टि की रक्षा की थीं ।''*[२] शिक्षा के प्रसारने प्राचीनकाल से चली आ रही संयुक्त परिवार प्रथा को भी झकझोरा है । चूँकि संयुक्त परिवार में व्यक्ति को किसी न किसी के अधिकार में रहना पड़ता है, जिससे उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास नहीं हो पाता । शिक्षित व्यक्ति यह सहन नहीं कर पाता और विद्रोह कर उठता है । पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभाव, नौकरी की समस्या, आर्थिक परिस्थिति आदि ने संयुक्त परिवार को छोटे–छोटे से परिवार में बदल दिया है । संयुक्त परिवार में विघटन का प्रमुख कारण पुरानी तथा नई पीढ़ी के विचारों में अन्तर है – *''पीढ़ियों का यह संघर्ष केवल व्यक्तियों का संघर्ष नहीं, मान्यताओं, मूल्यों का संघर्ष भी है । पुरानी पीढ़ी आदर्श को, नई पीढ़ी यथार्थ को, पुरानी पीढ़ी ने नैतिकता और नई ने आकांक्षा को लेकर अपने–अपने लिए जो बन्द घेरे बना लिए हैं, उससे वे एक–दूसरे के लिए इतने सन्दर्भहीन, निरर्थक और निर्मूल हो जाते है कि वे एक–दूसरे को समझ नहीं पाते ।''*[३] इसके साथ ही शिक्षित–अशिक्षित के रहन–सहन, खान–पान, विधाराधारा आदि में साम्य न होने के कारण संयुक्त परिवार में रहना मुश्किल हो गया और एकाकी परिवार प्रमुखता प्राप्त करते गये । फलतः सामाजिक व्यवस्था में बदलाव आया ।

जहाँ एक ओर शिक्षा ने व्यक्ति–चेतना में सजगता उत्पन्न की है वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को निराशा भी प्रदान की है क्योंकि आज की शिक्षा न तो व्यावहारिक है और न ही रोजगारोन्मुख अपितु सैद्धान्तिक अधिक है । इसलिए आज लाखों शिक्षित युवक–युवतियाँ बेरोजगार हैं ।

इसके साथ ही औद्योगीकरण ने भी सामाजिक–व्यवस्था को परिवर्तित किया । औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण व्यक्ति गाँव छोड़कर नौकरी के लिए शहर की ओर प्रयाण करने लगे । गाँव से लेकर नगर तक सीधा सम्पर्क

जुड़ा है और परिवर्तन की गति तेज हुई है । इन परिवर्तनों के कारण, *''हमारा नैरन्तर्य टूट गया है और जिन्दगी उखड़ गयी है, जीवन के अनगिनत तौर–तरीके, जिनकी जड़ें दूर तक धरती में गड़ी हुई थीं, आज अन्तिम रूप से टूट चुकी हैं ।''*[४] इस स्थिति में अपने परिवार (पत्नी एवं बच्चों) को साथ रखना उन्हें सुविधाजनक लगा और संयुक्त परिवार प्रथा टूटने लगी । संयुक्त परिवार टूटने से बच्चे सिर्फ अपने माता–पिता तक ही सीमित रहे, अन्य रिश्तों को भूलते गये, पारस्परिक सद्भाव समाप्त होता गया और 'अहम्' की भावना ने व्यक्ति में विकास पाया । व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध टूटने लगे और व्यक्ति–चेतना स्वकेन्द्रित हो गई ।

औद्योगीकरण के बढ़ते चरणों के कारण जाति–व्यवस्था में भी परिवर्तन आया है । वर्ण–व्यवस्था से निर्धारित पेशों पर आश्रित रहना दुष्कर है । शहरों के होटल, मिल, कारखानों में कार्य करने से, एक साथ उठने बैठने के कारण खान–पान आदि नियमों का निर्वाह नहीं हो पाता । इधर शिक्षा के प्रसार के कारण विकसित व्यक्ति–चेतना ने भी जाति व्यवस्था का विरोध किया है । परिणाम स्वरूप जाति–व्यवस्था तो समाप्ति पर है । *''भारतीय वर्ण–व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन का महत्त्वपूर्ण आधार रहा है । आज वह लगभग टूटने के कगार पर है । भारत में वर्ण–व्यवस्था वैदिक संस्कृति की देन है । जिनमें जीवन और समाज को सुव्यवस्थित करने की व्यवस्था थी । कालान्तर में इसमें परिवर्तन आया । वर्ण, जातियों और उपजातियोंमें विभाजित होता गया । इन जातियों और उपजातियों ने अपने–अपने विश्वासों और मान्यताओं के रक्षार्थ अपना पृथक्–पृथक् संगठन बनाना शुरू किया और आधुनिक काल तक आते–आते यह एक प्रथा के रूप में विकसित होकर समाज को अत्यधिक विश्रृंखलित करने में सफल हुई ।''*[५] उसका स्थान विभिन्न व्यवसायों पर आधारित वर्गों ने ले लिया है, जैसे सामन्तवर्ग, पूँजीपति, श्रमिक और मध्यमवर्ग । वर्ग बन जाने से एक वर्ग से दूसरे वर्ग में दूरी बढ़ी है और व्यक्ति–चेतना एक–दूसरे का खुलकर विद्रोह कर रही है । इसी कारण

हडतालें, नारेबाजी आज की समाज–व्यवस्था में सर्वाधिक दिखाई पड़ते हैं । *''किसी भी विकसित समाज के लिए मानव का जाति एवं वर्ग में बँटवारा अच्छी बात नहीं कही जा सकती है । समाज में व्यक्ति के चरित्र, गुण, मनीषा, साधना और तपस्या की अपेक्षा जन्मगत सम्मान उसके उन्नति के पथ पर हमेशा बाधक होता रहा है । ऐसा समाज किसी भी प्रकार उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता ।''*[8]

धार्मिक स्थिति के परिवर्तन ने नैतिकता के मानदण्डो को बदल दिया है । व्यक्ति, जिस पर पहले धर्म का नियन्त्रण या अब स्वतन्त्र एवं निर्भीक है । विज्ञान और भौतिक उन्नति ने धर्म की अधिकांश मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया । डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त का मानना है – *''सामाजिकता में धर्म के पर्यवसान ने नये–नये प्रश्नों को उत्पन्न किया है ।... धर्म की निर्धारण शक्ति क्षीण होती जा रही है । पुजारी और पुरोहित आज जनता और ईश्वर के मध्यस्थ नहीं रह गए हैं । व्यक्ति की क्रियाएँ उसके अपने द्वारा संचालित एवं निर्धारित होती हैं । जीवन में धार्मिक आदर्शों की अवैध घुसपैठ पर विज्ञान ने रोक लगा दी है ।''*[9] मानववाद के साथ ही सारी नैतिकता का केन्द्र ईश्वर की जगह मानव बन गया । प्राचीन समय में व्यक्ति समाज–विरोधी कार्य करता था तो उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था, परन्तु आज व्यक्ति सामाजिक बन्धन स्वीकारने के लिए तैयार नहीं क्योंकि वह उन्हें व्यक्तित्व के विकास में बाधक मानता है । परम्पराएँ और रीति–रिवाज उसे प्रभावित नहीं करते । फलतः वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परम्परा–मुक्त व्यक्ति–चेतना ने विकास पाया है ।

बदलते परिवेश में, बदली हुई स्थिति में नैतिकता और पवित्रता की धारणाओं एवं मान्यताओं ने धार्मिक सीमाओं से निकलकर पवित्रता और नैतिकता को मानवीय सन्दर्भ दिया । विवाह जैसे परम्परागत पवित्र बन्धन ढीले पड़ गए हैं । प्राचीनकाल में विवाह कोई समस्या नहीं था परन्तु आज परिवर्तित विचारधारा ने विवाह–संस्था को ही निरर्थक घोषित किया है । विवाह

के सम्बन्ध में प्रायः ऐसे सूर उठते हैं कि, जो शादी करते हैं वे अपने आपके साथ मजाक करते हैं । *''विवाह माने खुद को समाप्त करना है ।''*[६] आधुनिक नवयुवक–नवयुवती विवाह के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय लेना पसन्द करते हैं । यदि परिवार अथवा समाज उसमें बाधा उपस्थित करता है तो व्यक्ति कानून का आश्रय ले सामाजिक मान्यताओं की अवहेलना करता है और व्यक्ति में विद्रोह की भावना विकास पाती हैं । डॉ. कान्तिवर्मा के विचारानुसार – *''स्त्री का जो मूल्य अब–तक यौन पवित्रता पर आंका जा रहा था, धीरे–धीरे अब शिथिल होने लगा है और स्त्री के सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करने के लिए उसके अन्य आन्तरिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक गुणों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा है । नारी सम्बन्धी यौन प्रतिबन्ध के कड़े बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं और इस प्रकार वह प्राचीन सामाजिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह करके नवीन मान्यताओं को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देती है ।''*[६]

सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में अस्थिरता आयी है । प्राचीन काल में बालक माता–पिता की आज्ञा का पालन करना अपना कर्तव्य समझते थे परन्तु पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव ने हमारी सामाजिक स्थिति को परिवर्तित किया है । वर्तमान समय में बालक के लिए माता–पिता के आदर्शों के खिलाफ आचरण करना 'धर्म' है, शिक्षार्थी के लिए शिक्षक का अनादर करना, उसकी खिल्ली उड़ाना धर्म है, अनुशासनहीनता धर्म है । स्पष्ट हे कि वर्तमान समय में नैतिकता के मानमूल्यों में भारी गिरावट आयी है ।

आर्थिक स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए स्त्रियों ने पुरुषों से टकराना शुरू किया, उसे पुरुष समाज सहन नहीं कर सका । इसी कारण स्त्री–पुरुष के परम्परागत सम्बन्ध विघटित हुए हैं । *''आज का मनुष्य अपने आप में टूटन महसूस कर रहा है और बाह्य परिवेश की कटुता से भी स्वयं ही टूटकर बिखर रहा है ।''*[७०] इस प्रकार पारिवारिक सम्बन्धों (भाई, बहिन, पति–पत्नी आदि) में भी परिवर्तन आया है । शिक्षा व स्वतन्त्रता के इस युग

में नारी पुरुष के बन्धन से मुक्त है । पुरुष किसी दूसरी नारी से सम्बन्ध रखता है तो नारी किसी पर पुरुष से । *''अगर वे साथी बदलते हैं, तो इसमें हर्ज क्या हैं ?''*[११] इसी कारण व्यक्ति–चेतना में वैवाहिक जीवन के प्रति अनास्था और विश्वास उत्पन्न होता जा रहा है ।

समाज की इन विषम परिस्थितियों और समस्याओं के लिए कारणभूत घटक तत्त्वों में वर्तमान शिक्षा, स्वतन्त्रता, बुद्धिवादी दृष्टिकोण, वैज्ञानिकता, औद्योगीकरण आदि के विकास ने सामाजिक स्थिति के परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है । परिवर्तित सामाजिक स्थिति से व्यक्ति–चेतना प्रभावित एवं विकसित हुई है, उसने समाज के महत्त्व को मानने से इन्कार कर दिया है । यदी समसामयिक सामाजिक स्थिति स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में भी उपलब्ध है ।

❀ उच्चवर्ग :

भारतीय समाज–व्यवस्था राजाओं और सामन्तों के चंगुल से मुक्त होकर उच्चवर्ग के अधीन हो गई है । उच्चवर्ग में राजा, जमींदार, साहूकार, पूँजीपति, उद्योगपति, गाँव का मुखिया, मिल मालिक, नेता, नवधनाढ्य वर्ग और ऊँचे होद्दे पर आसीन अफसर आदि शामिल हैं, जो एक ओर सामन्ती संस्कारों से ग्रसित हैं, तो दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता की अन्धी दौड़ व भोग से पीड़ित । इनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो अपनी जन्मजात कुलीनता, वंश–परम्परा, अभिजात संस्कार का निर्वाह जीवन–पर्यंत करते हैं । 'खजुराहो का शिल्पी' नाट्य रचना का राजा यशोवर्मन इतिहास प्रसिद्ध चन्द्रात्रेयवंश के गौरव और उच्चसंस्कारिता से अत्यन्त शोभित हैं । वे अपनी उदात्त–संस्कारिता की प्रतीति पुत्री अलका के लिए सर्वगुणसम्पन्न राजकुमार की प्राप्ति की चिन्ता के जरिए कराते हैं, *''सच कहूँ, पुष्पा, अलका के सौन्दर्य का वरण करने की पात्रता मुझे किसी राजकुमार में नहीं दिखाई देती । मैं अपनी कन्या को किसी राह चलते व्यक्ति को नहीं सौंप सकता ।''*[१२] वे अपने प्रसिद्ध वंश को खजुराहो के मन्दिर के साथ जोड़कर उसकी कीर्ति अखण्डरूप से पृथ्वीतल पर बने रहने की कामना करते हैं, *''यह मन्दिर इस वंश की कीर्ति–पताका को हमेशा फहराता रहेगा ।''*[१३]

उच्चवंश का यह प्रताप है कि वह अपनी और अन्य राजपुरुषों का ध्यान आकर्षित करता है । 'कोमल गान्धार' नाटक में महाभारत के प्रखर यौद्धा और महान चरित्र 'भीष्म' अपने उज्जवल कुल की प्रचण्ड शक्ति और सामर्थ्य का परिचय देते हुए कथन करते हैं, *''हस्तिनापुर जैसी शक्ति से कौन सम्बन्ध जोड़ना नहीं चाहेगा, संजय ।''*[१४]

उच्च राज–वंशियों में योग्य उत्तराधिकारी की खोज हर हमेश बनी रहती है । कुल–परम्परा को अखण्ड बजाये रखने के लिए किसी के प्रति अन्याय, अत्याचार करने से झिझकते नहीं । गान्धारी को राजरक्त से जन्मे एक शरीर से ज्यादा कुछ भी नहीं माननेवाले कौरवकुल की घिनौनी राजनीति के प्रति उसका आक्रोश फूट पड़ता है – ''कौरवों को चाहिए या एक शरीर, जिसमें बहता हो राजरक्त.. ऐसाशरीर जिससे राजरक्तवाले दूसरे पैदा किये जा सकें .... बताइये इससे ज्यादा मेरे अस्तित्व को स्वीकारा है आपके इस महान कुल ने ।''[१५]

उत्तराधिकारी के लिए संघर्ष, युद्ध, भिडन्त की भयावह स्थिति राजवंशियों के लिए आम बात है । परम्परागत चली आ रही राजसत्ता को ग्रहण करने की होड़ 'अरे ! मायावी सरोवर' नाटक में देखी जा सकती है । राजा इब्वलु के पुत्र अंशुमाली को राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी माना जाए या ऋषि पत्नी (राजा) के पुत्र कुमार को ? यानी कि राजसत्ता पर पितृसत्ता का प्राधान्य है या मातृसत्ता का ? इस द्वंद्वात्मक स्थिति का निराकरण इन्द्र इस प्रकार करते हैं – ''आर्यों की पितृसत्ता पद्धति को चलाना हम सबका कर्तव्य है ।''[१६]

इस वर्ग में व्याप्त भोग–विलास, मदिरापान, परस्त्रीगमन तथा अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करना जैसे उच्चवर्ग का शौक बन गया है । 'कालजयी' नाटक कालजयी राजा में उद्दाम भोग–लालसा भरी हुई है । इसे वह राजसत्ता के बल पर पूरी करता है । उसके राज्य की कोई भी कली उसकी अनुमति के बगैर खिल नहीं सकती । उसने अनधिकृत चेष्टा करके सैकडों सुन्दर युवतियों को बलात् अपनी रानी बनाया है । वह पुरबी को अपनी पाशवी शक्ति का परिचय

देते हुए कहता है, *''तुम मत भूलो कि मैं इस देश का राजा हूँ, तुम पर बलात्कार करने की मुझे पूरी सुविधा और अधिकार है । और लोग जानते हैं कि मैं इस अधिकार का उपयोग बिना हिचकिचाहट के किया करता हूँ ।''*[१७]

धनाढ्य लोगों का प्रेम के प्रति देखने का दृष्टिकोण आदर्श एवं सात्त्विक नहीं होता । उनके लिए प्रेम क्षणभंगुर स्थिति होती है जो नये–नये पात्रों में नये–नये रूप में उभरती है । 'मूर्तिकार' और 'नयी सभ्यताः नये नमूने' नाटकों में नाटककार ने प्रेम को प्रदर्शन माननेवालों और वासना सन्तुष्टि का माध्यम समझनेवालों पर कठोर व्यंग्य कसा है । जैसे 'नयी सभ्यताः नये नमूने' नाटक का कृष्ण प्रेम की सात्त्विकता समझाता है, *''तुम लोगों का प्रेम केवल एक प्रदर्शन है, केवल एक फैशन है, उसमें कहीं भी आत्मा का स्वर नहीं है । तुम लोगों का प्रेम सतही है, उसमें ईमानदारी की गहराई नहीं है ।''*[१८] 'मूर्तिकार' नाटक का सतीश उच्चवर्गीय नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है । उसका काम है, सुनहरे जाल में कुंवारी लड़कियों को फाँसना फिर उनके साथ भोगरमण करके उन्हें दर–दर की ठोकरें खाने के लिए त्याग देना । ऐसे लोग शुद्ध व्यापारीवृत्ति के होते हैं । उन पर विश्वास करना आपत्ति को न्यौता देने सदृश होता है । सतीश अपने पापाचार पर पश्चाताप किए बिना बेझिझक असलियत बताता है, *''मैंने उससे कब कहा था कि तुम इस सुनहरे जाल में फँस जाओ... यदि मैंने झूठे वचन दिये तो तुम्हारी बहन ने उन पर विश्वास क्यों किया ?... मैं एक व्यापारी का लड़का हूँ शेखर बाबू... । यहाँ तक कि स्त्रियों के प्रति भी मेरी दृष्टि व्यापारी की होती है ।''*[१९]

डिनर संस्कृति भी उच्चर्ग की शान है । यह पार्टियाँ जहां एक ओर बड़े अधिकारियों को कालाधन्धा करनेवाले व्यापारियों और छोटे अधिकारियों द्वारा पटाने–प्रसन्न करने का साधन बनती हैं । फिर मुर्गे की मिजबानी और शराब की छोरें तो उड़नी ही है परन्तु सबसे ज्यादा ध्यानाकर्षक तमन्ना के फूल खिलानेवाली मजेदार औरत सेवा में तत्पर की जाती है । डॉ. शेषजी ने 'पोस्टर' नाटक में इस वास्तविकता को उभारा है । यथा–

फोरेस्ट ऑफिसर : दारू और मुर्गा तो हर कहीं मिल जाता है, पटेल साहब !

पटेल : जंगल में और किया ही क्या जा सकता है साब !

फोरेस्ट ऑफिसर : जंगली माल तो चखा जा सकता है ।

पटेल : समझ गया साब ! वैसे मैंने अपने लिए एक छाँट रखी थी... कहिए तो आपके भोग लगाए देता हूँ ।

फोरेस्ट ऑफिसर : लेकिन माल बढ़िया और ताजा होना चाहिए ।

पटेल : आप बेफिकर रहें साब ! बिलकुल चिरौंजी दानेकी तरह पोष्टिक... और कच्चे ऑवले की तरह रसदार होगा ।''[२०]

'रक्तबीज' नाटक का छोटापुरुष (मि. शर्मा) अपने बॉस बड़ापुरुष (मि. माथुर भार्गव) को अपने घर डिनर के लिए आमन्त्रित करता है । डिनर के लिए बॉस को आमन्त्रित करने के पीछे मि. शर्मा के प्रयोजन में उसकी पदोन्नति की भावना निहित है । स्वार्थ साधना के लिए वह अपनी पत्नी सुजाता (स्त्री) को मि. माथुर भार्गव का मन बहलाने को प्रस्तुत करता है । मि. माथुर भार्गव पार्टीगेम्स का प्रस्ताव रखता है – ''*ये लो मेरा रूमाल । शर्मा, रूमाल दो अपना । हाँ, अब बाँधों हम दोनों की आँखों पर पट्टी । (स्त्री पट्टी बाँधती है) अब कमरे में कहीं छिप जाओ । पुकारो–डार्लिंग... (स्त्री एक कोने में खड़ी होकर पुकारती है – डार्लिंग) बस इसी तरह । अब हम खेल शुरू करते हैं । स्टार्ट !*''[२१] पार्टी गेम्स के बहाने मि. माथुर भार्गव सुजाता को अपनी बाँहों में जकड़ लेता है । मि. शर्मा अपने बॉस की अवांछित चेष्टा को उच्चवर्ग की सहज आदतों में खपा देता है ।

उच्चवर्ग की आर्थिक सम्पन्नता का एक कारण उसके द्वारा किए जानेवाले काले धन्धे हैं । जिनसे बेहिसाब दौलत वे इकट्ठे किए हुए हैं । 'आधी रात के बाद' में चोर (राजकुमार) तथाकथित कानून जाननेवाले वकील, आदिमजाति कल्याण करनेवाले समाज सेवक, फिल्म प्रोडयूसर, नपुंसकपति, बड़े–बड़े बिल्डर,

सट्टे का बाजार चलानेवाले माफिया लोग और इन सब पर मीठी दृष्टि रखनेवाले पुलिस वाले और उच्चवर्ग का दम्भ भरनेवाले डॉक्टर, इंजीनियर.... सबके सब चोर हैं । ऐसे चोर जो अपनी काली करतूतों को ढाँकने के लिए ऊँचे होद्दे और सामाजिक प्रतिष्ठा की आड़ में रहते हैं । इन सब सफेदपोशी वर्ग की पोल जज साहब के सामने खोल देता है । वह जज का आश्चर्य बढ़ाते हुए कहता है – *''जेल का नहीं । जेल में वकील । अब जेल में भी तो सभी होते हैं सर ! आप लोग ही तो भिजवाते हैं उनको । डॉक्टर, इंजीनियर, बैंकवाले अफसर, अब किनका–किनका नाम लूँ ! अब वकील पहुँच जाए तो इसमें क्या अचरज !''*[२२]

व्यापारीवर्ग भी तो सरे आम व्यापार–वाणिज्य के नाम पर लूँट चलाते हैं । लोगों से रुपये ऐंठने का सर्वसामान्य तरीका अपनाकर वे लखपति बन जाते हैं । 'नयी सभ्यताः नये नमूने' नाटक का नायक कृष्ण महाभारत कालीन कृष्ण की भाँति इन प्रतिष्ठित लोगों के चीरहरण करते हुए कहता है, *''आखिर तुम्हारे पिता ने, धरणी और स्मृति के पिता ने.. लोगों को लूंटकर ही तो लाखों की सम्पत्ति इकट्ठी की है । भूलवू के पिता असली घी के नाम पर नकली घी बेचते हैं । घरणी के पिता ने कंकड़ और रेत मिलाकर गल्ले का व्यापार किया ।''*[२३]

इस प्रकार एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि आभिजात्य वर्ग संस्कारों और नैतिकमूल्यों आदि मानवीय परिमाण की दृष्टि से हीन दृष्टिगोचर होता है । यह वर्ग पतनोन्मुख है, परन्तु वित्तीय सुदृढ़ता और सामाजिक प्रतिष्ठा उसे श्रेष्ठता का अधिकार प्रदान करती है । डॉ. शंकरशेष के नाटकों में उच्चवर्गीय पात्र अधिकांशतः पतित अवस्था में पाए जाते हैं ।

❀ *मध्यमवर्ग :*

मध्यमवर्गीय जीवन और मानसिकता समसामयिक नाटक की संवेदना का प्रमुख केन्द्रबिन्दु बना हुआ है । ग्रामीण समाज के जीवन में औद्योगीकरण, आधुनिकता और शहरीकरण के वस्तुगत एवं भावगत संघात की प्रक्रिया से जो

परिवर्तन हुए उसके अनेक सन्दर्भ समसामयिक नाटक की कथावस्तु बने । *''हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग का उदय ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना और अंग्रेजी व्यवस्था के विस्तार के साथ हुआ ।''*[२४] उच्चवर्ग के सान्निध्य से मध्यमवर्ग के अन्दर भी कुछ लालसाएँ जागी हैं । उसकी अपनी सीमाएँ, विवशताएँ और संस्कार थे । परिणामतः वह उच्चवर्ग के साथ समायोजन न साध सका, किन्तु अपने आधार को छोड़ देने के कारण वह अपने वर्ग से भी कट गया । मानसिक रूप से मध्यमवर्ग प्राचीन पुरातन खोखली मान्यताओं एवं प्रथाओं से लिपटा होता है ।

अपने विकासकाल से लेकर आज तक जीवन और व्यक्तित्व सर्वाधिक उथल–पुथल से युक्त एवं संघर्षों से भरा हुआ है; क्योंकि अतीत की परम्पराओं को यह वर्ग एकाएक उतार फेंकने में असमर्थ रहा है । उच्चवर्ग ने उसे प्रतिस्पर्धा की दौड़ में खड़ा तो किया, परन्तु दौड़ पाने योग्य ताकत उसमें नहीं ।

मध्यमवर्ग के लोग अपने खोखलेपन से सुपरिचित होते हुए भी दुनिया के सामने बडप्पन के साथ पेश होना पसन्द करते हैं । जैसे रहने के लिए फ्लैट चाहिए, चाल का कमरा पसन्द नहीं करते । झोंपडपट्टी में रहना तो उनकी शान–शौकत के खिलाफ हैं । घर में शो–केस हो, गुलाब के फूल, नीले परदे सब चाहिए । मजदूरों से कम तनख्वाह पाकर भी मजदूर कहलाने से नाक–भौं सिकुड़नेवाले ये त्रिशंकु की सन्तान हैं । न इधर के न उधर के । दिखावा करके झूठी प्रतिष्ठा का भ्रम पैदा करना उनका स्वभाव बन गया है । चन्द्रकान्त महादेव बान्दिवडेकर ने मध्यमवर्ग की व्याख्या इस प्रकार की है – *''भारतीय मध्यमवर्ग में सामान्यतः उस समाज का अन्तर्भाव किया जाता है जो अंग्रेजों के आगमन के बाद अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर सामान्यतः सुविधाजनक जीवन को प्राप्त कर सका । शासन विभाग में नौकरियाँ प्राप्त कर अथवा अंग्रेजी शिक्षा के बल पर डॉक्टर, वकील, इंजीनियर के तौर पर वैज्ञानिक अथवा तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर इस वर्ग ने आम तौर पर शारीरिक श्रम न करते हुए जीवन निर्वाह किया ।''*[२५]

डॉ. शंकरशेष के बहुतायत नाटकों का कथावृत्त मध्यमवर्ग के जीवन पर आधारित है । इस मध्यमवर्ग की कुछ जन्मजात कमजोरियाँ होती हैं, जो आगे दृष्टव्य हैं ।

'घरौंदा' नाट्य रचना का नायक सुदीप आवास की समस्या की जड़ में छिपी मध्यमवर्गीय आडम्बरप्रियता या उच्चनैतिकता की भावना को मानता है । वह छाया के सम्मुख मध्यमवर्ग की कमजोरी को प्रकट करता है, *''घर तो जब चाहे हो सकता है । लेकिन हमारी समस्या यह नहीं है, छाया ! हमारी समस्या है मध्यम वर्गीय नैतिकता का बोझ ।''*[२६]

वस्तुस्थिति को नजरअन्दाज करने से कभी परिस्थिति बदल नहीं जाया करती । यह तो अपने आपको धोखा देने के बराबर है । 'मूर्तिकार' नाटक में वास्तववादी पात्र अनादि जानता है कि शेखर के घर में चाय बनाने शक्कर, दूध–चाय नहीं हैं, खाने के लिए धान्य नहीं है फिर भी शेखर और ललिता लगातार अपनी दरिद्रता को ढाँकने का असफल प्रयास करते हैं । रईसी का दम्भ भरनेवाली मध्यमवर्ग की खोखली प्रवृत्ति का पर्दाफाश करते हुए अनादि भभूक उठता है, *''शेखर, यह मध्यमवर्ग कब अपने आपको धोखा देना छोड़ेगा ।''*[२७] इसवर्ग के लोग अपनी घिसी–पिटी धारणा को बदलने न जाने कित–कितने नुस्खे अपनाते हैं ।वैसे तो वे अपनी स्थिति से आश्वस्त नहीं होते और फिर वे एक ऐसी लघुताग्रंथि से पीड़ित होते हैं जो उन्हें दुनियावालों के सामने असाधारण दिखाने के लिए प्रेरित करती है । उनका मानोव्यापार इतर लोगों से विश्वास दिलाना चाहता है कि वे साधारण लोग नहीं । केवल दुर्भाग्य से साधारण लोगों के बीच रहने के लिए मजबूर हैं । 'रक्तबीज' नाटक में नाटककार ने इस सत्य को रेखांकित किया है । छोटापुरुष (मि. शर्मा) अपनी स्त्री (सुजाता) को उच्चवर्गीय औरत की हैसियत से अपने बॉस के सामने पेश होने की सलाह देता है । मतलब कि उच्चवर्गीय औरत जैसे नखरें दिखाती है, विहस्की पीती है, झुमती है, परपुरुष के स्पर्श को अभद्र नहीं मानती है और सब तरह से दकियानूसी ख्यालों से पर हो जाती है.... इत्यादि उसे भी करना चाहिए । उसके मतानुसार यही एकमेव रामबाण इलाज है, मध्यमवर्गीय छाप

मिटाने का । परन्तु स्त्री (सुजाता) द्वारा विहस्की पीनेवाली बात पर एतराज जताए जाने पर वह क्रोधित हो उठता है – *''तो बचाए रखो अपने सड़े हुए मिडिलक्लास के वेल्यूज को और झुलसती रहो 'हाय–हाय' के इसी नरक में !''*[२८]

डॉ. शंकर शेषजी की कुछेक नाट्य–रचना में मध्यमवर्ग के अभाव, पीड़ा, दम्भ, महत्त्वाकांक्षाओं और उसकी पूर्ति के अभाव से उत्पन्न नैराश्य–कुंठा आदि को सटीक अभिव्यक्ति मिली है । उच्चवर्ग की अपेक्षा मध्यमवर्ग के लोगों के जीवन में सफलता के अवसर बहुत कम आते हैं । बहुधा इनका जीवन जिस बिन्दु से प्रारम्भ होता है अन्त उसी तक सीमित रह जाता है । उनकी आँखों में स्वप्निल महत्त्वाकांक्षा हमेशा तैरती रहती है । वास्तविकता से वे बेखबर रहते हैं और दिग्भ्रमित होकर भटकने के लिए बाध्य बन जाते हैं । 'नई सभ्यताः नये नमूने' नाटक के अन्तर्गत कृष्ण, ऊधो से भावि युवा पीढ़ी की भ्रामक प्रवृत्ति पर क्षोभ प्रकट करता है – *''संसार में स्वप्निल महत्त्वाकांक्षा रखनेवालों की कमी नहीं है ऊधो ! आज के बहुत से नवयुवक और नवयुवतियाँ अपनी वास्तविकता नहीं पहचानती । आँखों पर पट्टी बाँधकर चलते हैं । ये अन्धे पीसते हैं और समाज के धूर्त लोग खाते हैं ।''*[२९]

मध्यमवर्गीय और फिर महानगर में नौकरी करके जीवन गुजारा करनेवाले युवक युवतियों की महत्त्वाकांक्षा कभी–कभी आकाश को छूने लगती है । वैसे आदमी की जिद और ऊँची–महत्त्वेच्छा उसकी दुःखद स्थिति का कारण बनती है । 'घरौंदा' नाटक का नायक सुदीप इस कटु सत्य से छाया को अवगत कराता है – *''हमारी समस्या है गरीबी के रेगिस्तान में महत्त्वाकांक्षाओं का कमल खिलाने की जिद ।''*[३०] महत्त्वाकांक्षा के साथ क्रूरता का पुराना रिश्ता है । महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति पर जब धुन सवार हो जाती है बड़ा आदमी बनने की तो वह बुरे–से–बुरे काम करने में संकोच नहीं करता । यह व्यक्ति को इतना अन्धा और क्षुद्र बना देती है कि अपने रिसते हुए चारित्र्य के प्रति वह नितान्त निर्मोही बन जाता है । उचितानुचित का विवेक खो बैठता है । हकीकत में यह व्यक्ति की आत्मप्रवंचना सिद्ध होती है किन्तु मनोवांछित फल

पाने की ललक उसे सबकुछ भूला देती है और क्रूर बना देती है । 'रक्तबीज' नाटक की गुंजन छोटा पुरुष की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए पत्नी को भोग्य पदार्थ रूप में बॉस के सामने प्रस्तुत करनेवाली आत्मप्रवंचनात्मक प्रवृत्ति की आलोचना करती हुई कहती है, *''महत्त्वाकांक्षा क्रूरता की सबसे बड़ी रखैल है, प्यारे ।''*[३१] महत्त्वाकांक्षा है तो अपने आप में बड़ी क्रूर । उसके पूरी होते–होते कई भावनाओं को दबोचा जाता है । आसान रीति से प्राप्त होनेवाली महत्त्वाकांक्षा कैसी ? 'बन्धन अपने–अपने' नाटक के नायक जयन्त अपनी मनःस्थिति को प्रकट करते हुए कहता है, *''मेरा अब तक का जीवन केवल एक महत्त्वाकांक्षा से पीड़ित रहा है । महत्त्वाकांक्षा की उपलब्धि सम्भवतः बहुत सी भावुक स्थितियों का गला घोंटकर ही होती है ।''*[३२]

आज के दौर में व्यक्ति का आत्मविश्वास इतना ऊँचा उठ गया है कि अत्यन्त विपन्न अवस्था में भी कुछ विशेष सिद्धि हांसिल करके दिखा सकता है । ऐसे वक्त महत्त्वाकांक्षा लक्ष्यसिद्धि का पर्याय हो जाती है । वो समय गुजर गया जब निर्धन व्यक्ति अपनी बेबसी को ओढ़कर के जीवित को पूरा कर देता था परन्तु अब व्यक्ति पूरी तरह से जुझारू बना है । किसी भी स्थिति से जूझकर अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरी करके अपने दुर्दिन को तिलांजलि दे सकता है । 'बिन बाती के दीप' नाटक की मंजू इस सत्य का उद्‌घाटन करती हुई कहती है – *''ठीक कह रही हूँ । आज से दो साल पहले मैं इस घर में टाइपिस्ट के रूप में आयी थी । मुझे पैसों की आवश्यकता थी । मुझे अपने भाइयों को पढ़ाना था । उन्हें इन्जीनियर और डॉक्टर बनाना । । शिव, तुम तो जानते हो, हमारा परिवार गरीब है, पर महत्त्वाकांक्षी है । मैंने सोचा था, मेरी महेनत मेरे परिवार की महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने में मदद देगी ।''*[३३]

मध्यमवर्गीय लोग यह कहते है कि आज समाज में धन की महत्ता सबसे अधिक हो गई है । आज के समाज में सबसे अधिक महत्त्व व सम्मान धनी व्यक्ति को मिलता है दूसरी तरफ इनका विचार है कि आज का व्यक्ति केवल सफलता को ही देखता है चाहे वह सफलता जिस तरीके से भी हांसिल

की जाए । अपने जीवन को उच्चस्तरीय बनाने के लिए यह वर्ग प्रारम्भ में क्रियाशील होता है तथा आवश्यकतानुसार उनके लिए योजनाएँ भी बनाता है लेकिन इन योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने के लिए उचित आर्थिक साधन के अभाव के कारण ये असफल रहते हैं । इस प्रकार इनके साधनसाध्य में एकरूपता न होने के कारण इनकी ऊँची–ऊँची आकांक्षाएँ तथा अभिलाषाओं पर आधारित इनकी भावि योजनाएँ इनके जीवन में केवल हवाई महल बनकर ही रह जाती है ।

❀ निम्न वर्ग :

सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक शोषित एवं उपेक्षित वर्ग निम्नवर्ग कहलाता है । समाज में सम्पत्तिवान और सम्पत्तिहीन वर्ग आदिकाल से विद्यमान रहे हैं । ऐतिहासिक दौर में निम्नवर्ग कभी दास, भूदास, कृषिदास, श्रमिक, सर्वहारा तथा भारतीय समाज में कभी शूद्र, अन्त्यज आदि संज्ञाओं से अभिहित होता रहा है । निर्धनता, अशिक्षा, निम्न जीवन स्तर इसके लक्षण माने जाते हैं । *''बहुत से लोगों की मान्यता है कि यह वर्ग घृणित लोगों का समूह होता है । क्षुद्र चरित्र, निम्न नैतिकता, अपराध, अयोग्यता, बुद्धिहीनता, साधनहीनता, आलस्य, आकांक्षा का अभाव आदि से ग्रस्त होता है ।''*[३४] भारतीय निम्नवर्ग की आधारशिला मजदूरी है । मजदूरी करके वे अपने परिवार को पोषते हैं । मजदूर अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुकर ऐसी विषम परिस्थितियों में कहीं भागकर नहीं जा सकता । वे अपनी सरलता, ईमानदारी और जीवनशैली की सत्यता से पूर्णरूपेण बँधे रहते हैं । वे अनेक प्रकार के कष्टों को सहना अपनी नियति मानते हैं । हाड़ तोड़कर, भूखे रहकर, मार खाकर भी वे रात–दिन काम करते हैं । इस आशा से कि उनका परिवार कम से कम एक समय अपना पेट तो भर ले । भले उनके शरीर पर ग्रीष्म, वर्षा शीत के प्रकोप से बचने के लिए आवश्यक वस्त्र न हों, इसकी उन्हें चिन्ता भी नहीं रहती । डॉ. शेषजी ने समाज के इस वर्ग के लोगों का जीवन–चित्र अपने नाटकों 'पोस्टर', 'फन्दी', 'राक्षस' और 'आधीरात

के बाद' में साकार किया है । उनकी पीड़ा, छटपटाहट और मूक वेदना की वास्तविक और सशक्त अभिव्यक्ति अपनी लेखनी से की है ।

'पोस्टर' नाटक में डॉ. शेषजी ने पटेल के निर्मम शोषण के परिणाम स्वरूप निम्नवर्ग की दयनीय दशा का वास्तविक अंकन किया है । मजदूरों की दैनिक आवश्यकता रोटी की है । रोटी उनके लिए प्राण–प्रश्न है । *''तो क्या हम लोग नामर्द हैं । लेकिन हर कहीं मर्दानगी नहीं चलती । रोटी का ख्याल आते ही सारी मर्दानगी धरी की धरी रह जाती है ।''*[३५] अधिकारों के प्रति मजदूरों की उदासीनता और 'करमगति'वाली मानसिकता उन्हें बहुत गहराई से प्रभावित करती है – *''करम में जो लिखा है वह कोई नहीं बदल सकता ।''*[३६]

'राक्षस' नाटक के सुकालू और दुकालू दिन–रात मजदूरी करके दो जून रोटी पानेवाले मजदूर है । गाँव के बड़े लोगों की नजरों में ये दोनों पियक्कड़, निकम्मे और क्षुद्र–जन्तु के बराबर है । परन्तु गरीबों को कच्चा चबा जाने वाले राक्षस के बारे में उनकी धारणा बिल्कुल सटीक है, *''अरे होंगा ऐसाच पीलाराम नीलाराम का माफक.. ये साला लोग अच्छा जिंनगी हमारा थोड़ा–थोड़ा करके नाश्ता किया... वो साला खायेंगा अक्खा चिकन का माफक... अपन लोगों का वास्ते कोई फरक नई पड़ता राजा ... ।''*[३७]

जी तोड़कर मेहनत करनेवाले निम्नवर्गीय व्यक्ति में भी अपने परिवार के प्रति निःसीम स्नेहभाव आभिजात्य वर्ग की तुलना में कम नहीं होता । 'फन्दी' नाटक का नायक फन्दी हत्या के दुष्चक्र में ऐसा फँस जाता है कि उसकी गृहस्थी उजड़ जाती है । उसके श्रमसाध्य शरीर में विद्यमान कोमल हृदय विदीर्ण हो जाता है, जब उसे पत्नी और पुत्र की याद आती है – *''वैसे भी वकील साहब, अब उनकी ओर नहीं देखा जाता । तूफान से लड़नेवाली मेरी औरत अब सूखकर काँटा हो गयी है, और मेरा गबदुल पुत्तू भी किसी कनेर के फूल की तरह मुरझा गया है ।''*[३८]

इस प्रकार डॉ. शेषजी ने अपने नाटकों में इस वर्ग के यथार्थ चित्र को समय की सीमा के अनुसार चित्रित करने का सफल प्रयास किया है ।

❀ संयुक्त परिवार :

वैज्ञानिक प्रगति और भौतिक दबाव के कारण संयुक्त परिवार धीरे–धीरे विघटित हो रहे हैं । फिर भी भारत के गाँव में अभी भी संयुक्त परिवार पूर्ण रूप से संरक्षित हैं । महानगरों में संयुक्त परिवार अपेक्षाकृत कम संख्या में दिखाई देते हैं, फिर भी उनका अस्तित्व किसी–न–किसी रूप में संरक्षित है । संयुक्त परिवारों में माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहन आदि पारिवारिक सदस्य सम्मिलित रहते हैं और इनके बीच वैचारिक सम्बन्धों और विचारों का तालमेल आवश्यक होता है । यदि आपसी सम्बन्ध सन्तुलित है, तभी संयुक्त परिवार स्वस्थरूप से चल पाते हैं । संयुक्त परिवार में छोटे–बड़े की मर्यादा को संरक्षित रखना विशेष आवश्यक होता है । डॉ. शंकर शेष ने अपने नाटकों में संयुक्त परिवार के सम्बन्धों का व्यापक चित्रण किया गया है । उनके अधिकांश नाटक महानगरीय परिवेश से जुड़े हैं । इसलिए उनके नाटक महानगरीय संयुक्त परिवारों के चित्रण में अधिक सन्नद्ध हुए हैं । ग्रामीण परिवेश के संयुक्त परिवारों के चित्रण के सम्बन्धों को माता–पुत्र–पुत्री सम्बन्ध, भाई–बहन सम्बन्ध, पति–पत्नी सम्बन्ध, प्रेमी–प्रेमिका सम्बन्ध के रूप में वर्गीकृत कर अध्ययन किया गया है ।

❀ *माता–पुत्र–पुत्री सम्बन्ध :*

नारी के विभिन्न रूपों में सर्वाधिक गौरवपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण रूप 'माता' का है । माता के रूप में नारी का महान रूप आज भी परम्परागत स्वरूप की पुष्टि करता है । ममता का अजस्र–स्रोत, स्नेह की अक्षयराशि, दया और वात्सल्य की प्रतीक, त्याग और तपस्या की प्रतिमा माता सदा से ही समाज और व्यक्ति के लिए आदर की पात्र रही है । *''ऋग्वैदिक ऋषियों ने तो अनेक देवों के माता के रूप में कल्पना कर, उससे प्राप्त होनेवाले सुख, शान्ति, तथा रक्षण की कामना भी की है ।''*[३६] मातृत्व में ही नारी जीवन की सार्थकता है । मातृत्व में पूर्ण दैवी गुणों को पाकर ही धर्मशास्त्रों ने माता को इष्टदेव समझ 'मातृदेवोभव' कहकर उसकी वन्दना की है । स्वामी विवेकानन्द ने

नारी के माता रूप को महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहा है – *''इस विनश्वर संसार में ईश्वर का प्रेम पाने के लिए माता का प्रेम निकटतम साधन है । मातृत्व में महानता, स्वार्थशून्यता, कष्टसाहिष्णुता, क्षमाशीलता का भाव होता है ।''*[४०] *''सन्तान के हित की कामना ही उसके जीवन का लक्ष्य है । अपने कर्तव्य को वह पूर्णतः निष्पक्ष व प्रतिदानरहित होकर निभाती है । अतः उसके जीवन की चरम सार्थकता उसके मातृत्व में ही है ।''*[४१]

नारी–जीवन की सबसे बड़ी समस्या वैधव्य है । यह नारी के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है । जो नारी यौवनागमन के समय पर विधवा हो जाती है तो उसके लिए सात्त्विक जीवन व्यतीत करना अत्यन्त कष्टप्रद बन जाता है । डॉ. शेषजी ने 'खजुराहो का शिल्पी' नाटक में ऐसी ही एक नारी की दर्द भरी कहानी आरम्भ में प्रस्तुत की है । चन्द्रात्रेयवंश की देवी हेमवती दो वर्ष का वैवाहिक सुख भोगने के बाद सोलह वर्ष की अल्पायु में विधवा हो जाती है । पति की मृत्यु के पश्चात् चन्द्र के जैसे सुन्दर पुरुष को देखकर उसके यौवन का अवरुद्ध पहाड़ी–झरना फूट पड़ता है । वह उस पुरुष का गर्भ धारण करती है । किसी विधवा स्त्री का अवैधरूप से गर्भवती बनना उस जमाने में कितना भयंकर पतित कर्म माना जाता होगा, उसकी केवल कल्पना ही कम्पित कर देती है । वह पेट में पल रहे उस 'प्यार के चिह्न के अस्तित्व के लिए हर किस्म के संकट को मोल लेने को उद्यत बनती है । क्योंकि वह अब केवल औरत बनकर हीं बल्कि भावि बच्चे की माता बनकर सोच रही है । इसके लिए वह दारुण व्यथा को ढोती है । हेमवती को समाज ने इस हालत में समाज ने कैसे दुत्कारा होगा ? कैसे उस पर घृणा के अंगारे बरसाए होंगे ? इसकी कल्पना करके दुःख पानेवाले राजा यशोवर्मन, रानी पुष्पा को कहते हैं – *''कल्पना तो करो पुष्पा ... वह विधवा काशी के धर्मक्षेत्र से निकाल दी गयी होगी, पग–पग पर उसका अपमान किया गया होगा... अपने गर्भ में शिशु लेकर उसने सैकडों कोश की यात्रा की होगी । जरा सोचो पुष्पा, एक तिरस्कृता अपने गर्भ में शिशु लेकर यात्रा करती है... लम्बी यात्रा... और... एक दिन कर्णवती के तट पर किसान की झोंपडी में प्रसव की वेदना*

भोगती है ।''[४२] हेमवती में अपने गर्भस्थ शिशु के प्रति अमाप वात्सल्यभाव के जागृत होने पर वह ऐसा कोई मार्ग ग्रहण नहीं करती है, जिसे पलायन का मार्ग कहते हैं ।

मातृत्व में ही स्त्रीत्व की सार्थकता है । जो नारी माँ की उपाधि नहीं पा सकती उसका जीवन निरर्थक है । पुरुष प्रधान समाज का यह कैसा विडम्बनात्मक वर्ताव है कि वह जब चाहे तब नारी को किसी अयोग्य पुरुष से विवाह करने को मजबूर करता है । ऐसे हालात में कोई नारी दृढ़प्रतिज्ञ बन जाए तो उसमें उसका क्या दोष ? 'कोमल गान्धार' की गान्धारी उसके साथ हुए षड्यन्त्र–विवाह से क्रुद्ध है । वह कौरवकुल से प्रतिशोध लेने हेतु आँखों पर पट्टी बाँधकर विद्रोह जताती है । किन्तु इसे विधि की विचित्रता ही समझिए कि मातृत्व के प्रबलभाव से आर्द्र हुई गान्धारी महासतीत्व का व्रत तोड़ देती है । वह समस्त प्रसव–वेदनाओं के क्षणों को सार्थकता देने के लिए विवश बन जाती है । एक दिन एकान्त पाकर सरोवर में स्नान कर रहे दुर्योधन को पट्टी हटाकर देख लेती है । वह जैसे धन्य हो जाती है । आखिर पत्नीत्व से मातृत्व क्यों सबल हो उठा ? वह धृतराष्ट्र से क्षमा–याचना करती हुई कहती है – *''पत्नीत्व से मातृत्व क्यों सबल हो उठा, मैं नहीं जानती पर मुझसे अपराध हुआ है ।''*[४३] सौ पुत्रों की माता का उसके जीते–जी निःसन्तान हो जाना भी कितनी हृदयविदारक घटना है । सौ पुत्रों की माता बनने का गौरव प्राप्त करनेवाली गान्धारी पुत्र वियोग में विक्षिप्त होकर पाण्डवों के विनीतभाव को जानते हुए भी अनाप–शनाप बोलने लगती है । उसे युधिष्ठिर की सज्जनता, अर्जुन का सौहार्द और कुंती की निश्छलता... सब खलने लगता है । *''जाने कब तक अपने बच्चों के हत्यारों के आश्रय में रहना पड़ेगा ।''*[४४] इस दुर्घटना को कभी भी स्मृपितट से विस्मृत नहीं कर सकती – *''क्या मैं भूल पाती हूँ कि इतने बच्चों की माँ मैं एकाएक सन्तानहीन हो गयी ?''*[४५] एक माँ के लिए इससे बढ़कर और दुर्दिन क्या हो सकते हैं जहाँ उसका महल कुछ दिन पहले बच्चों की चहल–पहल से भरा–भरा रहता था आज सन्नाटे से भर गया है ।

'अरे ! मायावी सरोवर' मे राजा इब्बलु स्त्री बन जाने के बाद पुरुष की अपेक्षा स्त्री जीवन को ज्यादा सार्थक और सृजनशील महसूस करता है । और जब स्त्री जीवन स्पृहणीय लगने लगता है तो वह एक ऋषि से मातृत्व का वरदान भी पा लेता है और ऋषि से उत्पन्न 'कुमार' की माता बन जाता है । मातृत्व का अधिकार प्राप्त होते ही वह अपने 'कुमार' के हित में सोचना शुरू कर देता है । उसे चेतनानगर के भावि उत्तराधिकारी घोषित करते हुए अनार्यों की मातृसत्ता परम्परा को ही सच्ची परम्परा सिद्ध करता है – *''और वही सच्ची परम्परा है, मुनिवर !''*[४६] स्त्री बन जाने के बाद मतलब कि माता बन जाने के बाद राजा पुत्र कुमार के अधिकार को छोड़कर कुछ भी सोचने के लिए तैयार नहीं । वह कुमार से कहता है – *''मेरे अलावा तेरी कोई माँ नहीं ।''*[४७] और अंशुमाली तथा रानी से ये कहते हुए कि *''पुराने सब सम्बन्ध समाप्त । रानी, मेरे और तेरे बेटे के बीच द्वन्द्वयुद्ध होगा ।.. जो भी इस द्वन्द्वयुद्ध में जीतेगा, राजा बनेगा ।''*[४८] हास्य–व्यंग्य शैली में लिखे गए इस नाटक में माता का दृढ़ाग्रह पुत्र के पक्ष में अलग–अलग कोणों से उभारा गया है ।

औरत एकबार माँ बन जाती है तब वह अपनी समग्र संवेदना अपनी सन्तान में केन्द्रित कर देती है । फिर वह अपने लिए नहीं जीती, अपनी सन्तान के लिए जीती है । क्योंकि वह अतुल्य त्याग और सहिष्णुता की साकार प्रतिमा है । माता की ममता और वासल्य से वंचित व्यक्ति सचमुच दुर्भाग्यशाली होगा । माँ अपने बच्चे के लिए प्रिय से प्रिय वस्तु का बलिदान करने के लिए सदैव तैयार रहती है । ऐसी ममतामयी माँ के लिए उसका पुत्र येन समय पर उसे सुख नहीं दे पाता, उसकी चिकित्सा नहीं करवा सकता या वृद्धावस्था में उसका सहारा नहीं बन पाता है तो आत्मग्लानि से भर जाता है । 'मूर्तिकार' नाटक का अनादि अपनी बीमार वृद्ध माता के लिए परिस्थितिवशात् कुछ न कर पाने के लिए विवशता प्रकट करता है; उसमें उसकी मातृभक्ति एवं उऋण होने की भावना झलकती है । – *''जब मैं बार–बार कोशिश कर अपनी माँ को सुख न दे सका तो केवल आदर्शवादी*

ढंग से सोचकर अपने आपको धोखा क्यों दूँ । शायद आप नहीं जानती भाभी कि मेरी माँ ने दूसरों के घर में बर्तन माँजकर और आटा पीसकर मुझे पढ़ाया–लिखाया है । और मैं इतना नालायक हूँ कि उसके लिए दवा की दो खुराकें भी नहीं जुटा सका ।''[४६]

उपर्युक्त चित्रण में माता का त्यागमय, ममतामय आदर्श रूप दृष्टिपथ में आता है । अपनी सन्तान का हित चाहनेवाली माता के अन्तरंग में आन्दोलित होने वाली विभिन्न भावधाराओं को नाटककार ने सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है ।

❀ *भाई–बहन सम्बन्ध :*

नारी के विभिन्न रूपो में एक अन्य सामाजिक रूप है बहन का । बहन का यह रूप भी विशिष्ट, अद्वितीय और निर्व्याज है । *''वेद की वाणी में भगिनी को परिवार रूपी वृत्त का व्यास और ध्रुव–बिन्दु कहा गया है ।''*[५०] प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति में बहन का रूप अत्यन्त पवित्र, उच्च व व्यापक रहा है । हमारे समाज में बहन के प्रति चिरकाल से ही समुचित आदर करने की भावना बनी रही है । नैतिकता की दृष्टि से देखें तो पुरुषवर्ग की यौन लोलुपता एवं निरंकुश कुप्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर उसे भद्रदृष्टि प्रदान करने में स्त्री के रूप में बहन की अहम् भूमिका है । भाई–बहन का सम्बन्ध पुरुषों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है । बहन अमित स्नेह से भाई के जीवन को सँवारने में प्रयास रत रहती है तथा उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को प्रस्तुत रहती है । उसका प्रत्येक कार्य स्वार्थ से मुक्त एवं कर्तव्य की पुकार से आप्लावित होता है । वह यदि छोटी है तो भाई के अखण्ड स्नेह पाने की अधिकारिणी है और यदि बड़ी है तो स्नेह के साथ–साथ आदर का भी पात्र बन जाती है ।

डॉ. शेषजी ने भी अपने नाटक–साहित्य में नारी के बहन के रूप का चित्रांकन कर उस सम्बन्ध की सार्थकता को प्रदर्शित किया है । घर में यदि भाई बड़ा है तो छोटी बहन के लिए सबकुछ न्यौछावर करने को उद्यत रहता

है । 'नई सम्यताः नये नमूने' नाटक के कृष्ण के परिवार में खुद के अलावा उसकी लाड़ली बहन शोभा ही है । वह शोभा पर बेहद स्नेहवर्षा करता हैा शोभा उसके जीने की उम्मीद है, उसके *''जीवन में स्नेह का एकमात्र कन्द्रबिन्दु''*[५१] शोभा बिमार हालत में अस्पताल में पड़ी है । वह शोभा के इलाज के लिए चिन्तित है । नौकरी के लिए इधर–उधर मारा–मारा फिरता है । पैसों के अभाव में वह अपनी स्नेहवत्सला बहन को मृत्यु के हवाले कभी नहीं कर सकता । और कोई मार्ग शेष न रह जाने पर वह बेईमानों की आँखों में धूल झोंककर सभ्य तरीके से रुपये इकठ्ठे करने का काम करता है । ऊधो उसकी विवशता समझता है – *''मैं आपके मन की बात जानता हूँ । आपको रुपयों की जरूरत है । ईमानदारी से कमाने की हर नाकाम्याब कोशिश करने के बाद आपने यह रूख अपनाया है । यह आपकी विवशता का ही फल है ।''*[५२] वह रुपये भेजकर भी शोभा की खबर नहीं पाता है तो बौखलाहट से भर जाता है, क्योंकि उसकी जिन्दगी में शोभा ही तो उम्मीद का स्थान है । अपनी इकलौती बहन से दूर उसकी चिन्ता में व्याकुल है, जो उसके स्वगत कथन से दृश्यमान होती है, *''शोभा, आज भी तुम्हारा कोई पत्र नहीं आया । पिछले हफ्ते तुमने लिखा था कि तुम अच्छी हो गई हो । पर उसके बाद यह चुप्पी.... शोभा यदि तुम्हीं कष्ट देने लगोगी तो इतनी बेढंगी दुनिया में मैं किससे ईमानदारी की उम्मीद करूँ । शोभा इतनी कठोर न बनो ।''*[५३] बहन की स्वस्थता की खबर के अलावा एक भाई के लिए और खुशी की खबर क्या हो सकती है ? जब शोभा उसकी स्वस्थता की और अपने भाई के पास आने की खबर तार से भेजती है तो वह उछल पड़ता है । उसकी तपस्या सफल हो जाती है, *''ऊधो मेरे दोस्त, मेरी तपस्या सफल हो गई ऊधो, आज मैं बेहद खुश हूँ । शोभा आ रही है । चलो ऊधो, स्टेशन जाने की तैयारी करो ।''*[५४]

नारी परिवार तथा समाज के कई बन्धनों में इस प्रकार मानसिक रूप से जकड़ी है कि वह अपनी इच्छा को भी पूरा नहीं कर पाती । उसे अपनी परिस्थिति के अनुसार समझौता करके जीना पड़ता है । 'घरौंदा' नाटक की

छाया अपने छोटे भाई गोविन्द की जिन्दगी बनाने के लिए आजतक की संचित राशि देकर भाई के लिए अपूर्व त्याग का परिचय ही नहीं देती बल्कि अपने विवाह और घर के स्वप्नों की बलि भी चढ़ा देती है । हालांकि रुपये देते समय भारी विवशता का अनुभव करती हैा वह अपनी किस्मत पर रोती हुई कहती है, *''मेरी किस्मत में शायद दीवार से ही सिर टकराना लिखा है । पर तू – अभी तेरे पंखों में ताकत है । तेरे सामने आकाश है । उड... जिस ऊँचाई तक उड़ सके, उड़ । हम लोग खड़े–खड़े देखेंगे । उस आकाश की और, उन ऊँचाईयों की ओर जहाँ हमारी कल्पना भी नहीं पहुँचती । जा, तैयारी कर ।''*[५५]

घर की सदस्या होने के नाते युवती बुजुर्गों की सलाह हमेशा शिरोधार्य करनी चाहिए । जो युवती घर के पीढ़ और दुनियादारी जाननेवाले व्यक्ति के अनुभूत सत्य की अवहेलना करती है, वह परिवार के लिए कभी–कभी महासंकट खड़ा कर देती है । 'मूर्तिकार' नाटक का शेखर छोटी बहन नीलू से अत्यधिक प्रेम करता है । नीलू सतीश नामक अमीर लड़के के प्रेम के व्यामोह में बन्धी है । शेखर को अमीर लड़के सतीश के प्रेम में तनिक भी विश्वास नहीं । वह सतीश को आस्तीन का साँप और प्रेम का ढिंढोरा पीटनेवाला कमीना समझता है । बड़े भैया होने के नाते उसका कर्तव्य है, अपनी बहन को बरबाद होने से बचाना । शेखर पैसेवालों की उदारता पर संशय जताते हुए कहता है – *''नीलू ये पैसेवाले बिना स्वार्थ के कभी उदार नहीं होते । ये साड़ियाँ लौटा दे... मैं कहता हूँ ये साड़िया लौटा दे । हर कसाई बलिदान से पहले बकरे को अच्छा चारा खिलाता है... लौटा दे ये साड़ियाँ ।''*[५६] लेकिन सतीश के प्रेमपाश में फँसी नीलू को शेखर भैया की बात निरर्थक प्रतीत होती है । और सतीश से यौन–सम्बन्ध स्थापित कर गर्भवती बन जाती है । सतीश के रंग बदलने पर शेखर का गरीब परिवार एक अतिरिक्त समस्या का भोग बनता है । इस परिवार में पहले से त्राहि–त्राहि थी और नीलू के गलत कदम आग में घी झोंकने का काम करता है । नीलू ने इस घर को कलंकित किया है, भैया के स्वाभिमान को सदमा पहुंचाया है – इस बात का एहसास होने

पर वह मर जाना श्रेयस्कर समझती है, *''मेरा जीवन अब कोई मतलब नहीं रखता... भैया ने मुझे कितना प्यार किया... तुमने कितना प्यार किया... पर मैंने उस प्यार के गालों पर बदनामी के गरम तमाचे जड़ दिए हैं । भाभी मैं मर जाना चाहती हूँ । आप लोगों की छाती पर बोझ बने रहने का मुझे कोई अधिकार नहीं... भाभी मुझे मर जाने दो ।''*[५७] ऐसी विषम स्थिति में किसी भी ईमानदार भाई के रक्त का खौल उठना स्वाभाविक है । परिस्थिति का मारा भाई अपनी बहन के लिए कभी 'डायन' और कभी 'नीच' शब्द का प्रयोग करे यह भी स्वाभाविक है । *''इस नीलू ने तो मुझे शहर में मुँह दिखाने लायक नहीं रखा.. जो देखता हे वही मेरे नाम पर थूकता है । न जाने इस डायन ने किस जन्म का बदला लिया है ।''*[५८] *''मैं कहता हूँ मौत आ जाती तो अच्छा होता । मैंने कभी अपनी जिन्दगी में किसी के सामने सिर नहीं झुकाया पर आज इस नीच लड़की ने मेरा सिर कुचलकर रख दिया ।''*[५९]

डॉ. शेषजी ने दो सगी बहनों का भी चित्र 'रत्नगर्भा' नाटक में प्रस्तुत किया है । इला बड़ी है और डॉ. सुनील की पत्नी है तथा माया की छोटी बहन है । वह बड़ी बहन इला के साथ रहती है । माया पढ़ी–लिखी आधुनिक विचारों से सज्ज अविवाहित युवती है । उससे अपनी दीदी की प्रताड़ित अवस्था नहीं देखी जाती । वह जान चुकी है कि उसका जीजाजी मद्यपी, जुआरी, भ्रष्टाचारी और परस्त्रीगामी है । इन सबके पीछे दीदी की शिथिलता और पतिव्रता नारी का आदर्श धर्म कारणभूत है । माया, उसे वास्तविकता से परिचित कराती हुई पत्नी के अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देती है, *''दीदी, ये सब कायरता की बातें हैं । पानी अभी सिर से नहीं गुजरा है । पतिव्रता बने रहने का मतलब यह तो नहीं कि तुम अत्याचार सहती रहो । तुम्हारा अपना वैवाहिक जीवन नरक बनता जा रहा है । तुम अपने अधिकारों के लिए लड़ोगी नहीं तो यह क्रूर समाज तुम्हारा सिर कुचलकर रख देगा ।''*[६०] दो सगी बहनों में परस्पर त्यागभावना का होना भी कोई नई बात नहीं है । परन्तु ऐसा त्याग कोई छोटी बहन नहीं करना चाहेगी जहाँ वह अपनी बड़ी बहन के दाम्पत्य जीवन में दरार पैदा करता

हो । सुनील का झुकाव दिनो–दिन माया के प्रति बढ़ता हुआ इला देखती है तब वह मन मसोसकर ऐसे नतीजे पर पहुँचती है कि यदि सुनील माया को पाकर सुधर सकता है, तो माया की सौत बनकर रहने में उसे कोई एतराज नहीं । लेकिन माया 'सौत' बनने के विचार मात्र से आतंकित हो उठती है, *''पागल हुई हो दीदी ! अपनी बहन को घर में सौत बनाकर रखेगी ? तू समझती है, मैं तेरी सौत बनना चाहूँगी, दीदी, मैं ऐसा करने से पहले आत्महत्या कर लूंगी ।''*[६१] इस प्रकार माया का सभी क्रिया–व्यापार आरम्भ से अन्त तक पूर्ववत् ही बना रहता है ।

नारी बहन के रूप में आज अपनी समस्त आधुनिकताओं, शिक्षा–दीक्षा, स्वतन्त्र आर्थिक अस्तित्व के बावजूद भी अपने वास्तविक कर्तव्य का निर्वाह कर रही है । 'बिन बाती के दीप' की मंजू टाइपिस्ट की नौकरी करती है । अर्थोपार्जन करती हुई वह अपने भाइयों को इंजीनियर और डॉक्टर बनाने की महत्त्वाकांक्षा के साथ अपने परिवार को आर्थिक सहयोग प्रदान करती है – *''मुझे पैसों की आवश्यकता थी । मुझे अपने भाइयों को पढ़ाना था । उन्हें इंजीनियर और डॉक्टर बनाना था ।''*[६२]

❀ पति–पत्नी सम्बन्ध :

वैदिक साहित्य में पत्नी को पति के घर में सर्वोपरि स्थान दिया गया है और पत्नी को ही 'घर' कहा गया है । रथ की घुरी के समान पत्नी ही गृहस्थी का मूलाधार है । पत्नी ही पति के घर की व्यवस्थापिका और नियामिका है । उसकी महिमा का प्रतिपादन 'महाभारत' में इस प्रकार किया गया है । – *''कोई भी घर, घर नहीं किन्तु गृहिणी ही घर है । गृहिणी से सूना घर जंगल के समान है । यदि किसी व्यक्ति की पत्नी किसी वृक्ष के नीचे भी उसके साथ रहती है तो उसका वही घर है । स्त्री के अतिरिक्त पुरुष की कोई गति नहीं तथा धर्म संग्रह में स्त्री के समान दूसरा कोई सहायक नहीं ।''*[६३]

प्रकृति ने नारी को पुरुष के पूरक के रूप में बनाया है । एक के अभाव में दूसरे का व्यक्तित्व अपूर्ण है । पत्नी बनकर नारी समाज में पुरुष की सहधर्मिणी, अर्धांगिनी कहलाती है । *''नारी नर की अर्धांगिनी उत्तम गृहिणी के रूप में प्रशंसनीय तो है ही साथ ही वह पुरुष के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में भी अपना कर्तव्य निभाती रही है । वास्तव में नारी प्रेरणा शक्ति का र्याय ही है और पुरुष संघर्ष शक्ति का । प्रेरणा और संघर्ष का संगम ही जीवन है ।''*[६४] प्राचीनकाल में पत्नी पूर्णतया पति के प्रति समर्पित रहती थी । मनसा–वाचा–कर्मणा पतिपरायण होना पत्नी का आदर्श है । पति–व्रतधर्म का पालन करने में ही वह जीवन की सार्थकता समझती थी । पति से पत्नी को चाहे प्रेम और आदर मिले या चाहे दासी तथा सेविका का सा शासन और निरादर, वह अपने पतिव्रत धर्म से विचलित नहीं होती । उसके लिए पति ही परमेश्वर है । *''पत्नी ही परिवार के सुख व सन्तोष का केन्द्र है । वह पति की एकमात्र ऐसी सहयोगिता है जो किसी भी परिस्थिति में उसका साथ छोड़ने को तैयार नहीं होती । पति के प्रति उसका यह समर्पण विवशता नहीं वरन् आत्मतोष एवं निष्ठायुक्त होता है ।''*[६५]

डॉ. शंकर शेष के नाट्य–साहित्य में समस्त नारी पात्र चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग के हों, उन सबके मूल में शेषजी एक ही आदर्श को लेकर चलते हैं । वह है उन पात्रों का त्याग, सेवा तथा प्रेम भावनाओं से अनुप्राणित आदर्श समाज । जो कि आर्थिक सीमाओं से बहुत आगे हैं । उनके नारी–पात्रों में महत्त्वपूर्ण वे हैं जिनकी रेखाएँ विशेषतः पत्नी के रूप में उभरी हैं । पत्नी के रूप में 'रत्नगर्भा' की इला, 'मूर्तिकार' की ललिता, 'बिन बाती के दीप' की विशाखा, 'एक और द्रोणाचार्य' की लीला, 'रक्तबीज' की स्त्री (सुजाता), 'कोमल गान्धार' की गान्धारी, 'खजुराहो का शिल्पी' की पुष्पा, 'कालजयी' की पुरबी, 'अरे ! मायावी सरोवर' की रानी (सुजाता) तथा स्त्री–वेश में राजा आदि आदर्श हैं । ये नारियों में से अधिक्तर आदर्श पत्नियाँ हैं, जिनको नाटककार ने सर्वथा आदर्श रूप में चित्रित किया है । जबकि कुछ पत्नियाँ ऐसी हैं जिनको परम्परागत आदर्श रूप में तो स्पष्टतः चित्रित नहीं

किया गया है, फिर भी वे पति के प्रति लेशमात्र भी दुर्व्यवहार न करती हुई अपने सेवाधर्म का यथोचित पालन करती है ।

नाटककार नारी की कसौटी त्याग और सेवा में मानते हैं । नारी पति की सेवा में ही अपने जीवन को सार्थक मानती हे । यद्यपि पुरुष के लिए सेवा से अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु सौंदर्याभिलाषा की तृप्ति है । ऐसे पुरुषों के लिए देह–सौन्दर्य नारी की त्यागभावना से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । 'रत्नगर्भा' नाटक की इला आदर्श त्यागमयी और सहनशीला पत्नी है । सुनील को वह प्राणों से भी अधिक प्यार करती है । वह अपने गहने बेचकर सुनील को प्रसिद्ध सर्जन बनाने इंग्लैण्ड भेजती है । एक दिन उसका सुन्दर चेहरा जलकर कुरूप बन जाता है । सुनील इला के कुरूप चेहरे से डरने लगता है । उसके पास जाने, उसे बाँहों में भरने से कतराता है । उसके सौन्दर्यानुभूति के स्वप्न चूर–चूर हो जाते हैं, वह सौन्दर्य को ही इस सृष्टि का सत्य मानता है, ''हर आदमी सुन्दर दिखना चाहता है और देखना चाहता है ।... कम से कम मेरी निगाह में सौन्दर्य ही उस सृष्टि का सबसे बड़ा सत्य है ।''[६६] पत्नी के लिए पति ही उसका आराध्य है, उसका देवता है । यही भारतीय आर्य नारी का आदर्श और सनातन रूप है । वह जीवन के समस्त सुखाकांक्षाओं को पति के चरणों में रखकर जीती है । पति की गोद में अन्तिम साँस लेना चाहती है, आँखें मून्दना चाहती है । सबकुछ सहन करने की अभ्यस्त आदर्श नारी केवल पति की उपेक्षा और घृणा सहन नहीं कर सकती । उसे पति का प्रेम और विश्वास चाहिए – *''सुनील मैं मरना चाहती हूँ । पर तुम्हारी घृणा में नहीं... तुम्हारी गोद में सिर रखकर तुम्हारे पवित्र प्रेम की छाया में हमेशा के लिए आंखें मूँद लेना चाहती हूँ ।... सुनील केवल एक बार मुझे विश्वास दिला दो कि तुम केवल मेरे हो । केवल मेरे । इस विश्वास में बन्धी मृत्यु भी ग्राहय होगी, आकर्षक होगी ।''*[६७]

नारी नर की अर्धांगिनी, उत्तम गृहिणी के रूप में प्रशंसनीय तो है ही साथ ही वह पुरुष के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में भी अपना कर्तव्य निभाती रही है । नारी का सहयोग प्राप्त करके ही नर गृहस्थी की वैतरणी सफलता

पूर्वक पार कर सकता है । *''महाकवि कालिदास ने तो पत्नी को सर्वश्रेष्ठ साथी माना है ।''*[६८] 'मूर्तिकार' नाटक में डॉ. शेषजी ने आदर्शनारी का अलभ्य रूप ललिता के माध्यम से प्रस्तुत किया है । ललिता गृहलक्ष्मी है परन्तु उसके पास फूटी कौडी नहीं है । मूर्ति के द्वारा मानवीय मुद्राओं की नई व्याख्या करनेवाला कलाकार शेखर पार्थिव कलाकृतियों में ही रममाण है । फिर भी गृहस्थी चलती है । इसका श्रेय ललिता को है, जो घोर अभावों से लोहा लेती हुई भी पति शेखर की अनुस्यूत कला–साधना में कभी बाधक नहीं बनती । वह अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति कलात्मक मूर्तियों के द्वारा करती है । अपने समस्त सुखों को त्यागकर परिवार की दुर्दशा सुधारने का हर सम्भव प्रयास करती है । शेखर मूर्ति बनाते–बनाते इतना जड़ बन गया है कि साँझ चूल्हा न जले तो भी परवाह नहीं करता । किन्तु ललिता को घर के प्राणियों की चिन्ता है, घर की इज्जत अक्षुण्ण रखने की चिन्ता है, मकान का किराया चूकाने की चिन्ता है और इन सबके बीच गरीबी का फायदा उठानेवाले फालतू लोगों की वासनाभरी निगाहें और लपलपाती जीभ से बचे रहने की चिन्ता है । पति की इसी आदर्श–जड़ता उसके आतंकित स्वाभिमान को फूँककार ने के लिए विवश बनाती है, *''आदर्श ! आदर्श ! आदर्श ! तो पड़े रहो झूठे आदर्शों के पीछे । बने रहो दरिद्रनारायण... और मेरे हाथों में भिक्षापात्र दे दो । अब चाहे जो हो, मैं अपना अपमान नहीं सह सकती । यदि तुम्हारा आदर्श है, तो मेरा स्वाभिमान भी तो है ।''*[६९]

प्रेम, विश्वास और आस्था दाम्पत्यजीवन की दृढ़ता देते हैं । पति–पत्नी के सम्बन्धों की आधारशिला तो पारस्परिक विश्वास है । भारतीय समाज में नारी विश्वास के नाम पर अपने पति को सर्वस्व समर्पित कर देती है । दुर्भाग्य से पति यदि विश्वासु पत्नी के साथ धोखा–घड़ी करके निहित स्वार्थ की अभिपूर्ति करता है और पकड़ा जाता है, तब भी पत्नी अपने आदर्श से विचलित न होकर पति के इस कुकृत्य को भूला देती है । 'बिन बाती के दीप' की अन्धी विशाखा आदर्श भारतीय नारी की भाँति पति पर अनहद विश्वास करती है । उसका पति शिवराज स्वार्थी, अन्यायी और क्रूर भावनाहीन

इन्सान है । वह विशाखा की दृष्टिहीनता का लाभ उठाकर विशाखा के उपन्यासों को अपने नाम से छपवाकर नाम, मान–प्रतिष्ठा, सोहरत सबकुछ कमाता है । इतना ही नहीं विशाखा को सदैव अन्धी बनाए रखने के लिए उसकी आँखों में गलत दवा डालने की निष्ठुर चेष्टा करता है । विशाखा पति की निर्ममता का रहस्य जब जान लेती है तो उसका भावुक हृदय चरमरा उठता है । किन्तु वह परिस्थिति से समझौता कर के टूटते हुए दाम्पत्य को बचा लेती है । वह पश्चातापदग्ध पति शिवराज के सामने उसके एहसानों का वर्णन करके उसको अपराधभावना से मुक्त करती है, आभार प्रकट करती है – *''नहीं शिव, तुमने मेरा जीवन सार्थक किया है । तुमने मुझसे प्रेम किया है । तुमने मुझ अन्धी भावनाओं को सहस्र सहस्र लोगों तक पहुँचाया है । तुमने मुझ अन्धी से ब्याह कर प्रेम के नए आदर्श स्थापित किए हैं । न तुम मुझसे ब्याह करते न ही मैं उपन्यास लिख पाती । न वे छपते, न मेरी भावनाएँ, मेरी पीड़ा लाखों लोगों तक पहुँचती । तुमने मुझ पर अनन्त उपकार किया है । तुम न रहोगे तो मैं भी नहीं रहूँगी । तुम आज भी मुझसे प्रेम करते हो, डरते हो केवल अपने अपराध से ।''*[१०] जिन्होंने अपना सबकुछ पति पर न्यौछावर कर दिया हो वह प्रतिष्ठा, चाहना के लिए थोड़े ही झगडेगी ? उसका इतना बड़ा त्याग ही उसकी प्रतिष्ठा की बढ़ोतरी करता है । उसके पत्नीत्व का पलड़ा रिक्त होकर भी पति की अपेक्षा भारी हो जाती है ।

'कोमल गान्धार' नाटक की गान्धारी की करुणान्तिका यह है कि उसके साथ राजनीतिक षड्यन्त्र खेला गया है । गान्धारी इस घटना से तिलमिला जाती है कि कुरुवंशियों ने उसे राजरक्त से जन्में शरीर से ज्यादा कुछ नहीं माना । इसीलिए तो उनकी भावनाओं, स्वप्निल कल्पनाओं को नहीं समझा गया और जन्मान्ध धृतराष्ट्र के गले बाँध दिया । पति के रूप में जन्म से विकलांग धृतराष्ट्र को पाकर उनका दाम्पत्य विषाक्त हो उठता है । वह धृतराष्ट्र को पति के रूप में स्वीकार करती है, पर विवशता से । अपने साथ किए गए छल–प्रवंचना की प्रतिक्रिया स्वरूप वह आँखों पर पट्टी बाँध करके इस महानकुल से प्रतिशोध लेती है । *''अब मुझे नहीं देखना है यह संसार !*

जितना देख लिया उतना काफी नहीं है क्या ? जहाँ क्षुद्रता, ढोंग और पाखण्ड सौम्य चेहरों के पीछे भेड़ियों की विकराल आँखें... कौरवों को चाहिए था एक शरीर, जिसमें बहता हो राजरक्त... ऐसा शरीर जिससे राजरक्तवाले दूसरे शरीर पैदा किए जा सकें.... बताइए, इससे ज्यादा क्या मेरे अस्तित्व को स्वीकारा है आपके इस महान कुल ने ?''[११] वह अपने अन्तर्मन में जागृत होनेवाली भावनाओं को अभिव्यक्त करने के स्थान पर उन्हें दबाना चाहती है । कौरवकुल की नववधू बनने का उसमें कोई उत्साह नहीं, पति मिलन की कोई उत्सुकता नहीं । कामनाओं की उफनती हुई धारा के स्थान पर गान्धारी का ठण्डा व्यवहार धृतराष्ट्र की आत्मा को कंपित कर देता है । धृतराष्ट्र जानता है कि यह गान्धारी का प्रच्छन्न विद्रोह है । वह शकुनि के सामने उसके और गान्धारी के आपसी सम्बन्ध का उद्‌घाटन निरूपाय स्वर में करता है, *''पर मैं कर ही क्या सकता हूँ शकुनि ! गान्धारी और मेरे बीच जो सम्बन्ध है, वो तुमसे छिपे नहीं हैं । उसका ठण्डा व्यवहार, कटुता, जड़ता, घृणा... सच कहूँ डर लगता है उसके पास जाने में ।''*[१२]

सुविधाभोगी संस्कृति के प्रसार ने नैतिक जिन्दगी जीनेवाले लोगों के सामने कई पेचीदे सवाल खड़े कर दिए हैं । आज की इस दमघोंटू व्यवस्था जिसने इन्सान को इन्सानियत से दूर सच्चाई, ईमानदारी और नैतिकता से बहुत दूर ले जाकर पटक दिया है । इसे व्यक्ति का ही नहीं राष्ट्र का दुर्भाग्य कहना चाहिए कि बुद्धिवादी वर्ग इस त्रासदी का अपेक्षाकृत अधिक शिकार रहा है । मध्यमवर्गीय परिवार में नैतिकता के आदर्श का निर्वाह करनेवाले पति की उम्मीद बढ़ाने में पत्नी का सहयोग अत्यावश्यक बन जाता है । पत्नी के द्वारा पति को सहयोग देने के अभाव में पति विवशता अनुभव करने लगता है । डॉ. शेषजी का 'एक और द्रोणाचार्य' मिथकीय नाटक भौतिक सुखों के प्रति आकर्षित पति–पत्नी के सम्बन्धों की सफल प्रस्तुति करता है । अरविन्द की पत्नी लीला द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी का प्रतीक है, जो मध्यमवर्गीय अभावग्रस्त जीवन से तंग आकर बिना समझौते के सुविधा सम्पन्न जीवन जी पाने में

असमर्थ होकर अपने पति को व्यवस्था के समक्ष झुकने के लिए विवश करती है ।

''लीला : प्रिंसिपल नहीं बनोगे ?
अरविन्द : कीमत जानती हो ?
लीला : बिना कीमत दिए कुछ मिला भी है ?
अरविन्द : यानी बेईमान हो जाऊँ ?
लीला : उस बदतमीज लड़के का साथ देकर भी क्या मिलेगा ?...
अरविन्द : लेकिन चन्दू को दगा देने का मतलब समझती हो ?...
लीला : प्रेसिडेंट उनसे निबट लेगा । तुम्हें सुरक्षा देगा । प्रिसिम्पल बना देगा । और ये लड़के तुम्हें केवल सड़कों पर खड़ा कर तमाशा देखेंगे । उनका साथ देने से फायदा ।[७३]

अरविन्द, पत्नी लीला और मित्र यदू के दुराग्रह पर सिद्धान्तों से जोड़–तोड़ करता है । बेईमान को सज़ा और निरपराध को न्याय न दिलाने पर उसकी आत्मा तिल–तिल जलती रहती है । इससे उनका दाम्पत्य जीवन प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकता ।

पति–पत्नी सम्बन्ध के नए रूप का दर्शन डॉ. शेषजी का 'रक्तबीज' नाटक कराता है । आज के दौर में विवाहजन्य मान्यता एवं पवित्रता स्त्री के आदर्श की परिभाषा समूचे अर्थों में बदल चुकी है । यौन–शुचिता पति एवं पत्नी दोनों की दृष्टि में गौण बाबत बन गई है । पति के पास यदि सुन्दर पत्नी है तो वह उसका इस्तेमाल करके अपनी महत्त्वाकांक्षी योजनाओं को पार लगाता है । आश्चर्य की बात तो यह है कि पत्नी भी पति की इस गर्हित–योजना को निरवरोध फलीभूत बनाने में तत्परता दिखाती है ।

सुजाता एक मेहनती, ईमानदार और काबिल गृहिणी है जो सुन्दर भी है । वह एक दन्तमंजन और मालिश का तेल बनानेवाली कम्पनी में चार–सौ रुपए की जगह पर काम करती है । सुजाता का पति मि. शर्मा बड़ा महत्त्वाकांक्षी है । वह जिस पद पर रहते नौकरी करता है वह उसकी अपेक्षा से बहुत मामूली है । उसे पदोन्नति चाहिए, किसी भी मूल्य पर । इसके लिए

वह अपने बॉस मि. माथुर को फाँसने का षड्यन्त्र रचता, वह भी अपनी धर्म पत्नी को बॉस के लिए प्रस्तुत करके । सुजाता पहले तो सहज विरोध प्रकट करती है उसके बाद उसके लिए भी नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न निरर्थक हो जाता है । इससे उनका दाम्पत्य सम्बन्ध प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । उसे अपने पति के घटियापन और नामर्दगी पर तरस आती है तो साथ–साथ खुद को भी घटिया महसूस करती है – *''मेरा ,पति घटिया और नामर्द ! उस पर दया आती है मानस, और सच कहूँ तो उससे पहले दया आती है मुझे अपने आप पर । घटिया तो मैं भी हूँ । जब उसने मिनी ब्लाउज का प्रस्ताव रखा तो नोच लेना चाहिए था उसका चेहरा, फिर देखती दुबारा कैसे कहता वह । कोई पाप इकठे करलेता है, कोई करता है किस्तों में । किस्तों में करनेवाले पाप को हम सुविधा, व्यवहार या दुनियादारी जैसे खूबसूरत नाम देते हैं । बस इतना ही फर्क है दोनों में ।''*[१७४] एकबार गिरकर उसका पतन शतमुख रूप से होता है और अन्त आत्महत्या से ।

'खजुराहो का शिल्पी' में राजा यशोवर्मन और रानी पुष्पा के बीच के पति–पत्नी सम्बन्ध कोई खास पहलू पर प्रकाश नहीं डालता है । पुष्पा राजा के राज–काज में हाथ बँटाती है, परामर्श देती है और एक व्यवहारू औरत की प्रतीति कराती है । उसे अपनी पालितापुत्री अल्का की चिन्ता है जो विवाह योग्य बन चुकी है । एक नारी दूसरी नारी की अन्तर्बाह्य स्थिति को सफलतापूर्वक समझ सकती है – *''महाराज, स्त्री की दृष्टि को प्रमाण मानिए । मैं अभी भी कहे देती हूँ, अलका का स्वयंवर जल्दी कराइए ... नहीं तो ... वह मोह का क्षण... बिना पूर्व सूचना दिए आता है ।''*[१७५] रानी की इस चिन्ता में उसका नारीजगत का ज्ञान और व्यवहारूपन झलकता है । पति–पत्नी सम्बन्ध की दृष्टि से उनका गार्हस्थ्यजीवन स्वस्थ नजर आता है ।

नारी एकबार यदि विद्रोह को ठान लेती है तो उसका प्रतिकार असम्भव बन जाता है । वह क्रान्ति के स्वर उगलने में पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपनी देश सेवा और देशप्रेम का प्रमाण प्रस्तुत करती है । अत्याचारी शासकों का शासनान्त करने के लिए उसे कोई भी भूमिका स्वीकारणीय है ।

उसमें पुरुष के समान देश के प्रति अपने कर्तव्य को समझने और निभाने की पूरी–पूरी समझ है । नारी के प्रस्तुत रूप की अभिव्यक्ति डॉ. शेषजी ने 'कालजयी' नाटक में पुरबी के माध्यम से की है । कालजयी राजसत्ता और नारी–शरीर का भूखा है, वह सुन्दर रूप के आगे फिसलनेवाला है । इसीलिए वह पुरबी ने अन्यतम लावण्य से अभिभूत होकर शीघ्र उसे अपनी पत्नी बनाकर महारानी मन्दारमाला के रिक्तस्थान की पूर्ति करता है । पूर्वयोजित योजनानुसार पुरबी प्रतिशोध लेने के लिए अपना कौमार्य कालजयी जैसे नृशंस, अत्याचारी और कामान्ध राजा के चरणों में उत्सर्ग कर देती है । यद्यपि कालजयी की आदर्श पत्नी बनकर महारानी का सम्मान पाना उसका उद्देश्य नहीं, उसका उद्देश्य है कालजयी की मौत का रहस्य जानकर अत्याचारी शासन का अन्त कर के प्रजातन्त्र को प्रस्थापित करना है । उसे अपने आप पर पूरा विश्वास है *''आचार्य, मुझे एक ही काम सौंपा गया है और वह है कालजयी की मृत्यु का रहस्य जानना । मैं उसे ला दूँगी और इसके लिए जो भी आवश्यक होगा मैं करूँगी । नीति–अनीति सब प्रश्न गौण है आचार्य ! मेरी उल्टी बातों से कालजयी प्रभावित है, शासन के बहुत से सूत्र मेरे हाथ में आ रहे हैं.... अब उसे केवल दो ही बातों की आवश्यकता पड़ती है... मदिरा की... और मेरी ।''*[१७६] पुरबी कालजयी को अपना पति फिर भी नहीं मानती बल्कि क्रूर शत्रु मानती है । उसने अपनी देह कालजयी को जरूर समर्पित की है, पर हृदय नहीं । इस नाते वह उससे बदला लेना ही अपना परमकर्तव्य समझती है । पुराने जमाने में शत्रु को परास्त करने के लिए विषकन्या को भेजा जाता था, यहाँ पर पुरबी प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु कालजयी का पतन करने का बीड़ा उठाती है । हालांकि उसे अपने शील की भारी कीमत चुकानी पड़ती है ।

वस्तुतः पुरबी पत्नी होने का नाटक रचकर क्रान्तिकारी दल की सदस्या है । कालजयी और उसके बीच का सम्बन्ध आदर्श पति–पत्नी का न होकर क्रान्तिकारी गतिविधियों से प्रेरित है । वह क्रान्तिकारी दलगत दायित्व को पत्नीत्व के दायित्व की अपेक्षा बखूबी निभाती हुई पत्नी के रूप में रही विद्रोहिणी का

परिचय अन्ततः देती है । निःसन्देह पति–पत्नी सम्बन्ध में यह नाटक एक नया अध्याय जोड़ता है ।

❀ प्रेमी–प्रेमिका सम्बन्ध :

प्रेम मन की कोमल भावना है । वह हृदय की परिष्कृत, उदात्त औरअनिर्वचनीय भावना है जो मन को शुद्ध करती है, भावों का परिष्कार करती है और व्यक्ति को अहं के बन्धन से छुड़ाकर उसे सार्वजनीन बना देती है । *''प्रेम मानव के सर्वोच्च सुख का स्रोत है । इसमें स्वत्व का विलोम होता है । प्रेम की अनुभूति में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों अनुभूतियों समन्वित रहती हैं जिन्हें स्त्री–पुरुष एक–दूसरे में तलाशने और पाने की कोशिश करते हैं ।''*[१७] प्रेम का दायरा अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है । प्रेम किसी से भी हो सकता है । जैसे माता–पिता से, भाई–बहन से, पति का पत्नी से, मित्र का मित्र से । पशु–पक्षी एवं प्रकृति से और अतीन्द्रिय तत्त्व से । लेकिन आज प्रेम प्रेमी–प्रेमिका के आपसी कोमलभाव में सिमट कर रह गया है । प्रेमी और प्रेमिका ये दोनों ही प्रेम के आलम्बन हैं, जिनके आधार पर प्रेम की स्थिति अभिव्यक्ति पाती है ।

साहित्य में प्रेमी–प्रेमिका सम्बन्ध की व्यापक चर्चा हुई है और होती रहती है । डॉ. शंकरशेष के नाटकों में प्रेमी–प्रेमिका सम्बन्ध के अनेक रूप उपलब्ध हैं । इनमें सर्वाधिक सराहनीय रूप है, आदर्श प्रेम सम्बन्ध ।

वैसे तो प्रेम इस संसार में नारी और पुरुष के मध्य स्वाभाविक रूपसे होता है, परन्तु नारी में भावुकता, कोमलता, प्रेम वह तन्मयता पुरुष की अपेक्षा अधिक होती है । प्रेम में त्याग का महत्त्वपूर्ण स्थान है । सात्त्विकता प्रेम को सार्थकता प्रदान करता है । ऐसा उदात्त प्रेम आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा को छूता है । जहाँ शरीर गौण बन जाता है, हृदय प्रधान । 'खजुराहो का शिल्पी' मेघराज आनन्द उत्कृष्ट कोटि का शिल्पी ही नहीं प्रेमी भी है । राजा यशोवर्मन की एकलौती पालितापुत्री अलका उसके व्यक्तित्व और कला से अभिभूत है । वह जिससे प्रेम करती है, हृदय से चाहती है वह शिल्पी विदेह है, योगी है,

मोह के क्षण को जीतने की उद्दाम कामना रखनेवाला निस्संग आध्यात्मिक जीव है । शिल्पी के अन्तःकरण में केवलमेव अलका की ही प्रतिमा आसीन है । वह अपनी प्रियतमा के प्रेम का प्रतिभाव देने में विवश है, *''मैं सबकुछ समझता हूँ कवि ! पर क्या करूँ ? अब जीवन में मैं एक ऐसी जगह पहुँच गया हूँ, जहाँ न मैं प्रेम कर सकता हूँ और न घृणा । मेरे जीवन का वह सूत्र ही कहीं खो गया है ।... मैं क्या करूं ?''*[४८] अतः वह अलका के प्रेम प्रस्ताव को सविनय अस्वीकार कर देता है । अलका ने शिल्पी से विशुद्ध प्रेम किया है, तभी तो वह शिल्पी से प्रेम और मोह के मध्य का अन्तर पूछने का अधिकार रखती है – *''मैं तुम्हें साफ–साफ पूछती हूँ शिल्पी, कि प्रेम भी क्या 'मोह का क्षण है या क्षण का मोह है ?' ... क्या मैं तुम्हारे प्रति केवल मोह के क्षण के कारण आकर्षित हुई थी ?... क्या मेरे आकर्षण में केवल कामासक्ति थी ?''*[४९]

अलका शिल्पी को अपना प्रियतम समझती है इसीलिए तो शिल्पी के संकेतानुसार वह सहस्रों भावमुद्राओं में प्रतिदर्श बनकर उसके सामने खड़ी रही । अलका वह प्रतिदर्श को ही तोड़ने के लिए उद्यत बनती है, जिसे शिल्पी को अत्यन्त प्रेम है, मोह है । तब शिल्पी के हृदय के अज्ञात किसी गह्वर में छिपा प्रेम प्रकट हो जाता है । वह प्रतिमा को बाँहों में भर लेता है और व्याकुल कण्ठ से बोल उठता है – *''इससे... इससे मुझे प्रेम है, अलका ।''*[५०]

अलका और शिल्पी के बीच का अन्तस्थ कोमलभाव कभी मुखरित नहीं हुआ । इस दशा में वहाँ प्रेम में कोई गतिशीलता नजर नहीं आती है । भाव–प्रतिभाव की दृष्टि से अलका का शिल्पी के प्रति प्रेम एकपक्षीय सिद्ध होता है । वैसा ही एकपक्षीय प्रेम कविराज माधव और अलका के बीच है । कवि माधव की कविता भी अलकामय है । लेकिन उसने कभी अलका से प्रेम निवेदन नहीं किया है । अलका को इस रहस्य की बिल्कुल जानकारी नहीं । शिल्पी की भाँति कवि माधव का अलका के प्रति प्रेम शुद्ध मनोवैज्ञानिक है । इस रहस्य को अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के धनी शिल्पी के अलावा और कौन जान सकता है ? *''हाँ, कवि, यह सच है कि तुम अलका से प्रेम करते हो, उस*

पर काव्य–रचना करते हो ।... तुम्हारी कविता में भी अलका उतनी ही है, जितनी मेरे शिल्प में । पर तुम कभी अपनी बात कह नहीं पाए । क्या यह सच नहीं है, कवि ?.... बोलो क्या यह सच नहीं है ?''[१] कवि माधव अपने प्रेम को एकांगी बताते हुए शिल्पी की बात को अनुमोदन देता है... *''यह एक ऐसा सच है, जो मेरे अतिरिक्त कोई नहीं जानता, अलका भी नहीं ।''*[२]

''प्रेम कोई हस्तान्तरणीय वस्तु नहीं है ।''[३] प्रेम विनिमय की वस्तु नहीं है कि जब चाहा किसी से ले लिया और जब जी चाहा किसी को दे दिया । कर्तव्य की बलिवेदी पर कभी प्रेमी–प्रेमिका अपने प्रेम का बलिदान दिया करते थे लेकिन यह आदर्श प्राचीनकाल का हो सकता है, आधुनिक युग का नहीं । आधुनिक युवती अपने प्रेमी के कहने पर प्रेम का बलिदान देने में कभी तत्परता नहीं दिखाती । 'बन्धन अपने–अपने' नाटक के अनादि और चेतना एक दूसरे को चाहते हैं और भविष्य में अपने प्रेम को विवाह में परिणित करने के ख्वाब देख रहे हैं । संयोग से अनादि के बड़े भाई डॉ. जयन्त के मन में उनकी संशोधार्थी चेतना के प्रति विवाह के लिए उत्सुकता जगती है । वे उससे विवाह का प्रसताव रखते हैं । अनादि को इस घटना हतप्रभ बना देती है परन्तु वह अपने भाई के अब–तक के उपकारों से उऋण होने के लिए अपनी प्रेमिका चेतन का बलिदान करना चाहता है । यद्यपि चेतना को किसी और के लिए दक्षिणा बनकर समर्पित हो जाना मान्य नहीं । वह एहसानों के तले दबे अनादि को अधिकार का दुरूपयोग करने पर साफ–साफ सुना देती है – *''अपने भाई के उपकारों से उऋण होने के लिए तुम मुझे दक्षिणा बनाकर दे देना चाहते हो । नहीं, मुझे आपत्ति है । मेरी आपत्ति न्याय संगत है । मैंने केवल तुम्हें अपने मन पर अधिकार दिया है । प्रेम कोई हस्तान्तरणीय वस्तु नहीं है । मैंने तुम्हें यह अधिकार इसलिए कभी नहीं दिया कि तुम मुझे दूसरों को सौंप दो ।''*[४]

प्रेमिका रूप में नारी जीवन की यह विडम्बना है कि जिसे वह हृदयपूर्वक चाहती है उसे मारकर किसी और व्यक्ति का उसे विश्वास सम्पादन करना पड़ता है । 'कालजयी' की पुरबी महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए कालजयी से

जा मिलती है । वह वसुमित्र नामक विद्रोही वीर से प्रेम करती है । *''मैं वसुमित्र से प्रेम करती हूँ, महाराज ! वे भी मुझसे प्रेम करते हैं ... ।''*[५] जिससे कालजयी अज्ञात है । कालजयी इस सत्य से भी अज्ञात है कि जिस युवती को उसने महारानी के पद पर आसीन किया है, वह वास्तव में प्रजातन्त्र दल की विद्रोहिणी युवती है । कालजयी का विश्वास सम्पादन करने के लिए उसने अपने हाथों से प्रियतम को विष पिलाया है । यह घटना उसके मन को कचोटती है । प्रजातन्त्र दल के आदर्श अैर दायित्व का निर्वाह करते हुए उसने अपने प्रेमी का बलि चढ़ा दिया है इसीलिए उसे चिर–यौवन प्राप्ति की कोई आकांक्षा नहीं । *''मैं चिर–यौवन लेकर क्या करूंगी... जिसके लिए चिर–यौवन की कामना करती आचार्य, अब मेरा सबकुछ समाप्त हो गया है । मैं जिसकी कामना करती थी, जिसे चाहती थी... उसे तो मैंने अपने हाथों से विष पिलाया है... उसकी जीभ अपने हाथों से काटी है ।''*[६]

प्रेमी–प्रेमिका के बीच परिपक्व प्रणय सम्बन्ध की सबसे बड़ी पहचान है – पारस्परिक विश्वास । विश्वास की संगीन नींव पर आधृत प्रेम किसी भी परिस्थिति में असक्त नहीं होता । 'एक और द्रोणाचार्य' के गौण पात्र अनुराधा और चन्दू का प्रेम परस्पर की विश्वसनीयता की नींव पर विकसित हुआ है । अनुराधा और चन्दू कॉलेज में साथ–साथ पढ़ते हैं । कॉलेज के प्रेसिडेंट के लड़के राजकुमार की वजह से चन्दू को कॉलेज से निकाल दिया जाता है । अपने अपराधों से कभी बाज नहीं आनेवाला राजकुमार एकदिन कॉलेज कम्पाउण्ड में प्रिंसिपल अरविन्द के सामने चन्दू की प्रेयसी अनुराधा पर बलात्कार की कोशिश करता है । प्रिंसिपल अरविन्द अनुराधा को बचाता है । दिनों–दिन बढ़ते जा रहे राजकुमार को अमानुषिक जुल्मों के लिए सज़ा दिलाने अनुराधा प्रिंसिपल अरविन्द का सहयोग माँगती है । अनुराधा के पिता पुत्री की बदनामी के डर से प्रिंसिपल अरविन्द को रिपोर्ट लिखवाने के लिए मना करते हैं । प्रिंसिपल अरविन्द भी उससे बदनामीवाली बात पर पुनर्विचार करके निर्णय करने को कहता । परन्तु अनुराधा का निर्णय अटल है । उसे अपने प्रेमी पर दृढ़ विश्वास है । तभी तो वह कहती है – *''सभी पुरुष नामर्द नहीं हो गए*

हैं, सर । मुझे अपनानेवाला भी कोई है । उसका प्रेम मुझे लड़ने की ताकत देगा ।''[७]

प्रेमिका बनकर नारी जिसकी जिन्दगी में प्रवेश करती है उसकी जिन्दगी में आमूल परिर्तन हो जाता है । कठोर हृदयी कोमल हृदयी बन जाता है । प्रेम का आर्द्र रसायण मन–वचन–कर्म की कलुषितता को धो डालता है और बूरी कही जानेवाली राह पर चलनेवाला व्यक्ति सत्पथ पर चलने लगता है । यायावर जिन्दगी स्थिरता पाकर महेंकने लगती है । यह सच्चे प्रेम का प्रभाव है । 'आधी रात के बाद' का राजकुमार व्यवसाय से चोर है और चौर्य–कर्म में पारंगत भी । हालांकि उसके इस असामाजिक और निंद्यकर्म के लिए वह खुद जवाबदार नहीं, परिस्थितियाँ जवाबदार हैं । उसे समाज के प्रकट–अप्रकट सभी प्रकार के शत्रुओं की पहचान है । और उन सभी से पिण्ड छुड़ाकर वह भोपाल में फर्नीचर का धन्धा शुरू करता है । वहाँ उसका परिचय रागिनी से होता है । रागिनी को पाकर उसकी दुनिया ही बदल जाती है – *''हमेशा सोचता, ऐसा करूँगा तो वो क्या सोचेगी ? वैसा करूँगा तो वो क्या कहेगी ? वगैरह–वगैरह । हम लोग साथ घूमे–फिरे, साथ होटल में गए । पिक्चर देखीं । लगता था जैसे जिन्दगी में किसी ने गुलाबजल छिड़क दिया हो ।''*[८] हालांकि भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया । प्रेम पूर्णता को प्राप्त करे इससे पहले तो वो कानून की झपट में आ गया । रागिनी उसकी जिन्दगी की मधुर कल्पना और स्मृति बनकर रह गई ।

हर भावना की भाँति आज प्रेम–भावना के अर्थ में भी परिवर्तन आया है । प्रेम का व्यापक अर्थ आज समाप्त सा हो गया है । अब प्रेम में वह आत्मिक अलौकिकता नहीं रही । वह तो केवल शरीर से सम्बंधित है । जब तक व्यक्ति को शारीरिक सुख मिलता है, तब तक प्रेम है और जैसे ही वह समाप्त हो गया तो प्रेम की महत्ता भी कम हो जाती है । आज वासना ही प्रेम का पर्याय बन गया है । 'मूर्तिकार' नाटक के प्रेमी–प्रेमिका सतीश एवं नीलू के बीच प्रेम वासनात्मक है । सतीश गरीब परिवार की युवती नीलू को सुनहरी जाल में फाँसकर भविष्य कालीन वैवाहिक स्वप्नों को दिखाकर उसे

वासना का शिकार बनाता है । गर्भवती हो जाने के बाद नीलू को अपनी गलती का एहसास होता है । उसे सतीश के प्रेम पर से विश्वास उठ जाता है । वह अपनी भाभी के सामने व्यथा–कथा कहती है – *''अब मुझे विश्वास नहीं रहा भाभी । भाभी मुझे लगता है कि अब मुझे पापिन बनकर ही इस संसार में रहना पड़ेगा ।''*[६] सतीश का नीलू के प्रति प्रेम शुद्ध देहवादी था इसलिए वह बेझिझक कहता है कि नीलू से उसने *''प्रेम नहीं, प्रेम का नाटक किया था ।''*[७०]

इसकी अपेक्षा नीलू के प्रति अनादि का प्रेम अव्यक्त और विकारशून्य है । उसने नीलू को हृदय से चाहा है, शरीर उसके लिए गौण है । वह नीलू का स्वीकार गर्भ में पल रहे सतीश के अंश के साथ करते हुए पुरुष चरित्र की सम्भावना के विरुद्ध प्रेम और प्रेमिका के लिए औदार्य का एक नया आयाम खोल देता है, *''हाँ भाभी, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ । मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ सब समझता हूँ । मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि नीलू समाज की दृष्टि में पतिता है, भ्रष्ट है, पर मेरी दृष्टि मे नहीं ।''*[७१]

समाज में कभी किसी युवती का प्रेम महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होता है । 'बिन बाती के दीप' की मंजू महत्त्वाकांक्षी है । वह प्रसिद्ध उपन्यासकार विशाखा के पति के यहाँ टाइपिस्ट की नौकरी करती है । वह भी जीवन में बहुत कुछ चाहती है । शिवराज और मंजू विशाखा के अन्धेपन का लाभ उठाकर उसे हमेशा के लिए अन्धी बनाये रखने की साजिश रचते हैं । शिवराज मंजू को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उसकी आर्थिक मदद करता है, बराबरी का स्थान देते है और उसकी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए हर सम्भव प्रयास करता है । मंजू द्वंद्वात्मक स्थिति में शिवराज की ओर झुकती ही जाती है । उन दोनों के बीच प्रेम शरीर स्तर पर उभरता है । मंजू, शिवराज को हर अच्छे–बुरे कामों में साथ देती है । उसने अपने प्रेमी से खोने की अपेक्षा ज्यादा पाया है, *''शिव, मैं प्रसन्न हूँ, मैंने जो कुछ किया है उससे मेरा परिवार, मेरे भाई अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी कर सकेंगे । गरीब*

और असहायता की भावना से उन्हें मुक्ति मिल जाएगी । जो कुछ मुझे मिला है, उसकी तुलना में मैंने शायद बहुत थोड़ा मुल्य चुकाया है ।''[२]

कुछ पाने की आकांक्षा के साथ किया गया प्रेम क्षणिक होता है । ऐसे क्षणिक प्रेम में धोखा–घड़ी की सभी सम्भावनाएँ विद्यमान होती हैं । 'चेहरे' नाटक के अन्तर्गत डॉ. शेषजी ने कमली और विनोद के चीला–चालू प्रेम सम्बन्ध के आधार पर इसे समझाया है । विनोद मुम्बई में भटकनेवाला चालबाज युवक है । वह गाँव की लड़की कमली को हीरोइन बनाने का प्रलोभन देकर भगा ले जाता है । कमली विनोद को अपना प्रेमी मानकर प्रेमी–युगल–सहज चेष्टा करती है । कमली के शरीर की तलाश समाप्त हो जाने के पश्चात् अब उसे सबसे ज्यादा दिलचस्पी कमली के आभूषणों में है । भरोसेजी की अन्तिम क्रिया के लिए आए गेंदासिंह से मिलकर वह कमली के आभूषणों को बाँट लेता है और मौका पाकर भागने की कोशिश करता है । वहाँ उपस्थित कुछ युवकों के जरिए इस घपले का पर्दाफाश किया जाता है और विनोद के चेहरे पर लगे 'प्रियतम' के चेहरे को उतारकर कमली के सामने खड़ा कर दिया जाता है । कमली उसकी नीच हरकत से विक्षुब्ध हो जाती है – *''तो क्या शुरू से आखिर तक तूने जो कहा वह झूठ था ? क्या हमें फँसाने की महज एक चाली थी ?..बोल... क्यों... क्यों.. क्यों... दगा दिया हमें तूने ? नीच ।''*[३]

प्यार के बारे में अक्सर यह प्रचलित है कि 'प्यार किया नही जाता, हो जाता है ।' और हो जानेवाले प्यार में वजन होता है । किसी से कुछ पा जाने के लोभ–लालच में उसके पीछे पड़ जाना प्रेम नहीं कहलाता । क्योंकि प्रेम जबर्दस्ती नहीं होता । 'नयी सभ्यताः नये नमूने' नाटक में प्रेम का आडम्बर रचने और प्रदर्शन करनेवाले छिछले किस्म के प्रेमी–प्रेमिका के सम्बन्धों की प्रस्तुति हास्य–व्यंग्य शैली में की है ।

धरणी और स्मृति सम्पन्न वर्ग की दो सगी बहने हैं । आधुनिकता के रंग में मदहोश ये दोनों प्रेम को क्षुल्लक मजाक और खिलवाड़ समझती है । इन दोनों बहनों की तड़क–भड़क से बुरी तरह आकृष्ट गगनबिहारी और

भूलवूप्रसाद इनको पाने के लिए बेताब घूमते हैं । परन्तु मामला कुछ विचित्र है । गगनबिहारी धरणी के प्रति अनुरक्त है तो भूलवूप्रसाद स्मृति के प्रति और धरणी एवं स्मृति दोनों कृष्ण के प्रति अनुरक्त है । कृष्ण इन सभी के अन्योन्याश्रित दैहिक आकर्षणजन्य प्रेम सम्बन्ध को भली–भाँति समझता है । वस्तु स्थिति यह है कि इन प्रेमी–प्रेमिका का अपने–अपने प्रिय पात्र के प्रति प्रेम सम्बन्ध सच्चा नहीं है, प्रत्युत् प्रेम का महज प्रदर्शन है । प्रेम की गरिमा को लांछित करनेवाले इन प्रेमी–प्रेमिकाओं के प्रति वह क्षुब्धता प्रकट करता है, *''प्रेम जैसी पवित्र वस्तु को इन लोगों ने प्रदर्शन और कौतुक की वस्तु बना डाला है ।''*[६४]

'तिल का ताड़' नाटक में प्राणनाथ और मंजू के प्रेम का नाटक आसन्न समस्या से निबटने के उपाय रूप है । धन्नामल की किराए की कोठरी में रहना है तो प्राणनाथ को अपनी बहू को साथ रखना अनिवार्य है । जबकि प्राणनाथ अभी अविवाहित है । उसने इस रहस्य को धन्नामल से छिपाकर रखा है । उसे धन्नामल का मनःसमाधान करने कुछ दिन के लिए एक स्त्री की तलाश है । एक दिन संयोग से उसे मंजू नामक युवती मिल जाती है, जिसको अकेली पाकर गुण्डे छेड़ रहे थे । वह मंजू को अपनी समस्या से विदित करता है और उसे अपनी पत्नी बनने का नाटक करने की प्रार्थना करता हो मंजू प्राणनाथ के घर में अपने आप को सुरक्षित पाकर 'नाटक' के लिए तैयार हो जाती है । इसी बीच प्राणनाथ मंजू के व्यक्तित्व और साहचर्य से आकर्षित होता है । वह मानसिक रूप से उसे अपनी प्रेमिका मानने लगता है । मंजू उसके *''हृदय–मन्दिर की देवी बनती जा रही है ।''*[६५] प्राणनाथ अब इस सम्बन्ध को स्थायित्व में तबदील करना चाहता है । मंजू प्राणनाथ की इसी भावुकता पर एतराज जताती है, *''मैं कठोर नहीं हूँ मिस्टर प्राणनाथ, मेरे साथ समय कठोर है ।... मैं यदि मुसीबत की मारी न होती तो क्या आपके साथ इस तरह का नाटक करती । मैं देख रही हूँ कि आप अपना सन्तुलन खोते जा रहे हैं ।''*[६६] इस प्रकार प्राणनाथ का मंजू के प्रति प्रेम सम्बन्ध एकांगी रूपसे पनपता हे और टूट भी जाता है ।

नारी इस जगत की विलक्षण रचना है । जब वह प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर प्रेमिका का रूप अखित्यार करती है तो उसके सामने बड़े–बड़े धैर्यवानों का धैर्य छूटने लगता है । 'कालजयी' नाटक की पुरबी अपने दोनों शत्रुओं–कालजयी और वैद्यराज मृत्युंजय को निशाना बनाती है । कालजयी का विश्वास प्राप्त करने के बाद वह वैद्यराज मृत्युंजय को अपने मोहपाश में बाँध कर उससे प्रेम का नाटक करती है – *''जिस दिन मैं पहली बार कालजयी के यहाँ आयी थी, उसी समय तुम मुझे चाहने लगे थे... लेकिन कालजयी के सामने अपनी बात नहीं कह सके । क्या यह सच नहीं है ?''*[६७] पुरबी मृत्युंजय पर प्रेम–सम्बन्ध का ऐसा जाल बिछाती हे कि उसकी अनुपस्थिति की कल्पना भी उसके लिए कष्टकर बन जाती है । परिणामतः पुरबी के प्रेम के जादू का असर उसके सिर पर चढ़कर बोल उठता है – *''आज मुझे तुम्हारी आदत पड़ गयी है ।''*[६८]

पुरबी का मकसद कालजयी की मृत्यु का रहस्य जानना ही मात्र नहीं है, कालजयी और मृत्युंजय के बीच फूट डालना भी है । वह प्रेम का झूठा अभिनय करके सौंपे गये दायित्व को भी सफल बनाती है । इसकी प्रतीति हमें मृत्युंजय का यह विधान कराता है, *''पुरबी, कालजयी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।''*[६९] कहना चाहिए कि पुरबी प्रेमिका बनकर एवं प्रेम का नाटक करके अपने मक़सद को पूरा करने में सफल रहती है ।

❀ *नारी समस्या :*

हमारे समाज में पुरुष की तुलना में नारी की स्थिति अनादि काल से विडंबित और दयनीय रही है । आज युग इतना कठिन रूप धारण कर रहा है कि नारी चाहे गरीब हो या अमीर जीवन के हर क्षेत्र में उसे संघर्ष करना पड़ रहा है, शोषण से जूझना पड़ रहा है । वस्तुतः जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधाना ढूँढने के लिए उसे संघर्ष करना अनिवार्य बन गया है । जब वह इन समस्याओं का समाधान ढूँढने में सफल होती है तो उसका मन–मस्तिष्क एक भारी बोझ से मुक्ति पाता है परन्तु समाधान ढूँढने में

असफल नारी घुटती ही चली जाती है । समाधानशून्य स्थिति में कभी–कभी उसकी मानसिक अवस्था विकृत रूप धारण कर लेती है । नारी के लिए तो वे समस्याएँ गम्भीर कही जाएँगी । आज नारी को भयंकर रूप से आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं से जूझना पड़ रहा है । वैदिककाल से लेकर आधुनिककाल तक आते–आते नारी ने अपने आपको कई अर्थहीन बन्धनों से मुक्त किया है । शिक्षा ने नारी को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया है । फिर भी वैयक्तिक समस्याएँ भी कुछ कम नहीं है जिन्होंने आज नारी को अन्तर्मुखी बना रखा है । इन समस्याओं का समाधान पाने के लिए नारी कई बार बिखर जाती है ।

डॉ. शेषजी ने समसामयिक नारी की सभी समस्याओं को अपने नाटकों में चित्रित किया है । नारी के प्रति इनमें पूर्ण सहानुभूति एवं सम्मान की भावना है । इसीलिए तो उन्होंने नारी के यथार्थ और आदर्श दोनों रूपों को रेखांकित किया है : *''सुधारक का प्रमुख अस्त्र यथार्थवाद है । यथार्थवाद में दृष्टा अपनी चेतना पर जीवन सम्बन्धी एक धारणा ग्रहण करता है । वह जीवन का वस्तुपरक दर्शन करता है और अपनी धारणा को पूरी ईमानदारी से व्यक्त करता है । जीवन के प्रस्तुत रूप में निहित भावी सम्भावनाओं को पहचानकर उन्हें प्रयोग रूप में परिणत करने का श्रेय आदर्शवादी को है । आदर्शवादी जीवन के स्फुट खण्डचित्रों को तथा निरुदेश्य व्यक्तित्व को एक आन्तरिक संगति देकर, उन्हें समष्टि की मंगलकारी दिशा में प्रवाहित करता है । वह जीवन की अनेकता में एकता का दर्शनकर, आशा का स्वर मुखरित करता है ।''*[१००]

नारी व पुरुष दोनों के पारस्परिक संयोग द्वारा ही परिवार का निर्माण सम्भव है । हमारा समाज पुरुष–प्रधान होने के कारण उसे ही श्रेष्ठ मानता है जबकि परिवार को बनाने में नारी का ही सहयोग अधिक होता है । नारी के बिना परिवार की कल्पना ही नहीं की जा सकती । इतना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी नारी को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जिससे उसका जीवन दुःखमय हो जाता है, दाम्पत्य–जीवन विघटित होने लगता है और

सम्बन्ध विच्छेद की स्थिति आ जाती है । 'रत्नगर्भा' की इला के अपने पति को डाक्टर बनाने इंग्लैण्ड भेजा, खूब त्याग किया और समय की छाती पर आँखें बिछाकर कई वर्ष प्रतीक्षा की और पति की उन्नति में कभी बाधक नहीं बनी । परन्तु प्रसिद्ध सर्जन बनकर सुनील ने उस त्याग का बदला कैसे चुकाया ? पत्नी की जली हुई सुरत से नफरत की । उससे दूर रहने लगा । इतना ही नहीं पत्नी की घोर उपेक्षा करते हुए लिली, डाली, रेखा, सुनन्दा, मेडेलीन जैसी ललनाओं से यौन सम्बन्ध स्थापित करने लगा । एक पति–परायण आदर्श नारी की इससे बढ़कर और विडम्बना क्या हो सकती है कि जिसका पति उसकी हयाती में अन्य युवतियों से रंगरेलियाँ करता हुआ उसकी हत्या का प्रयास करे । इला का मन इस घटना से संसार के प्रति वितृष्णा से भर जाता है, *''तुम.. तुमने मुझे विष पिलाना चाहा... मारना चाहा... आखिर क्यों... चन्द चान्दी के सिक्कों के लिए । डाक्टर होकर दवा के बहाने विष... इतना सब झूठ... फरेब... क्या अब तक का तुम्हारा प्रेम केवल दिखावा था... क्या पति पत्नी के बीच इतनी सच्चाई जरूरी नहीं ? लाओं दो मुझे जहर... यदि मेरी मौत से तुम्हें सुख मिलता हो तो घोंट दो मेरा गला... बढ़ाओं हाथ... ।''*[१०१]

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' की घोषणा करके हमारे पूर्वजों ने नारी को महिमामण्डित किया । परन्तु वही नारी को प्रताड़ित करने में पुरुष–वर्चस्व समाज व्यवस्था ने कोई रास्ता शेष नहीं रखा । उसका महत्त्व क्षुल्लक और नगण्य बना दिया । उसकी इच्छा आकांक्षाओं, मनोरम भावनाओं और स्वप्निल दुनिया को समझने की कभी कोशिश नहीं की गई । वह मूक पशु के जैसी पराधीन बनकर पुरुष वर्ग की इच्छाओं को पूरी करती रही और आदर्श नारी का भार ढोती रही । शादी–ब्याह के अवसर पर उसे बताया तक नहीं जाता कि जिसके साथ उसका आजीवन सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है वह युवक कौन है ? कैसा है ? डॉ. शेषजी ने 'कोमल गान्धार' में गान्धारी के मारफत चिर–शोषित, चिर प्रताड़ित नारी समस्या को वाचा प्रदान की हे ।

गान्धार राजकन्या गान्धारी का विवाह जन्मान्ध राजकुमार धृतराष्ट्र के साथ किए जाने पर उसका कोमल नारी हृदय क्षुब्ध हो उठता है । राजरक्त से जन्में राजकन्या के अतिरिक्त कुछ भी न समझेजानेवाली नीति से उसका खून खौलने लगता है – *''राजरक्त से जन्मे एक शरीर से ज्यादा कुछ नहीं माना गया मुझे क्यों ?''*[१०२] वह धृतराष्ट्र के सामने तिक्त प्रतिक्रिया व्यक्त करती हुई कहती है, *''कौरवों को चाहिए था एक शरीर, जिसमें बहता हो राजरक्त... ऐसा शरीर जिससे राजरक्तवाले दूसरे शरीर पैदा किए जा सकें... बताइए, इससे ज्यादा क्या मेरे अस्तित्व को स्वीकारा है आपके इस महान कुल ने ?''*[१०३]

पुरुष वर्चस्ववाले समाज में नारी को क्रय–विक्रय की वस्तु ही समझा गया । उसको भोग्य सामग्री से विशेष मूल्य नहीं दिया गया । वह 'भ्रष्टा, मृष्टा च चुम्बिता' के जैसी एक हाथ से दूसरे हाथ जानेवाली अपनी दुर्दशा से बच कहाँ सकी है ? गान्धारी का यह वचन पुरुष सत्ता को प्रताड़ित करता है – *''इससे आगे कोई परम्परा भी है क्या आपके यहाँ ? भीष्म के सपने बेचकर सत्यवती खरीदी गई, काशीराज की लड़कियाँ लूट के सामान की तरह लायी गयीं.... इसमें नयी कड़ी है वह बेचारी माद्री... ।''*[१०४] पुरुष जाति ने अत्याचार और दमनचक्र चलाकर नारी का क्रूर शोषण किया है । ऐन परिस्थिति में नारी जाति का समग्र पुरुष जाति के प्रति घोर वितृष्णा का जन्मना बिल्कुल सम्भवित है । गान्धारी पुरुषवर्ग के प्रति फिटकार बरसाती है – *''ये लोग समझते क्या है । मैं स्त्री हूँ, इसीलिए मुझ पर अन्याय करने का इन्हें एक नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है ? सब एक जात के है – मेरा पिता, भीष्म और यहाँ तक कि मेरा भावी पति धृतराष्ट्र भी... !''*[१०५]

चूँकि अन्याय या अत्याचार के प्रति कड़ा रूख अपनाया जाने पर भी क्या कोमल हृदया स्त्री सम्बन्धों के व्यामोह से मुक्ति पा सकती है ? और फिर मुक्ति पाकर भी वह कर ही क्या सकती है ? लौटना उसके लिए सम्भव नहीं, *''स्त्री की मुक्ति के लिए शायद एक नयी दिशा खुल जाती । पर मैं साहस नहीं बटोर पाई महाराज ! तिरस्कार को केवल निजी तौर पर दिखाकर*

रह गई । उसे विरोध की सार्वजनिक भाषा... नहीं दे सकी । अब तो मैं अपने ही किले की बन्दी हूँ । लौटना कहाँ सम्भव है .... ।''[१०६]

नारी के सम्बन्ध में अक्सर कहा जाता है कि नारी की संवेदना को भली–भाँति यदि कोई पहचान सकती है तो वह नारी ही । लेकिन जहाँ नारी ही पुरुष वर्ग के साथ मिलकर नारी का शोषण करे तो दोष किसको दे ? उत्तराधिकारी के लिए पुत्र–प्राप्ति की समस्या को सुलझाने के लिए भी सहन तो नारी जाति को ही करना पड़ता है । प्राचीनकालीन नियोग पद्धति को हमारे शास्त्रों ने वैध–विधि माना है । नियोग के द्वारा पुत्र–प्राप्ति करने के लिए जिस नारी को बाध्य बनाया जाता है, वह भी अवांछित पुरुष से, वह क्षण उसकी आत्मा को विदीर्ण कर देती है । राजकुमार धृतराष्ट्र भीष्म का ध्यान उस अनसुलझे तथ्य की ओर आकृष्ट करते हुए नारी की विडम्बना स्पष्ट करते हैं – *''हाँ.. हाँ... आपकी । आपका ही तेजस्वी रूप था उसकी कल्पना में । लेकिन आया वह पीली आँखोंवाला, जटाजूट, काली देहवाला ब्राह्मण । जानते हैं, उसे देखकर चीख पड़ी थीं मेरी माँ । घृणासे काँप गया था उसका शरीर और मन । डर से बन्द कर ली थीं उसने आँखें । राजाज्ञा का पालन करने के लिए समर्पित हो गया था एक शरीर ।''*[१०७]

महाभारत का द्यूत–प्रसंग हमारी स्मृति में कौंध आता है जहाँ पुरुष वर्ग स्त्री को दाँव पर लगाकर हार–जीत का फैसला करता था । आज तरीका बदल गया है पर स्त्री के जरिए महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति कर लेनेवाली पुरुष जाति की मानसिकता वही है । 'रक्तबीज' नाटक के अन्तर्गत सुजाता (स्त्री) को पति शर्मा (छोटा पुरुष) पदोन्नति के लिए इस्तेमाल करता है । वह बॉस को खुश करने के लिए पत्नी को समर्पित कर देता है । सुजाता को इस बात पर अपने पति से शिकायत है, *''इसलिए तो शिकायत है उससे, मानस ! एक रास्ते की तरह इस्तेमाल किया उसने मेरा ।''*[१०८]

जिस औरत की कमनीय देहयष्टि को पाने के लिए पुरुष भ्रमरवत् उसके इर्द–गिर्द भ्रमण करता है वही औरत को एकबार पा लेने के बाद उसकी उम्मीद खत्म हो जाती है । तलाश पूरी हो जाते ही नारी नाकाम चीज की

भाँति फेंक दी जाती है, *''भार्गव मुझे बर्फ से ढँकी पहाड़ियों और झाडपत्ती दिखाने स्विट्जरलैण्ड नहीं ले गया था, मानस । वह मुझे पाना चाहता था सो पा लिया उसने । जब–तक मैं बचती रही... टालती रही... उसके लिए एक रहस्यमय... अलग किस्म की औरत थी, पाते ही मुझमें खत्म हो गई उसकी तलाश । दूसरी औरतों की तरह ही लगने लगी उसे मैं एक साधारण औरत ।''*[१०६]

इस्तेमाल करके पति महाशय तो ऊँचा पद प्राप्त कर लेता है पर पत्नी की अन्तिम गति क्या हो सकती है, सिवा आत्महत्या के । इस समस्या का अन्त केवल और केवल आत्महत्या ही हो सकता है । सुजाता नींद की गोलियां खाकर अपनी समस्या के साथ ही इस जगत् से भी उठ जाती हे ।

'घरौंदा' नाटक की छाया भी ठीक इस्तेमाल की समस्या का शिकार होती है, वह भी स्वेच्छा से नहीं बल्कि प्रेमी सुदीप के दुराग्रह पर । आर्थिक कठिनाइयों से विक्षिप्त सुदीप प्रेमिका छाया को शोर्टकट अपनाने पर मजबूर कर देता है, *''.. तो हम भी उसी रास्ते पर क्यों न चलें जिसे शार्टकट कहते हैं । मैं तुम्हें कभी मकान नहीं दे सकूँगा । मोदी तुम्हें सबकुछ दे सकता है । केवल हाँ कहने की देर है । हम दोनों क्यों यातना भोगें ।''*[११०] सुदीप क्या जानता है कि उसकी हर धारणा गलत पड़नेवाली है । छाया का प्रेम पाकर मोदी स्वस्थता प्राप्त कर लेता है । घरौंदा बनाने का मनोरथ तो उनका अधूरा ही रह जाता है किन्तु छाया की अपने घर की छत के नीचे सुदीप की गृहिणी बनकर जीने की अभिलाषा भी दम तोड़ देती है ।

पातिव्रत्यधर्म की आड़ में पुरुष नारी पर सितम गुजारता है, उसकी अवहेलना करता है, धोखाघड़ी करता है फिर भी उसके नाम पर प्रतिष्ठित होता है तथापि पति से कुछ भी न कहना भारतीय नारी का एक और रूप है । पति के बिना अपना अस्तित्व शून्य समझकर न जाने कितनी नारियाँ अपने पतियों के शोषण को सह लेती है । 'बिन बाती के दीप' की विशाखा अपने पति शिवराज की बेरूखी की शिकार है । पति को उसने प्राणसे भी ज्यादा चाहा और *''जो अपनी पत्नी को धोखा दे वह नीच है, पापी है ।''*[१११]

ऐसा कहनेवाले शिवराज ने उसके साथ धोखा किया । अन्धी विशाखा उसके लिए *''सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी बन गयी ।''*[११२] पति ने उसके अन्धेपन की विवशता का और उसकी क्षमाशीलता का पूरा लाभ उठाया । विशाखा की आत्मा पति के विश्वासघात से मर्माहत होती है । परन्तु वह कर ही क्या सकती है ? भारतीय नारी अपने दाम्पत्य जीवन को विघटित थोड़े ही होने देती । विवशता के क्षणों में मन की कटुता भूलकर समझौता कर लेना ही एकमेव उपाय उसके पास बचता है, *''तुमने यहसब क्यों किया, शिव ? तुमने यह सब क्यों किया ? मुझसे इतना संकोच क्यों किया ?... तुम्हें उपन्यासकार बनने की इच्छा थी, तो मुझसे केवल एकबार कहते, केवल एक बार । मैं अपने सारे उपन्यास तुम्हें दे देती । उन पर केवल तुम्हारा नाम छपता । पर तुमने मेरे साथ ऐसा धोखा क्यों किया ? मुझ पर थोड़ा भी भरोसा नहीं था ?''*[११३]

जिस प्रकार विशाखा की मजबूरी ने उसे धोखा खाने का अवकाश प्रदान किया तो मंजू की विवशता ने दूसरी स्त्री को धोखा देने के लिए मजबूर किया ।

प्रेम के पक्ष में भी तो सहन करना अन्ततोगत्वा नारी को ही होता है । प्रेम करने के लिए जब मनुष्य सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन कर जाता है तो उसे 'अवैध प्रेम' की संज्ञा दी जाती है । *''अनमेल विवाह, अतृप्ति, उपेक्षा, क्रूरतापूर्ण आचरण तथा संरक्षण की भावना आदि कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे मनुष्य को अपनी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है और इसी दमन के परिणाम स्वरूप यह अवैध प्रेम की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।''*[११४]

विवाहपूर्व गर्भधारण की घटना को समाज में कलंक रूप माना जाता है । न केवल उस लड़की के जीवन को बल्कि उसके पूरे परिवार को कलंकित समझा जाता है । इसीलिए उस लड़की को बदनामी के डर से या तो आत्महत्या करनी पड़ती है या फिर कलंकित जिन्दगी जीनी पड़ती है, क्योंकि उसका प्रेमी उसे अपनाता नहीं है । 'मूर्तिकार' नाटक में नीलू विवाहपूर्व अपने प्रेमी सतीश से देह सम्बन्ध बाँधकर गर्भवती होती हे । नीलू के आदर्शनिष्ठ

भाई मूर्तिकार शेखर का घर से बाहर निकलना मुश्किल हो गया । लेकिन इस दुष्कर्म करनेवाले सतीश को बदनामी का रंचमात्र डर नहीं है और न वह नीलू से ब्याह करना चाहता है । *''मैं कहता हूँ मैं नीलू से ब्याह नहीं कर सकता... औरत को सदैव मैंने एक खिलौना समझा है । आप मेरी बदनामी ही तो करेंगे न ? शौक से करिए । मैं यदि बदनामी से डरता तो ऐसे काम ही क्यों करता ।''*[११५] सतीश का विश्वासघात नीलू में आत्मिक शक्ति को जगाता है । वह अवैध प्रेम के चिह्न रूप गर्भ को गिराना नहीं चाहती है और न आत्महत्या, परन्तु प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाती हुई बच्चे का पालन करके अपने अपराध का दण्ड भुगतना चाहती है – *''मेरा यह पाप ! इससे मैं भागूँगी नहीं... और उन कमजोर औरतों की तरह छुटकारा पाने की भी कोशिश नहीं करूँगी । अपने अपराध का दण्ड मुझे भोगना ही होगा ।''*[११६]

''हिन्दू समाज में केवल अछूत ही पीड़ित नहीं है, विधवाएँ भी उनके समान अस्पृश्य एवं पीड़ित है ।''[११७] किसी विधवा स्त्री का अवैध प्रेम सम्बन्ध व्यभिचार की संज्ञा पाता है । यदि वो व्यभिचार के परिपाकरूप गर्भवती बनती है तो उसकी दशा हमारे समाज में त्रासदपूर्ण बन जाती है । वर दर–दर की ठोकरें खाती हुई अपराधभाव के साथ जीने के लिए बाध्य बनती है । डॉ. शेषजी ने पुराणकालीन समाज में विधवा नारी की विडम्बना को 'खजुराहो का शिल्पी' नाट्य रचना में वर्णित हेमवती की दारुण–समस्या पर प्रकाश डाला है । हेमवती यौवनागमन के साथ विधवा हो जाती है । एक दिन वह चन्द्र के जैसे सर्वांग सुन्दर युवक को कामार्त अवस्था में देह समर्पित कर देती है । वह सुन्दर पुरुष उसमें वीर्य संचित कर चला जाता है, क्योंकि *''उसका चला जाना तो पुरुष की सहज प्रकृति है । मनु चला जाता है, लेकिन श्रद्धा रह जाती है... मोह का एक क्षण... जो जीवन को दुःख के अहाते से घेर देता है ।''*[११८] वह समाज से दुत्कार दी जाती है । गर्भस्थ शिशु के साथ लम्बी यात्रा करती हुई दारुण व्यथा को भोगती है । शायद यही तो नारी जीवन की नियति है, करुणान्तिका है ।

भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा को उन्नत करने के अनेक प्रयत्न हो रहे हैं, परन्तु अभी तक उनकी दशा सोचनीय ही रही है । डॉ. शेषजी ने उनकी दुःखद स्थिति का चित्रण अपने नाटकों में किया है । नारी तब तक सुरक्षित है जब–तक कि वह घर के चौखट से बाहर नहीं निकलती । जैसे ही वह बाहर आ जाती है तो उसी दिन समाज की भेड़िया–नजर उसका पीछा करने लगती है । कभी–कभी उसे अकेली पाकर कुछ बदमाश उसकी इज्जत पर हमला कर देते हैं । 'तिल का ताड़' की मंजू नौकरी की तलाश में मुम्बई जैसे महानगर में आ पहुँचती है । रात के वक्त कुछ सड़कछाप गुण्डे उसे अकेली पाकर उसे दबोचना चाहते हैं मंजू को प्राण से भी ज्यादा अपनी इज्जत प्यारी है । वह चिल्लाती है । उसी वक्त प्राणनाथ नामक कथा नायक गुण्डों को न केवल पीटता है बल्कि उसकी लाज सुरक्षित रखने हुए अपने घर में पनाह देता है । वह प्राणनाथ को धन्यवाद देती है, *''यदि आज आप न होते तो इन गुण्डों के हाथों न जाने मेरी क्या दुर्गति होती... आपको किस मुँह से धन्यवाद दूँ... आपने आज मेरी लाज रख ली ।''*[११९]

हमारे समाज में बलात्कर एक गम्भीर समस्या बनता जा रहा है । आये दिन समाचार पत्रों में हम बलात्कार की घटना पढ़ते हैं । इस समस्या ने पूरे समाज को आतंकित कर रखा है । स्कूल–कॉलेज जैसे विद्याधाम भी अकेली, बेबस युवती के लिए खतरा बनत जा रहा है तब नारी किस–किस से अपना बचाव करे ? वह ऐसी हालत में सब तरह से निरूपाय है । 'एक और द्रोणाचार्य' में कॉलेज के प्रेसिडेंट का आवारा पुत्र राजकुमार अनुराधा को अकेली पाकर उस पर टूट पड़ता है । लेकिन प्रिसिम्पल अरविन्द के वहाँ पहुँचने पर उसका बद–इरादा काम्याब नहीं होता । अनुराधा बलात्कारी को सज़ा दिलाने कानून का सहारा लेना चाहती है पर उसे धमकी दी जाती है, *''मेरे पीछे गुण्डे लगाने की । राजकुमार जो कुछ नहीं कर पाया, उसे पूरा करवाने की । मेरे पिता को जान से मारने की ।''*[१२०] नारी की यह कैसी शोकान्तिका है कि अत्याचार सहते हुए भी उसे समाज में पुनः सम्मान पाने हेतु किसी चश्मदीद गवाह के सामने मिन्नत करनी पड़े । अनुराधा के इस विधान में एक उत्पीडित

नारी की विवशता झलकती है – *''अगर आप बदल गए तो मैं कहीं की नहीं रहूँगी । मेरा विरोध एक मजाक बनकर रह जाएगा । लोग समझेंगे मैंने राजकुमार को फाँसने के लिए साजिश की है... ।''*[१२१]

मध्यवर्गीय नारी अन्य वर्ग की नारियों की अपेक्षा अधिक पीड़ित है । उसे घर की इज्जत के साथ–साथ अपने शील–चारित्र्य की भी रक्षा समाज के बड़े लोगों की वासनात्मक नजरों से करनी पड़ती है । 'मूर्तिकार' नाटक की ललिता कुछ ऐसी ही विडम्बना का शिकार है । वह आर्थिक विभीषिका से सन्त्रस्त होने के बावजूद अपने घर की एवं अपने चारित्र्य की रक्षा करने में दत्तचित्त है । उसके पातिव्रत्य आदर्श एवं स्वाभिमान से अनजान घर मालिक का प्यादा मुंशी उसके लहलहाते यौवन, सौन्दर्य एवं उसकी कमनीय काया को खरीदने आता है । मुंशी, ललिता से अभद्र माँग करने का दुःसाहस इसीलिए करता है कि आर्थिक–मजबूरी अच्छे–अच्छे को डोलायमान कर देती है परन्तु ललिता अलग ही मिट्टी की बनी है । उसका पातिव्रत्य धर्म ऐन वक्त धधक उठता है – *''तो यह ले, नरक के कीडे ! जा अपने मालिक से कह दे कि ललिता ने मेरे गाल पर ये निशान भेजे हैं.. नीच ! तू मुझे पैसे से खरीदना चाहता है । तू हमारी गरीबी का फायदा उठाना चाहता है.. तो जा अपने मालिक से कह दे... कि दुनिया भर का पूरा सोना इकट्ठा करके भी ललिता के नख को नहीं छुआ जा सकता ।''*[१२२]

जवान औरत जैसे ही विधवा हो जाती है, अकेली पड़ जाती है । तब लम्पट–पुरुष समुदाय उसे सार्वजनिक वस्तु मान लेते हैं । पुरुष प्रधानसमाज में ऐसी निराधार स्त्री का जीना दुभर होता है, क्योंकि पुरुष ऐसी स्त्री को कुत्ते की भाँति नोचकर खाने में कोई संकोच न करेंगे । 'एक और द्रोणाचार्य' में विमलेन्दु की आत्मा अरविन्द को अपने विधवा पत्नी के दर्द की दास्तान कहती है कि पुरुष को केवल शरीर चाहिए, निरा स्त्री का शरीर – *''केवल शरीर सत्य है आत्मा–वात्मा सब बकवास ।''*[१२३] विमलेन्दु की पत्नी जैसे–तैसे नौकरी करके अपनी बच्ची का पेट पाल रही है पर लोग उसे चैन से कहाँ जीने देते हैं ? *''उसका एक नया अफसर आया है । साठ साल उम्र है उसकी । वह*

डोरे डाल रहा है मेरी पत्नी पर । प्रमोशन का लालच दे रहा है । अब बोलो । कहाँ है आत्मा ? शरीर–केवल शरीर ।''[१२४] आखिर उत्तापित्त हालत में विमलेन्दु की पत्नी नौकरी और शहर दोनों छोड़कर चली जाती है किन्तु आत्मसमर्पण नहीं करती । नारी को इधर–उधर भटकाने में कामपीड़ित पुरुषवर्ग का बड़ा हिस्सा है । इससे नारी हर पल कष्टदायक यन्त्रणा का एहसास करती है । चैन कहाँ ले पाती है ।

वेश्या–जीवन नारी का नारकीय और निकृष्ट जीवन माना जाता है । एकबार पतिता बन जाने के बाद नारी उस स्थिति से उबरकर कितना ही त्यागपूर्ण एवं सादगीपूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करे लेकिन समाज उसके व्यतीत रूप को भूलने को कब तैयार है ? 'चेहरे' नाटक की अध्यापिका जो अपने पूर्वजीवन में एक वेश्या थी । भरोसेजी ने उसका उद्धार किया । तब से गाँव में भरोसेजी और अध्यापिका के सम्बन्ध को लोगों ने शंका की नजरों से देखा है । वह नारकीय जिन्दगी से परित्राण पाकर एक स्वस्थ और सुष्ठु सामाजिक जिन्दगी जीना चाहती है लेकिन समाज के परमानन्द और गेंदासिंह जैसे भ्रष्ट लोग उसकी निजी जिन्दगी में पलिता चाँपने का काम करते हैं । तब उसे जबरन तत्जन्य दमित क्षोभ व्यक्त करना ही पड़ता है – *ये सब बौने और घिनौने लोग ! इनकी गन्दी नजरों की कीलें हजारों बार मेरे शरीर में गड़ चुकी हैं ।''*[१२५] क्या ऐसी पतित नारियों को स्वस्थ जिन्दगी जीने का अधिकार नहीं है ? अगर है, तो समाज की कठोर मानसिकता उनके सुधार में व्यवधान क्यों बनती है ? ऐसे अनेक सवाल संवेदनशील व्यक्ति के मन में उठते हैं । युग–युग से उत्पीड़ित नारी की विडम्बना को समझने की अपेक्षा तथाकथित सभ्य समाज ने उसकी विडम्बना को बढ़ाया है, उसकी अग्नि परीक्षा ली है । नारी जहाँ प्रताड़ित है, उपेक्षित है, निरादृत है, असुरक्षित है, वह समाज कभी उन्नति नहीं साध सकता ।

❀ *जातिप्रथा और छुआछूत :*

वैज्ञानिक उन्नति के बाद भी आज का समाज अनेक सामाजिक विसंगतियों से ग्रस्त है । भारतीय जन–जीवन में सबसे बड़ी विसंगतियाँ जातिप्रथा और छुआछूत है । इसका धातक विष राष्ट्र को निरन्तर ह्रासोन्मुख बना रहा है । *''अस्पृश्यता, जिससे विश्व के अधिकांश देशमुक्त हो चुके हैं, उनसे भी भारत का जनमानस आज तक अपना पीछा नहीं छुड़ा पाया है ।''*[१२६] हमारे समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण में विभाजित किया गया था । इस वर्णव्यवस्था का आधार जन्म से न होकर गुण और कर्म से था, परन्तु बाद में वर्णभावना वर्ण और कर्म में न स्वीकार करके जन्म से मानी जाने लगी । देश की वर्तमान स्थिति में अब इस व्यवस्था को खास महत्त्व नहीं दिया जा रहा है । अतः वर्णव्यवस्था प्रायः लुप्त सी हो चली है । फिर भी कहीं–कहीं पर उसका प्रभाव आज भी दृश्यमान हो रहा है । इससे मनुष्य अलग–अलग समूहों में बँट जाता है तथा खान–पान और व्यवसाय के आधार पर ऊँच–नीच और स्पृश्य–अस्पृश्य ऐसे भेद अस्तित्व धारण करते हैं । *''अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सडान्ध है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्तव्य है । यदि यह अस्पृश्यता समय रहते नष्ट न की गई तो हिन्दू–समाज और हिन्दू धर्म का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा ।''*[१२७]

पुराने समय में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण को आदरभाव से देखा जाता था । ब्राह्मण का वर्चस्व समाज मान्य करता था । इसका कारण समाज के लिए ब्राह्मण का अपूर्व कर्तृत्व परायणता और त्यागशीलता था । किन्तु यदि ब्राह्मण परम्परागत मूल्यों को विसार करके जीता है तो वह समाज की आँखों से गिर जाता है । ऐसे ब्राह्मण को 'राक्षस' या 'गुण्डे' की उपमा से उपमित किया जाए तो कोई आश्चर्य नहीं । डॉ. शेषजी ने 'बाढ का पानी' नाटक मे अन्तर्गत जातिभेद को बढ़ावा देनेवाले उच्चवंशीय पाखण्डियों की पड़ताल करवायी है । गाँव का बच्चा–बच्चा जानता है कि अस्पृश्यता को अहम् माननेवाले मातादीन पण्डित और उसके दोनों बेटे रग्घू और चन्दू संस्कारों से हीन और

गुण्डे किस्म के लड़के हैं । जिन पर खुद उच्चकुलीनता की दुहाई देनेवालों को भी रंचमात्र विश्वास नहीं । उन दोनों में भूल से भी प्रशंसा करने योग्य सद्गुण विद्यमान नहीं । गाँव को बाढ़ की चपेट से बचाने गए इसी गाँव के चमार कुनबे का होनहार युवक नवल की पिटाई करके उस पर उसके मन्दिर प्रवेश करने से बाढ़ का प्रकोप गाँव पर हावी होने का आरोप लगाते हैं । इस विधान पर प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए गनपत कहता है, *''खुद साले गुण्डे हैं । गाँव की हर बहू–बेटी इन दोनों गुण्डों से डरती है । कोई भी शरीफ आदमी इन्हें अपने घर तक में नहीं घुसने देता, और ये आकर उपदेश देने लगे भैया । कहने लगे, नवल के कारण ही यह बाढ़ आई है । न वह मन्दिर में जाता और न देवता नाराज होते, और न यह बाढ़ आती ।''*[१२८]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे नीचा समझे जानेवाला व्यवसाय अवश्य करते हैं परन्तु उनमें ऊँची कही जानेवाली जातियों से कहीं अधिक वैज्ञानिकता विद्यमान है । नवल की बातों में वैज्ञानिकता झलकती है – *''यदि यह चमकने वाली बिजली इसी टीले पर गिर पड़े तो... तब क्या कहोगे ? चाचा, प्रकृति की लीला को आदमी के आपसी रिश्तों से जोड़ना गलत है ।''*[१२९]

स्वाधीनता के पश्चात्, हिन्दू–मुस्लिम वैमनस्य अत्यन्त रुक्ष हो गया था । हिन्दू–मुस्लिम एकता के क्षेत्र में डॉ. शेषजी मानवतावाद के समर्थक थे, अतः उनके इस नाटक में उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल दिया है । गाँव का बरकतभाई उदार दृष्टिवाला पात्र है और सांप्रदायिक विद्वेष को भूलकर प्राकृतिक मुसीबतों के समय गाँववालों के साथ रहता है और गाँव के विकास के लिए अपनी ओर से कुछ–न–कुछ योगदान देने की तत्परता भी दिखाता है । लेकिन मातादीन पण्डित के दोनों गुण्डे बेटे रग्घू और चन्दू उसे तंग किया करते हैं कि – *''अब तो तुम मुसलमानों का मुल्क बन गया है, वहाँ क्यों नहीं जाते ।''*[१३०] इस विद्वेषपूर्ण विधान पर वह सद्भावनापूर्ण वक्तव्य देता है, *''सपने में भी नहीं आती बटेसर ।... इसी गाँव में मेरी दस पुश्तें जन्मीं और मरीं । इसी मिट्टी ने मुझे पाला–पोसा... यहीं हम लोगों के शादी–ब्याह, मौत–दफन सभी हुए । आखिर मैं इस जमीन से उखड़कर कहाँ जाऊँगा ।''*[१३१]

वास्तव में ऊँची जाति का दम्भ बिल्कुल गलत ख्याल है, संस्कारिता ही मूल्यवान चीज है । व्यक्ति जाति–पाँति से नहीं बल्कि उसके संस्कारों से अच्छा–बुरा होता है और फिर ऐसा कोई नियम नहीं है कि उच्चवर्ण में ही कर्तृत्ववानजीव पैदा होता है । निम्न जाति में भी ऐसा जीव पैदा हो सकता है । गाँव का ठाकुर मातादीन पण्डित को शाश्वत–सत्य का एहसास कराते हुए कहता है – *''पण्डित मातादीन, अब अपने लड़कों का मोह न करो । मैं सोचता था, ऊँची जाति की सन्तान ऊँचे कर्मोंवाली होंगी । ब्राह्मण के बेटे दया–माया से भर–पूर होंगे । पर अब मैं समझ गया हूँकि कीचड़ में भी कमल खिल सकता है, और ब्राह्मणों में भी चाण्डाल पैदा हो सकते हैं ।''*[१३२]

'राक्षस' नाटक के अन्तर्गत 'ओउम् स्वार्थाय नमः ।' मन्त्र का जाप करनेवाली तीनों व्यक्ति –व्यक्तिः१ (लालदास), व्यक्ति–२ (पीलादास) और व्यक्ति–३ (नीलादास) छुआछूत की भावना से कतराते हैं । पापमय, घृणित आचरण करनेवाले ये तीनों शयतानी–प्रकृति के व्यक्ति मृत्यु के समय गाँव के मोची के लड़के को सामने पाकर उसकी परछाई से अपवित्र हो जाने से डरने लगते हैं । यथा –

''व्यक्ति–३ : लेकिन ये लड़का कौन है ?
स्त्री : हमारे गाँव के मोची का लड़का है...
व्यक्ति–१ : ये नहीं जाएगा हमारे साथ, हम नहीं चाहते कि मृत्यु के समय..
स्त्री : एक मोची के गन्दे लड़के की छाया आप पर पड़े... लेकिन ये जाएगा, इसे कोई नहीं रोक सकता ... ।''[१३३]

'राक्षस' बनकर सैकडों नगरों को उजाड़नेवाला रणछोडदास दृढ़ता से चले आ रहे उस मोची के लड़के को देखकर घबड़ाता है, क्योंकि वह लड़का उस कमल को लेकर आगे बढ़ रहा था जिसे रणछोडदास जैसे राक्षस ने हजारों साँपों के पहरों में रखा था, हजारों वर्षों से भूखे–नंगों के खून से भरे तालाब में उागाया था । वह चीखता है – *''रोको, रोको... इस मैले कुचैले नंगे पाँव मोची के लड़के को... इसके हाथों में मेरी हत्या करनेवाला कमल फूल का*

हथियार है । ये मेरे प्राण लेगा, रोको ... ।''[१३४] हालांकि यह नाटक में मोची का लड़का, कमल फूल और राक्षस सब प्रतीक है । इस दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक प्रतीकात्मक बन पड़ा है । मोची का लड़का वैज्ञानिक नवचेतना का प्रतीक है तो कमल फूल नवसर्जन का । इनके जरिए संकीर्ण और पुरातन ख्यालोवाली मानसिकता जो राक्षस को जन्म देती है और उसे जिन्दा रखती है, विखण्डित होती है । उसके विखण्डित होते ही 'राक्षस' का भी अन्त हो जाता है । मतलब यह कि, राक्षस को मारने के लिए नव्य–वैज्ञानिक चेतना को अग्रसरित करना नितान्त आवश्यक है ।

शिक्षा–दीक्षा के प्रचार–प्रसार से ही छुआछूत की भावना कम हो सकती है और उस पर विजय पाया जा सकता है । वर्णभेद के नाम पर किसी योग्य व्यक्ति को ठुकराया जाए, उसे अनधिकारी कहकर दुत्कारा जाए, यह शिक्षा–संस्थानों की अधोगति का सूचक है । शिक्षा के साथ जात–पाँत को जोड़ता निरा पागलपन है, महज मूर्खता । 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक के एकलव्य प्रसंग में एकलव्य के द्वारा स्पष्टता करने पर पूर्वदीप्ति पद्धति में यह घटना उभरती है । वहाँ द्रोणाचार्य स्वयं को उच्चवर्ण को शिक्षा देनेवाले गुरु बताकर अपनी गुरुता से गिरते हुए दिखाए गए हैं । उनका यह विधान *''शास्त्रों के अनुसार मेरी विद्या केवल ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए है ।''*[१३५] जातिभेद को उकसानेवाला ही नहीं प्रत्युत् मानवता का अपमान, विद्या का अपमान करने तुल्य है । शिक्षा संस्थानों में उसके संचालकों को विद्या–अर्जित करनेवाले की उत्कण्ठा और विद्या के प्रति लगन देखनी चाहिए, जाति–बिरादरी नहीं ।

❀ *अन्ध विश्वास :*

सामाजिक जीवन में अन्धविश्वास आज भी समाज में प्रकारान्तर से विद्यमान है । समाज के जीवन में धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों ने समाज विरोधी तत्त्वों को प्रोत्साहित किया । समाज में एक वर्ग ही पैदा हो गया जिसने नित नये देवताओं, स्वर्ग–नर्क और धार्मिक विश्वासों का भय दिखाकर

साधारण जन–जीवन का शोषण किया और अपने अस्तित्व की नींव मजबूत करने में जुटा रहा । यह भावना आज के भारतीय समाज के लिए घातक भी सिद्ध हो रही हे । अन्ध विश्वास की भावना के आधार पर लोग जनता को लूटते हैं जिसका चित्रण डॉ. शंकर शेष ने 'पोस्टर' नाटक में चित्रित किया है । 'पोस्टर' का पटेल निष्ठुर, निर्दयी और मजदूरों का भयंकर शोषण करनेवाला अर्थाकांक्षी कारखानेदार है, जो धर्म और उससे सम्बंधित ख्यालों के माध्यम से धन अर्जित करने की योजना बनाने में तल्लीन है । वह कर्मवाद के आधार पर जन्मवाद की फिलसूली को चलाकर स्वयं को श्रेष्ठ और अन्य को क्षुद्र साबित करता है । *''वह लोगों में यह विवास बनाए रखना चाहता था कि उन्हें जो जिन्दगी मिली है, वह महज उनके पुर्वजन्म के कर्मों का फल है ।''*[१३६] श्रद्धालुओं को लूटता बड़ा आसान होता है । पटेल श्रद्धालु मजदूरों की अबोधता और मूढ़ता का फायदा उठाकर कथाकीर्तन का आयोजन करता है तथा भक्ति–प्रसंग पर प्रवचन देने के लिए तथाकथित धूर्त, पाखण्डी महात्मा अखण्डानन्द को बुलाता है । एवं महात्मा की मिथ्या चमत्कारी सिद्धियों को सुनाकर मजदूरों पर अन्धविश्वास का आतंक जमाता है – *''आपके सामने तो सभी सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं । आप तो खाली हाथ से भभूत निकाल सकते हैं, आप तो निपुत्रक को पुत्र दे सकते हैं... यहाँ तक सुना है कि आप कैंसर जैसा भयानक रोग भी ठीक कर सकते हैं... उन्हें बताइए कि आप किस तरह नरक और स्वर्ग दोनों की यात्रा करके लौटे हैं ।''*[१३७] *''महाराज ने स्वयं साक्षात् प्रभु के दरसन किए हैं । उनके चमत्कारों का क्या कहना... वे नरक और स्वर्ग से आत्माओं को बुला सकते हैं और उनसे आँख मिलाकर बात करते हैं । वे बाँझ औरत को बच्चा दे सकते हैं और पानी पर चल सकते हैं ।''*[१३८]

स्वामीभक्ति की आकांक्षा पटेल की सद्भावना का परिणाम नहीं है बल्कि शोषण और एकाधिकार की भावना को बरकरार रखने की साजिश है । महात्माजी पाप–पुण्य की दुविधा में फँसे मजदूरों को समझा रहा है कि यह पुण्य की प्राप्ति होती है स्वामी भक्ति से – *''जैसा बोया है, जौन है सो तौन,*

वैसा ही काटोगे । जैसा करोगे वैसा ही भरोगे । अब अपने पटेल साहब को लो । अरे, ये पिछले जनम में का थे । बेचारे एक जिमींदार के घर में नौकर । पर मन लगा के करी चाकरी इनने । और इस जनम में पाया स्वामी भक्ति का फल । अब हैं पटेल ।''[१३६]

पटेल नहीं चाहता कि मजदूरों में चेतना प्रकट हो, जागृति आये और उसके खिलाफ बगावत करें । अतः उसने स्वर्ग–नरक की तस्वीर अपने गोदाम में चिपका रखी है । वह अन्धविश्वास में डूबे मजदूरों को आशा और भय से ग्रस्त पाकर खुश होता है । वह किसी–न–किसी रूप में एक अन्ध रूढ़ि की सत्ता को बनाए रखता है ।

ज्योतिषशास्त्र वैसे तो अत्यन्त पुराना शास्त्र माना जाता है जिसमें ग्रह–नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर भविष्य कथन किया जाता है । इसमें राशि के आधार पर नामकरण की विधि की प्रथा भी अति प्रचलित है । राशि के आधार पर किया गया नामकरण व्यक्ति को सफलता और सिद्धि को प्राप्त कराता है । यद्यपि इसे वैज्ञानिक समर्थन प्राप्त न होने के कारण बुद्धिजीवी वर्ग उसे केवल अन्धविश्वास ही मानते हैं । आज–कल लेखक वर्ग भी 'टाइटिल' के आधार पर सफलता–विफलता की मान्यता से ग्रस्त है । उनकी मान्यता है कि अमुक–तमुक वर्ण से शुरु होनेवाला शीर्षक कृति को आसमान के जितनी ऊँची उठा देता है । 'बिन बाती के दीप' नाटक का गौण पात्र नटवर ने नाटक को पूर्ण कर लेने के बाद भी शीर्षक नहीं दिया है । उसकी मान्यता है, *''मेरी राशि का शब्द है 'ब' । ज्योतिष कहता हे कि मेरे नाटक का नाम 'ब' से शुरू होना चाहिए ।''*[१४०]

यह अन्धविश्वास संस्कारों में इतने गहरे उतरे हुए हैं कि उनसे मुक्ति पाना सहज नहीं है । फिल्म इन्डस्ट्री में भी मान्यताओं व अन्धविश्वास का बाजार बहुत गर्म रहता है । स्टार बनने के लिए हीरो की भूमिका से भी बढ़कर ज्योतिषी के मार्गदर्शन और बाबा के आशीर्वाद की भूमिका विशेष कारगत मानी जाती है । 'चेहरे' नाटक में विनोद का यह कथन फिल्म इन्डस्ट्री की भीतरी पर्तों को खोलने का काम करता है – *''नई उधर इन्डस्ट्री के*

जोतिसी से पूछेंगा । हम लोग सब काम जोतिसी से पूछ के करता है । फिल्म साइन होने के बाद तुमकू बाबा के पास भी ले जाएँगा । बाबा का आशीर्वाद मिला कि तुम साला स्टार ।''[१४१]

अन्धविश्वास को उत्तेजना देने में मन्त्रशक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है । मन्त्रशक्ति के सहारे भाग्य बदल देने को दावा यन्त्र युग ने निरर्थक सिद्ध कर दिया है । मन्त्र–शक्ति में विश्वास करनेवाले अनावश्यक भय तथा भ्रमों का शिकार होते हैं । वश में न होनेवाला प्राणी वशीकरण मन्त्र से वशीभूत हो जाता है । 'नयी सभ्यताः नये नमूने' नाटक में इस स्थिति का चित्रण किया गया है । इस नाटक में भूलवूप्रसाद, स्मृतिदेवी को अपने प्रति आकर्षित करने के लिए कृष्ण से सलाह माँगता है । कृष्ण, मूर्खों को भ्रम में रखना अनुचित न मानते हुए उसे वशीकरण मन्त्र अख्तियार करने की सलाह देता है । भूलवू यद्यपि शंका करता है कि, *''साहब, मन्त्र से कहीं स्त्रियाँ वश में होती है ?''*[१४२] तो कृष्ण मन्त्र की अमोध शक्ति का प्रमाण देते हुए कहता है, *''मन्त्र से क्या नहीं होता भूलवू ! मन्त्र से बड़े राक्षस, दैत्य, दानव सभी वश में हो जाते हैं, तब स्त्रियाँ किस खेत की मूली है ।''*[१४३]

इस देश के सामाजिक जीवन पर अन्धविश्वास का इतना गहरा प्रभाव रहा है कि यदि कहा जाए कि अन्धविश्वास सामाजिक जीवन का नियामक रहा है तो अनुचित न होगा । नैसर्गिक घटनाओं और प्रकोपों को धर्म के साथ जोड़कर किसी एक वर्ग को दोषित ठहराना अन्धविश्वास ही तो है । इस सन्दर्भ में डॉ. शंकर शेष का नाटक 'बाढ़ का पानी' का नाम लिया जा सकता है । मातादीन पण्डित के दोनों आवारा बेटे नर्मदा में आयी बाढ़ का कारण देवता की नाराजगी को बताते हैं । क्योंकि अंत्यज जाति के युवक नवल ने मन्दिर में प्रवेश किया था । वे गाँव में ढिंढोरा पीटते हैं कि *''नवल के कारण ही यह बाढ़ आई है । न वह मन्दिर में जाता और न देवता नाराज होते, और न बाढ़ आती ।''*[१४४]

अन्धविश्वास से अगर कोई व्यक्ति छुटकारा पा जाता है तो वह संकीर्ण मानसिकता से अपने–आपको नहीं उबार सकता । ब्रह्मचारी के पात्र द्वारा डॉ.

शेषजी ने 'तिल का ताड़' नाटक में उसकी चंचल चेष्टाओं का चित्र अंकित करके हास्य–व्यंग्य की सृष्टि की है । बेदर्द–ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य इतना कमजोर है कि जरा–जरा सी बातों में भ्रष्ट हो जाता है , अपवित्र हो जाता है । स्त्रियों की छाया से परहेज समझनेवाला ब्रह्मचारी इसीलिए तो प्राणनाथ के कमरे पर सोने के लिए आ जाता है, क्योंकि उसके घर बड़े भाई की जवान सालियों के आ धमकने से उसका ब्रह्मचर्य संकट में पड़ गया है – *''कैसे सोऊँ प्राणनाथजी.. आप जानते हैं, मैं नवयुवतियों से कितना दूर भागता हूँ और खासकर अविवाहित स्त्रियों की मैं छाया भी नहीं छूता.. अब देखिए न, प्राणनाथजी मेरे बड़े भाई की चार अविवाहित जवान सालियाँ आ गई हैं । अब मैं वहाँ कैसे सो सकता हूँ ।''*[१४५]

❀ निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ. शंकरशेष ने अपने नाटकों में समाज, व्यक्ति और उसके प्रत्येक पक्ष के क्रिया कलापों पर पैनी नजर रखी है । समसामयिक सामाजिक चित्रण में नाटककार की दृष्टि आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी रही है । उन्होंने समाज की विभिन्न स्थितियों का यथार्थ चित्रण करते हुए उसे एक व्यवस्थित दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया है । आज़ादी के बाद भारतीय राजनीति ही नहीं समाज भी प्रभावित हुआ है । स्वाधीन भारतीय समाज को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है । भारतीय समाज व्यवस्था राजाओं और सामन्तों के चंगुल से मुक्त होकर उच्चवर्ग के अधीन हो गई । उच्चवर्ग में समाज का नवधनाढ्यवर्ग और उच्चपदासीन वर्ग सामन्ती संस्कारो से ग्रसित हो पाश्चात्य सभ्यता की अन्धी दौड़ व भोग से पीड़ित हो गया ।

राष्ट्र की प्रगति–यात्रा में औद्योगीकरण के कारण महानगरों का विस्तार हुआ । महानगरों के उदय से मध्यमवर्ग का उत्कर्ष हुआ । उभरता हुआ नवमध्यमवर्ग आरम्भ से ही भोगवाद का शिकार हो गया । धनाढ्य वर्ग का भौतिक आकर्षण उसका आदर्श बना । लघुताग्रंथि से पीड़ित यह वर्ग अपनी

महत्त्वेच्छाओं की आपूर्ति के लिए जी तोड़कर प्रयत्न करने लगा । किन्तु अपनी शक्ति और सीमाओं के कारण यह वर्ग उस स्तर तक पहुँच भी न सका और पृथक् दिखने की लालसा में अपनी जड़ों से भी दूर हो गया ।

सामाजिक विकृतियों का प्रभाव हमारे सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ा । स्वार्थपरता और अहं की टकराहटों ने सामाजिक सम्बन्धों की नवीन व्याख्या ही नहीं की वरन् सम्बन्धों के अस्तित्व पर प्रश्न–चिह्न लगा दिएँ । माता–पुत्र–पुत्री सम्बन्ध, भाई–बहन सम्बन्ध, प्रेमी प्रेमिका सम्बन्ध, पति–पत्नी सम्बन्ध आदि सारे सम्बन्ध स्वार्थ की कसौटी पर कसे जाने लगें । आधुनिक भारतीय नारी अपने अधिकारों को प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न कर रही है । जिसमें वह कुछ हद तक सफल भी हुई है । चाहे वह समाज में हो, चाहे शिक्षाक्षेत्र में या नौकरी में अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र में । इसके साथ आर्थिक स्वतन्त्रता भी उसके लिए बहुत आवश्यक है । नारी की स्थिति में बदलाव तभी सम्भव है, जब उसके प्रति समाज के दृष्टिकोण में बदलाव आए । उसके पक्ष में कुछ कानून बना देने भर से समाज में नारी की स्थिति नहीं बदल सकती । आधुनिकता के चक्कर में पड़ने से कभी–कभी महिलाओं को कुछ खोना भी पड़ता है । नारी का शोषण और उसके प्रति वासनात्मक दृष्टि रखना जहाँ पुरुष का स्वभाव बन गया है, वहाँ मुक्ति के नाम पर स्वच्छन्द भोग की कामना नारी की अभिलाषा, नौकरीपेशा नारियों की अलग–अलग समस्याओं पर भी नाटककार ने दृष्टिपात किया है ।

वर्ण व्यवस्था, छुआछूत, जाति–पाँति, अन्धविश्वास, सांप्रदायिक घृणा आदि संकीर्णताओं को तिलांजलि देकर स्वस्थ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर राष्ट्रीय हितों के प्रति जन–मन का ध्यान आकृष्ट करने का सराहनीय यत्न नाटककार ने अपनी नाट्य–रचनाओं में किया है । इस प्रकार समाज के समस्त पहलुओं को यथावकाश नाटककार ने अपने नाटकों में संकेतित किया है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

१	स्वातंत्र्योत्तर महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में विभिन्न रूप–नीहार गीते, पृ.१६,
२	'युगे युगे क्रान्ति, विष्णु प्रभाकर, पृ.३३
३	टूटते परिवेश – आमुख से : विष्णुप्रभाकर
४	कल्पना (नवलेखन विशेषांक :२), डॉ. बच्चनसिंह, पृ.३
५	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : विचार तत्त्व, डॉ. अवधेशचन्द्र गुप्त, पृ.८६
६	भारत में जाति भेद, डॉ. क्षितिमोहनसेन, पृ.१४१
७	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त, पृ.१८६
८	बावजूद इसके, चित्रा मुद्गल, सारिका, जून–१, १९७९
९	साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप, डॉ. विमला शर्मा, पृ.४९
१०	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक, विचार तत्त्व, डॉ. अवधेशचन्द्र गुप्त, पृ.८८
११	निर्बन्ध – दीप्ति खण्डेलवाल, सारिका, सितम्बर, १९७५
१२	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.७२
१३	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०२
१४	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४४४
१५	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४४०
१६	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२३१
१७	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१३३
१८	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.६२

१६	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.१०५
२०	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३०८
२१	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३८५
२२	'आधीरात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३२७
२३	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.६६
२४	आलोचना, नाटक विशेषांक, पृ.११४
२५	हिन्दी मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन : चन्द्रकान्त बान्दिवडेकर, पृ.११२
२६	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३२७
२७	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.६४
२८	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३७८
२६	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.२७
३०	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३२६
३१	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३७७
३२	'बन्धन अपने–अपने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.२५१
३३	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.१५४
३४	The Psychology of Social Classes, P. 95
३५	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३१६
३६	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.३०५
३७	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१६६०, पृ.१६६

३८	'फन्दी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१९
३९	ऋग्वैदिकाल में पारिवारिक सम्बन्ध, डॉ. शिवराज शास्त्री, पृ.२७१
४०	भारतीय नारी, स्वामी विवेकानन्द, पृ.७६
४१	आधुनिक हिन्दी कविता में नारी मनोविज्ञान, उर्वशी, ज. सूरती, पृ.३३१
४२	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.६७
४३	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४६१
४४	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४६३
४५	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४६३
४६	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२२८
४७	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२२८
४८	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२२९
४९	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.६३
५०	ध्रुवदोयोध्रुवा पृथ्वी धृतं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वताइमे ध्रुवा स्त्री पति कलेयम् ।।साममन्त्र ब्राह्मण –१/३/७
५१	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.६६
५२	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३२
५३	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.५२

५४	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.६२
५५	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३४२
५६	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.७६
५७	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०१
५८	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०४
५९	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०४
६०	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२९
६१	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३०
६२	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१५४
६३	महाभारत, पृ.१ /१४५/६
६४	हिन्दी काव्य में नारी, डॉ. वल्लभदास तिवारी, पृ.४५
६५	भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में नारी, नीता रत्नेश, पृ.१११
६६	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२१
६७	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.५३
६८	रघुवंश, कालिदास, पृ.६७
६९	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.८५
७०	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१९८
७१	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४४०
७२	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४४६
७३	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२८२

७४	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३८७
७५	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.७३
७६	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१४१
७७	विवाह की मुसीबतें, रामधारीसिंह दिनकर, पृ.३३
७८	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.११४
७९	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.११७
८०	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.११८
८१	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.११५
८२	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.११५
८३	'बन्धन अपने–अपने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२६५
८४	'बन्धन अपने–अपने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२६५
८५	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१३२
८६	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१६६
८७	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३००

८८	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३४६
८९	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०१
९०	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०५
९१	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०६
९२	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१५५
९३	'चेहरे', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२६१
९४	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३२
९५	'तिल का ताड़', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.९७
९६	'तिल का ताड़', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१००
९७	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१४७
९८	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१४७
९९	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१६६
१००	हिन्दी उपन्यास : बदलते सन्दर्भ, डॉ. शशिभूषण सिंहल, पृ.२५
१०१	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.५६–५७
१०२	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४३३
१०३	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४४०

१०४	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४४९
१०५	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४३३
१०६	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४४१
१०७	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.४२८
१०८	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३९५
१०९	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३९५
११०	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३४५
१११	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१८२
११२	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१७२
११३	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१९८
११४	भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में नारी, डॉ. नीता रत्नेश, पृ.२२८
११५	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०६
११६	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१०७
११७	टू दि वोमेन, एम. के. गान्धी, पृ.२४४
११८	'खजुराहो का शिल्पी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.६७
११९	'तिल का ताड़', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.७६

१२०	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३००
१२१	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३०१
१२२	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.७३
१२३	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३०३
१२४	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.३०५
१२५	'चेहरे', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२७८
१२६	भगवतीचरणवर्मा की उपन्यास चेतना, डॉ. इन्दुशुक्ला, पृ.७३
१२७	गान्धी विचार दोहन, पृ.४१
१२८	'बाढ़ का पानी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१२१
१२९	'बाढ़ का पानी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१२२
१३०	'बाढ़ का पानी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१२४
१३१	'बाढ़ का पानी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१२४
१३२	'बाढ़ का पानी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१३५
१३३	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१७५
१३४	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१८४
१३५	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२९१

१३६	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२९५
१३७	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२९५
१३८	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२९५
१३९	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२९६
१४०	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१६३
१४१	'चेहरे', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.२३८
१४२	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.५१
१४३	'नयी सभ्यताः नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.५१
१४४	'बाढ़ का पानी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.१२१
१४५	'तिल का ताड़', शंकरशेष रचनावली, खण्ड–चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष–१९९०, पृ.८५

चतुर्थ अध्याय

डॉ. शंकरशेष के नाटकों में आर्थिक परिवेश

चतुर्थ अध्याय
डॉ. शंकरशेष के नाटकों में आर्थिक परिवेश

आधुनिक युग में समाज को सबसे अधिक प्रभावित करनेवाला पहलू अर्थ है, क्योंकि अर्थ ही वह साधन है, जिसके बल पर मानव अपने को सुखी रखता है । आर्थिक अभाव में व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की प्रगति क्षीण हो जाती है । अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय अर्थ–व्यवस्था सम्पन्न एवं अन्य देशों की तुलना में काफी उन्नत थी । परन्तु अंग्रेजी–शासन के शोषण एवं दोषपूर्ण नीतियों से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक भारतीय अर्थ–व्यवस्था अत्यधिक बिगड़ चुकी थी । एक अंग्रेज ने बड़े स्पष्ट रूप में भारतीय सम्पत्ति के इंग्लैण्ड जाने की बात कही है – *''हमारी पद्धति एक स्पंज की भाँति है, जो गंगातट की सब अच्छी चीजों को चूसकर टैक्स तट पर ला निचोड़ती है ।''*[१] भारत जो सोने की चिड़िया कहलाता था, जहाँ घी–दूध की नदियाँ बहती थीं, स्वतन्त्रता–प्राप्ति के समय वह अन्धविश्वास, गरीबी, अशिक्षा और शोषण के शिकंजे में फँसा हुआ था । इस समय लघु उद्योग–धन्धे पूर्णतः समाप्त हो गए थे । जमींदारी प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी । मासूम जनता बेरोजगारी, निर्धनता और शोषण से पीड़ित थी । ऐसी स्थिति में व्यक्ति–चेतना का कुण्ठित हो विद्रोह कर उठना अस्वाभाविक न था ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रवृत्तियों की गति तीव्र होती गई । प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक रूप से सम्पन्न हो सके इसलिए अनेक आर्थिक क्रान्तियों का जन्म हुआ । कृषि और गाँव के महत्त्व को समझते हुए प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नहेरू ने कहा था कि *''शहरी आबादी के लिए तरक्की के सारे साधन मुहैया करनेवाले गाँव खुद बात–बात में शहरों का मुँह देखें, यह मौजूँ बात नहीं है । उन्हें हाथ पसारना नहीं, बल्कि पसरे हाथों को भरना है ।''*[२]

समाजवादी विचारों के प्रभाव स्वरूप देश में आर्थिक चेतना जागृत हुई । आर्थिक विकास की मात्रा ऊँची लाने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का कार्यक्रम गढ़ा गया तथा दोषपूर्ण स्थितियों के संशोधन की शुरूआत हुई । *''उद्योग धन्धों के पुनर्गठन के लिए पं. नेहरू की अध्यक्षता में १५ मार्च, १९५० को योजना आयोज का गठन किया गया ।.... योजनाएँ बनती रहीं और गरीबी का औसत बढ़ता रहा । सन् १९८०–८१ में देश की ५१.१ प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे आ चुकी थी । गरीबी निवारण के अथक प्रयासों के बावजूद आज (१९८५ ई. तक) देश में ३८% जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे का जीवन व्यतीत कर रही है ।''*[३] हालांकि इन योजनाओं के कारण कृषि, उद्योग, सिंचाई, बिजली, शिक्षा, परिवहन, यातायात के साधन, आवास, स्वास्थ्य आदि का विकास जरूर हुआ ।

स्वतन्त्रता से पूर्व साधारण व्यक्ति का आर्थिक अभिगम अत्यन्त संकुचित था । मतलब वह अपनी अमीरी–गरीबी को लेकर उपस्थित कठिनाइयों के लिए भाग्य को दोषी ठहराता था । एक ओर देश को पाकिस्तान से आए विस्थापितों के पुनर्वसन की योजना बनाना अनिवार्य हो गया था तो दूसरी ओर अंग्रेजी दासता से मुक्ति पाकर अपने ही बलबूते पर स्थिर रहकर तमाम आर्थिक अभावों को दूर करना था । अर्थविदों की यह मान्यता थी कि अंग्रेजी शासन के समाप्त हो जाने पर हमारी समस्त आर्थिक समस्याएँ एकदम समाप्त हो जाएँगी पर स्वतन्त्रता पश्चात् गौर किया गया कि वह वस्तुतः हमारा भ्रम था, हमें देश के आर्थिक सुधार के लिए प्रचुर प्रयास करने होंगे । स्वतन्त्रता के बाद कोंग्रेस ने अपनी आर्थिक नीतियों के निर्धारण में समाजवादी समाज की स्थापना का उद्देश्य रखा था । इस सम्बन्ध में पं. नेहरू ने कहा था कि – *''हमारी अनिवार्य समस्यएँ हैं आर्थिक विकास और रहन–सहन का उच्च स्तर । इसके लिए समाजवादी समाज की स्थापना के अतिरिक्त कोई अन्य हल नहीं है ।''*[४]

जमींदारी प्रथा की बोलबाला समाप्त करने के लिए किसानों, मजदूरों में जागृति आई । किसानों–मजदूरों की उग्रता और असन्तोष को देखते हुएसरकार

ने जमींदारी प्रथा के उन्मूलन अधिनियम बनाए तथा 'भूमिसुधार' कानून पारित किए । शहरी मजदूरों को ''फैक्टरी एक्ट'' पारित हो जाने से लाभ के साथ–साथ सुविधाएँ भी मिलीं । तथा उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागृति आई ।

भारत में औद्योगीकरण इतनी तीव्रता एवं प्रभावी रूप से हुआ कि वर्तमान लघु–उद्योगों की नींव हिल गई । इस क्रान्ति ने घरेलू उद्योग–धन्धों के स्थान पर फैक्ट्री सिस्टम को जन्म दिया । मानव की जगह मशीनों ने हड़प ली । पूँजीपतियों का वर्चस्व बढ़ने लगा । विदेशों से लोग पूँजी लगाने भारत में सादर आमंत्रित किए जाने लगे । पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यांवित रखने और विकास का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भारत को सम्पन्न देशों से ऋण भी लेना पड़ा । भारत की इस आर्थिक विषमता को स्वीकार करते हुए अपने अन्तिम समय में पं. नेहरू ने कहा था कि, *''औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में अधिक लाभ उन्हें मिला है जो, पहले से उद्योग में स्थिर थे । जिसके परिणाम स्वरूप कुछ परिवार अधिक सम्पन्न हो गये हैं और एकाधिकार की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है ।''*[४] ऋण दाताओं के जरिए ऋण तो मिल जाता पर हमेशा संकट के समय उनका मुँह ताकने में हीनता का एहसास भी होने लगा । हीनता बोध से भरा मस्तिष्क संकल्पसिद्धि करने में शिथिलता को महसूस करने लगा । वस्तुतः स्वतन्त्रता के बाद का जो आर्थिक परिवेश रहा है, *''वह शर्मनाक भिक्षाकाल का समय रहा है । ऋणी और ऋणदाता सहायता और भिखारी के साथ–साथ जब यह आधुनिकीकरण बनाम विकास का रूप जो मिला है तो सारे देश में, एक प्रकार की हीन भावना विकस्ति हो गई है । इस हीन भावना और अपराजेय विवशता की स्थिति में देश का मनोबल, संकल्प शक्ति और उसका आत्मबल भी विघटित हुआ है ।''*[५]

सन् १९६२ में हुए चीनी आक्रमण और सन् १९६५ में हुए पाकिस्तानी आक्रमण ने भारत की आर्थिक व्यवस्था को नींव से गड़बड़ाने का काम किया । इससे विकासकीय योजनाओं में बहुत बड़ा विक्षेप पैदा हुआ । नेहरूजी जैसे प्रखर राजनीतिज्ञ के होते हुए भी उनसे सम्मिलित नेतावर्ग ने क्षुद्र मनोवृत्ति

का रंग दिखाना शुरू कर दिया । नेतावर्ग की विलासप्रियता, सुखाकरिता, घटिया प्रवृत्ति, भ्रष्टाचार और अमानुषिक अत्याचार को देखकर गरीब जनता हतप्रभ तो हुई ही साथ ही निःसहाय, लचार एवं विषदग्रस्त बनती गयी है । *''समस्त पुरातन मूल्यों और विश्वासों के प्रति शंका उठने लगी । प्राचीन विधि–विधान और आचार–विचार लड़खड़ाने लगे । सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ द्रुतगति से चूर–चूर होने लगी । भारत वर्ष पूर्णतया परिवर्तन की भँवर में पड़ गया ।''*[१०]

बेरोजगारी की समस्या से निपटने हेतु सरकार द्वारा जो कदम उठाये गए इनसे यथेष्ट परिणाम नहीं मिल सके । मध्यमवर्ग और निम्न–मध्यम वर्ग की स्थिति में खास सन्तोषजनक बदलाव नहीं आ पाया था । आर्थिक दशा में यदि सुधार होता भी था तो निरंकुश बढ़ती आबादी उसका भक्षण कर जाती थी । सन् १९७५ में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बीससूत्री कार्यक्रम की घोषणा की । इसका हेतु आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति को सुधारना था ।

संक्षेप में हमने विभिन्न योजनाओं, क्रान्तियों और आन्दोलनादि अभियानों से जैसे–तैसे आत्मनिर्भरता एवं सम्पन्नता तो प्राप्त की परन्तु बढ़ती मँहगाई, बेकारी और भ्रष्ट नैतिकता के फलस्वरूप हमारा आर्थिक विकास धुन्धला हो गया ।

❀ *अर्थ की प्रधानता :*

मानव के जीवन में अर्थ की प्रधानता चतुर्दिक देखा जाता है, क्योंकि अर्थ के बिना मानव–जीवन गति नहीं पा सकता । जीवन के किसी भी क्षेत्र में कुछ भी करने के लिए अर्थ अत्यावश्यक मूल्य बन गया है । यही नहीं जीवन जीने के लिए भी अर्थ की ही आवश्यकता है । प्रवर्तमान समय में अर्थ के बढ़ते आकर्षण ने वर्गीय व्यवस्था को जन्म दिया है । प्राचीन वर्ण–व्यवस्था का स्थान आज वर्ग–व्यवस्था ने ग्रहण कर लिया है । और तो और पर मानव किसी भी तरीके को अपनाकर अर्थ संचयन में जुटा हुआ है । इसके

लिए कोई भी उचितानुचित कार्य एवं किसी भी खतरे को मोल लेने को भी तैयार है । कार्ल मार्क्स ने इसी को मानव जीवन का विधायक तथा समस्त सामाजिक राजनीतिक सम्बन्धों का निर्धारक माना है । मानव यह सोचने के लिए विवश बना है कि अर्थ के बिना उसका कोई ठौर ठिकाना नहीं, अस्तित्व नहीं । वैसे तो अर्थ की महत्ता हर युग में रही है, लेकिन वर्तमान युग में तो यह मानव जीवन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू बन चुका है । अतः वर्तमान युग को आर्थिक युग की संज्ञा से विभूषित किया जाए तो कोई आपत्ति नहीं होगी ।

सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र भी अर्थ व्यवस्था के प्रभाव से अछूते नहीं रहे । आज के दौर में अर्थ का इतना महत्त्व है कि वह हमारे सामाजिक सम्बन्धों, यहाँ तक कि संवेगों को भी प्रभावित करता है – *''हमारे सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं, हमारी सूक्ष्म और कोमल भावनाएँ भी बदल गई हैं । चुपके से उन सबका आर्थिकीकरण हो गया है । प्रेम, दया, सहानुभूति, सम्मान, देशभक्ति और प्रार्थना तक में अर्थतन्त्र घुस गया है । धन तो बाद की चीज थी, पहले तन और मन दिया जाता था । लेकिन अब हम तन–मन की जगह धन देते हैं – प्रेम करेंगे तो उपहार देंगे, दया करेंगे तो पैसा फेंकेंगे, सहानुभूति जतानी होगी तो आर्थिक सहायता देंगे, सम्मान देनाअपाना होगा तो पैसा खर्च करेंगे, देशभक्ति दिखाने के लिए हथियार लेकर लड़ने नहीं जाएँगे, अपनी जगह अपना काम सही ढंग से नहीं करेंगे, रिश्वत या चोर बाजारी से कमाया हुआ रूपया डिफेंस में दे देंगे ।''*[६]

भारतवर्ष का समाज मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त है – पूंजीवादी वर्ग और श्रमिक वर्ग । पूंजीवादी वर्ग के पास आवश्यकता से अधिक पैसा, भोग विलास के प्रचुर साधन हैं, श्रमिक वर्ग, आर्थिक स्थिति से दयनीय स्थिति में है । वह अपनी जरूरी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर पाता । आज का सामान्य जन घोर आर्थिक विपन्नता में जी रहा है । भारतीय शासनाध्यक्षों का नारा समाजवादी होकर भी कर्म पूंजीवादी है । जगदीश नारायण श्रीवास्तव का मत है कि, *''हमारे समाज का अर्ध–सामन्ती संस्कार और अर्ध पूंजीवादी रवैया*

पूरी चालाकी में लगा हुआ है कि वर्तमान स्थितिशीलता के विरुद्ध जो भी प्रमाणिक आन्दोलन चले, भीतर ही भीतर उनके मूल मुद्दों में तरतीम करके कुछ ऐसी स्थिति पैदा की जाए कि वह व्यवस्था के लिए खतरनाक होने के बजाय उसके पोषक तत्त्वों में बदल जाए ।''[६]

स्पष्ट है कि आज का युग 'अर्थयुग' है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका महत्त्व है । यहाँ तक कि सम्बन्धों के नियामक के रूप में अर्थ की अपनी महत्ता है । अर्थ के इस महत्त्व के कारण सम्बन्धों से मानवीय तत्त्व गायब होने लगा है । इसके बावजूद अर्थाभाव की उपस्थिति में भी व्यक्ति द्वारा अपनी अस्मिता रक्षा के उदाहरण मिलते हैं । डॉ. शंकरशेष का 'मूर्तिकार' नाटक इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है ।

❀ *अर्थ, अभाव और अस्मिता :*

जीवन की बहुत कुछ समस्याएँ अर्थकेन्द्रित हैं साथ ही धन–संचय करना मानव की स्वाभाविक वृत्ति तथा कमजोरी भी है । मानव को जीवनयापन तथा उत्थान के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है । साधारणतया अर्थ की सम्पन्नता मानव को भोग–विलास तथा व्यसनादि की और उन्मुख कर सकती है तो नित्य अर्थाभाव चारित्रिक पतन की ओर । अर्थाभाव के कारण मानव को पग–पग पर घुटने टेकने पड़ते हैं । कितु डॉ. शंकरशेष के नाटकों के कुछेक ऐसे विरल पात्र हैं जो आर्थिक विपन्नता की सिथति में भी अविचल रहते हुए निजी अस्मिता, स्वाभिमान और उच्चादर्शों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । इसमें नारी चरित्र भी पीछे नहीं रहे हैं । नारी स्वाभिमान के एसे उदाहरण इस आपाधापी और हेरा–फेरी के अर्थप्रधानयुग में भले ही बहुत कम हैं, लेकिन जो हैं उनके स्वाभिमान को कितनी ही बड़ी आर्थिक चोट खण्डित नहीं कर सकी, भले ही नौकरी तक छीन लेने की नौबत क्यों न आ जाए ।

'रक्तबीज' नाटक की स्त्री (सुजाता) छोटी सी नौकरी करके स्वाभिमान युक्त जीवन जीना चाहती है । नाटक के प्रारम्भ में उसकी सोची अस्मिता को समझने में पाठकों को गलत फहमी होती है कि वह पति की तरह पदोन्नति

करने के लिए चारित्र्य–पतन की परवाह न करनेवाली शिथिल–चरित्रा नारी है । परन्तु ऐसा नहीं है । उसकी दृष्टि में नौकरी से पृथक् नारी का, पत्नी का अपना असितत्व होता है, अस्मिता और स्वाभिमान होता है जिसे सम्भालना वह अपना परम कर्तव्य समझती है । सुजाता के पति यानी मि. शर्मा (छोटा पुरुष) को पत्नी के चारित्र्य की अपेक्षा उसकी नौकरी की सबसे ज्यादा चिन्ता है । वह कहता है, *''तुम चीजों को गम्भीरता से क्यों नहीं लेती सुजाता ! उसकी नाराजगी का मतलब समझती हो ? पहले मुझे निकालेगा नौकरी से... इसके बाद तुम्हें ।''*[१०] सुजाता नौकरी छुट जाने से परेशान नहीं है । नौकरी के लिए वह चारित्र्य को दाँव पर लगाना घृणित कार्य मानती है । इसीलिए तो वह किंकर्तव्यामूढ हुए बिना पति को उत्तर दे देती है, *''तो निकाल ने दो ।''*[११] नौकरी के भय, प्रलोभन और लाचारी को ठुकराकर निजी अस्मिता का परिचय देती हुई वह पति के इस पतनोन्मुख विचार को झटक देती है ।

'एक और द्रोणाचार्य' के गौणपात्र विमलेन्दु की पत्नी धनाभाव में दुर्दिन गुजार रही है । पति की हत्या हो जाने के बाद वह सब तरह से अनाथ हो जाती है । उसे पति के अभाव के साथ–साथ धन का अभाव एकसाथ झेलना पड़ता है । वह अपनी छोटी बच्ची का पेट पालने के लिए सालमर दर–दर भटकने के बाद किसी तरह छोटी सी नौकरी पाती है । उसका नया बूढ़ा अफसर उस पर डोरे डालकर, प्रमोशन का लालच देकर बदले में उसका शरीर खरीदना चाहता है । लेकिन जब उसकी सहन शक्ति जवाब दे जाती है तो वह आर्थिक सम्बल रूप नौकरी और शहर छोड़कर दूसरी जगह चली जाती है । विमलेन्दु की छाया इस तथ्य पर आक्रोश व्यक्त करती है, *''शहर छोड़कर चली गई है उस बूढ़े अफसर से बचने के लिए । उसकी भूखी नजर से बचने के लिए । उसकी टपकती लार से बचने के लिए ।''*[१२] नौकरी के लिए वह पतिव्रता नारी आदर्शों से गिरती नहीं है ।

'घरौंदा' नाटक तो स्पष्टतः अर्थाभाव की विकराल समस्या को व्यंजित करनेवाला है । सुदीप तीनबार पाई–पाई लगाकर जमा की गई पूंजी हड़प हो जाने से आत्मविश्वास खो बैठता है । आत्मविश्वास के अभाव में वह 'शोर्टकट'

का रास्ता ग्रहण करने को उद्यत होता है । सुदीप की वाग्दत्ता छाया उसी के साथ टाइपिस्ट की जगह पर काम कर रही है । सुदीप का 'शोर्टकट' यह है कि छाया मोदी (बॉस) की माँग स्वीकार कर उनका स्वप्न साकारित करे । छाया इस तथ्य से भली भाँति से अवगत है कि उसे नौकरी मोदी की कृपादृष्टि से नसीब हुई है । इसके बावजूद वह अपने प्यार और प्रियतम के लिए नौकरी छोड़ने का एकबारगी निर्णय लेती है, *''मैं नौकरी छोड़ रही हूँ । आज का दिन इस दफतर में मेरा आखिरी दिन है ।''*[१३] उसके प्यार की अस्मिता उसे अर्थसंकट की चिन्ता न करने की शक्ति प्रदान करती है । वह अपने आदर्शों और स्वाभिमान की रक्षा के लिए असंगतियों से समझौता नहीं करना चाहती । उसे 'शोर्टकट' अपनाने के सुदीप के दुराग्रह पर आश्चर्य होता है, 'यानी तुम भी... ।''[१४] यह हकीकत है कि छाया अर्थाभाव की विकट समस्या से जूझ रही होने के बावजूद आदर्शों को प्रमुख मानती है । उसे 'शोर्टकट' वाला रास्ता कतई पसन्द नहीं । उसे वह पाप समझती है ।

अर्थ शक्ति को नकारने पर पूँजीपति बौखला उठता है क्योंकि उसकी दृष्टि में तो पैसा ही सर्वस्व है और इस बौखलाहट में वह अर्थ–शक्ति का अधिक दुरुपयोग करने लगता है । इस पर व्यक्ति सजगता अपने उग्रतम रूप में प्रस्तुत होती है । 'मूर्तिकार' नाटक की ललिता की आर्थिक विडम्बना से सुपरिचित मुनीम अपने मालिक के लिए ललिता के देह की याचना करने आता है । आम नारी का अपनी दुरवस्था के समय फिसल जाना बिल्कुल सम्भव है । परन्तु ललिता मुनीम के मनोविज्ञान की सम्भावना के विपरीत आचरण कर उसके गाल पर चाँटा जमा देती है, *''तो यह ले, नरक के कीड़े ! जा अपने मालिक से कह दे कि ललिता ने मेरे गाल पर ये निशान भेजे हैं... नीच ! तू मुझे पैसे से खरीदना चाहता है । तू हमारी गरीबी का फायदा उठाना चाहता है... तो जा अपने मालिक से कह दे,.... कि दुनियाभर का पूरा सोना इकठ्ठा करके भी ललिता के नख को नहींछुआ जा सकता ।''*[१५]

ललिता का कलाकार पति शेखर रुपयों से ज्यादा कलादर्श से प्रभावित है । उसमें सच्चे कलाकार की आत्मा विद्यमान है । जिस प्रकार अरसिकजनों

के मध्य कवित्व निवेदन से विद्वत्ता अपमानित होती हैं उसी प्रकार कला को पैसों से तौलनेवाले लोगों के जरिए कला का अपमान होता है । और कला का सच्चा उपासक कला का अपमान जिरह नहीं सकता । हर चीज को व्यापारी की नजर से देखनेवाले करोड़ीमल के सामने शेखर की कला–चेतना उबल पड़ती है, *''आप तीन सौ तो क्या हजार भी देंगे तो मैं अपनी मूर्ति आपके हाथ नहीं बेच सकता । क्या मुझे आप अपनी तरह व्यापारी समझते हैं ? परवा नहीं, मैं भूखे मर जाऊँ, पर अपने चित्र और मूर्ति अरसिकों के हाथ नहीं बेचूंगा । अब आप जाइए और अपने घी का धन्धा सम्हालिए । यह कला आपके बस का रोग नहीं है ।''*[१६]

इस अर्थप्रधान युग में जहाँ एक ओर व्यक्ति धन को ही सर्वस्व मानता हुआ शोषण को बढ़ावा दे रहा है, पारिवारिक रिश्तों की आत्मीयता को समाप्त कर अर्थ के पीछे बेतहाशा दौड़ रहा है वहीं दूसरी ओर एसा भी व्यक्ति है जो अर्थाभाव में भी आदर्श और स्वाभिमान की रक्षार्थ जूझ रहा है, क्योंकि अर्थ के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण समान नहीं है । व्यक्ति की यह सोच कितनी एकांगी है कि वह पैसे से हर वस्तु खरीद सकता है । कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति किसी भी कीमत पर अपने स्वाभिमान का सौदा नहीं कर सकता । शेखर के परिवार का हितचिन्तक और आदर्श मित्र अनादि भी उसी के जैसा स्वत्वशील और सत्वशील है । उसे किसी का भय नहीं, वह भूखा मर सकता है मगर धन के लिए अपने 'स्व' को बेचना उसे स्वीकार नहीं, *''मुझे आपके यहाँ की दमड़ी नहीं चाहिए । मैं भरपेट सुअरों की अपेक्षा भूखे इन्सानों को अधिक महत्त्वदेता हूँ । आपने यह कैसे सोच लिया कि मैं आपके यहाँ नौकरी कर लूँगा । आप इस गलतफहमी में क्यों हैं कि आप अनादि को केवल तीन सौ रुपये महीने में खरीद सकते हैं ।''*[१७]

किसी अमीर व्यक्ति को 'भरपेट सुअर' की उपमा से विभूषित करना उसकी अर्थ–शक्ति को नकारना व्यक्ति सजगता का ही परिचायक है ।

'एक और द्रोणाचार्य' का नायक अरविन्द स्वाभिमानी एवं उच्चादर्शों का कायल व्यक्ति है । वह दरिद्रता की भट्टी में तपकर ही प्रिंसिपल पद का

अधिकारी बना है । उससे अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार और झूठ बर्दाश्त नहीं होतें । कानून के मुताबिक वह अपना कर्तव्य करता है किन्तु राजनीतिक–कमीना कॉलेज का प्रेसिडेंट उसकी ऊर्जस्वित चेतना का क्रूर दमन करके उसे निस्सहाय बना देता है । अनुराधा से बलात्कार किए राजकुमार को माफ कर देने के लिए प्रेसिडेंट अरविन्द पर दबाव डालता है । वह उसे प्रसंगानुकूल बिनती, प्रलोभन, नौकरी का भय, आतंक और अपने निग्रह से विचलित कर देना चाहता है । यहाँ तक कि उसका मित्र यदू और पत्नी लीला घर की आर्थिक तंग स्थिति का वर्णन करके उसके स्वाभिमान और आदर्शप्रियता को तोड़ने का काम करते हैं । उसके सामने वास्तविकता का भयानक चित्रण करके उसे डराते हैं । दुविधाग्रस्त अरविन्द के मन में पड़ी आदर्शवादिता चरमरा उठती है, *''अब किस–किस से डरुँ, लीला ? कॉलेज को दूकान की तरह चलानेवाले उस प्रेसिडेंट से ? (विराम) अंगूठा–छाप कमेटी मेम्बरों से ? चुगली खानेवाले अपने सहयोगियों से ? (विराम) उस लिजलिजे बेहूदे प्रिंसिपल से ? विद्यार्थियों से ? क्या पूरी उम्र डरते ही रहना होगा ?''*[१८] अरविन्द का प्रस्तुत क्रन्दन चारों ओर के कटु व्यवहारों से उसकी अस्मिता पर हुए आघात से उद्‌भूत है ।

मजदूरों को नौकरी देकर उनका अमानवीय शोषण करनेवाला पूंजीपति और मजदूरों के बीच का संघर्ष सामान्य हो चुका है । जमींदार सख्ती करता है, अत्याचार करता है, घर जलाता है, व्यभिचार करता है और विद्रोहियों को हंटरों से पिटवाता है । वह अपने आपको एक तरह का शासक ही समझता है । 'पोस्टर' का पटेल ऐसा ही एक जमींदार है । वह मजदूरों के आर्थिक कष्टों से माहितगार होते हुए भी उनकी माँगों को ठुकराकर उन्हें सब तरह से चूप रहने की धमकी देता है । उसके गोदाम में काम करनेवाले कल्लू और चैती दोनों पति–पत्नी पटेल के शोषण के खिलाफ जंग छेड़ते हैं । पटेल पहले तो उनके विद्रोह को धमकियाँ देकर दबाने की चेष्टा करता है परन्तु उसमें दाल गलती न देखकर कल्लू को मुकादम और चैती को उसकी हवेली में डयूटी पर रखने का प्रलोभन देता है । कल्लू, पटेल के इन प्रलोभनों को ठुकरा देता

है । वह अकेला रोजी–रोटी की चिन्ता विसार कर पटेल के विरुद्ध जंग का ऐलान कर देता है । आर्थिक शोषण के खिलाफ उसकी विद्रोह चेतना के दर्शन हमें उक्त संवाद से होते हैं –

''कल्लू : नहीं जाने दूँगा चैती को ।
कीर्तनकार : मुकादम नहीं बनना है क्या ?
कल्लू : ऐसी मुकादमी की ऐसी–तैसी !
कीर्तनकार : तो तेरी रोजी भी जाएगी ।
कल्लू : यह बन्द होना चाहिए, गुरुजी ।
कीर्तनकार : तेरे अकेले किए क्या होगा ।
कल्लू : मैं गाँववालों को तैयार करूँगा ।
कीर्तनकार : इस बार वे तेरा साथ नहीं देंगे ।''[१६]

रोजी–रोटी की समस्या मजदूरों की अहम् समस्या होती है, और पटेल रोजी–रोटी छीन लेने का दबाव कल्लू पर डालता है । लेकिन कल्लू की ऊर्जस्वित चेतना के सामने वह कारगत नहीं होता ।

गैरकानूनी ढंग से अर्थार्जन करनेवाले स्मगलर आर्थिक विभीषिका से सन्त्रस्त गरीब व्यक्ति की लाचारी का भरपूर फायदा उठाते हुए उसे गैर कानूनी काम में लगाते हैं और उसकी जिन्दगी चौपट बना देते हैं । परन्तु कोई व्यक्ति ऐसा भी होता है जो घोर विपन्नावस्था से निरन्तर संघर्ष करता हुआ भी ईमान की रोटी में विश्वास करता है । 'फन्दी' नाटक का फन्दी आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त कंगाल ट्रक ड्राइवर है । उसके कन्धे पर कैंसरग्रस्त बाप, पत्नी, पुत्र सब का उत्तरदायित्व है, जिसे बड़े कष्ट से वह ढो रहा है । वह जिस नेशनल ट्रांसपोर्ट कम्पनी में ट्रक ड्राईवरी कर रहा है, उसका मालिक उसे अफीम–गाँजे से भरा ट्रक मुम्बई पहुँचाने को कहता है । फन्दी को अपनी नेकी और प्रमाणिकता पर बड़ा गर्व था । वह अपनी दयनीय हालत के सामने जलील हुए बगैर मालिक को इस बदकाम करने से साफ इनकार कर देता है । परिणाम स्वरूप उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है । फन्दी का वकील इस तथ्य को आलोकित करता है, *''फन्दी वल्द भगतराम नेशनल ट्रांसपोर्ट*

कम्पनी में पिछले पाँच साल से नौकर था । पर एकदिन उससे गाँजे की स्मगलिंग करने के लिए कहा गया तब उसने, योर ऑनर, साफ मना कर दिया और उसे नौकरी से निकाल दिया गया ।''[२०] फन्दी का चरित्र इस दृष्टिबिन्दु से विरल ही है, जो आत्मिक–समृद्धि से सम्पन्न है और कष्टदशा के सामने घुटन नहीं टेकता ।

❀ बेकारी की समस्या :

बेरोजगारी की समस्या आजकल– विकराल रूप धारण करती जा रही है । उत्तरोतर बढ़ती हुई आबादी के कारण माँग के अनुरूप स्कूल, कॉलेज खुलने सी शिक्षित बेरोजगारों की मात्रा बढ़ती है । शिक्षित बेकारों की फौज हमारे देश के लिए घातक हो सकती है । आधुनिक शिक्षित युवक युवतियाँ अपनी इच्छानुसार रोजगार चाहते हैं । ऐसा न होने पर वे अपने को बेरोजगार समझने लगते हैं । काम करने योग्य स्वस्थ व्यक्ति बेरोजगार रहने पर अपने आप में जीवन्तहीनता अनुभव करने लगता है । *''बेकारी या अर्द्धबेकारी निम्नमध्यवर्गीय समाज को लंगडा बना रही है । इससे आर्थिक स्थिति बिगड़ती ही जाती है । बेकारी से ही यह वर्ग अधिक अशान्त है । इसीके कारण उसके जीवन में अस्थिरता तथा असन्तोष उत्पन्न होते हैं ।''*[२१] इस स्थिति में बेकार युवकों के निष्क्रिय, आत्मविश्वास शून्य तथा गुमराह होने की सम्भावना होती है । जब उन्हें कोई सक्रिय बनाना चाहता है तब वे उसके विरुद्ध विद्रोह का स्वर फूँकने में भी आगे–पीछे नहीं देखते । 'नयी सभ्यताः नये नमूने' नाटक आज की सामाजिक व्यवस्था में त्रिशंकु से बीच में लटके–भटके युवकों के आक्रोश को मुखरित करता है । इन नाटक का बेकार युवक कृष्ण अपनी योग्यता के बल पर नौकरी पाना चाहता है पर उसे कोई नौकरी नहीं देता । क्योंकि वह किसी सेठ साहुकार या आला अफसर का भाँजा–भतीजा नहीं है । तनावग्रस्तस्थिति में नैतिकता और थोथे आदर्श की दुहाई देनेवालों पर वह बरस पड़ता है *''मेरी माँ ने कष्ट सहनकर मुझे पढ़ाया । मैंने ग्रेजूएट किया वो भी फर्स्ट क्लास में क्या फायदा हुआ ? किसी*

ने नौकरी न दी । मैं दर–दर घूमता रहा । हाथ–पैर जोड़े पर मैं किसी सेठ–साहूकार, आला अफसर का भाँजा–भतीया नहीं था । यही मेरा दोष था । मुझे नौकरी नहीं मिली ।''[२२] ऐसे हालात में वह अलग–अलग रूप बनाकर और प्रेम का नाटक कर धनिकों की सन्तानों को मूर्ख बनाता है और रुपये ऐंठता है, क्योंकि इस निर्दय दुनिया के रंग–ढंग ने ही उसे ऐसा करने के लिए विवश बनाया है, *''जब आप पूछ रही हैं तो सुन लीजिए । और कान खोलकर सुन लीजिए । न तो मैं कभी महाकवि रहा हूँ और न सम्पादक । न ही मैंने कभी गीता का पाठ किया है । मैं एक सीधे–सादे आदमी की तरह जीवन बिताना चाहता था, पर तुम्हारी इस दुनिया ने मुझे यह रूप अख्तियार करने पर विवश कर दिया ।''*[२३]

स्थायीपदवाली नौकरी सुख और सुरक्षा प्रदान करती है, अस्थायी पदवाली नौकरी बेकार युवकों के मन में चिन्ता बढ़ाती है । यह तो मौसम के वस्त्रों की भाँति होती है । कभी–कभी कामचलाऊ व्यक्तियों को लेकर कोई दफतर खुलता है और प्रयोजन सिद्ध कर बन्द भी हो जाता है । ऐसे वक्त अस्थायी पद पर काम करनेवालों की स्थिति हास्यास्पद ही नहीं दयनीय बन जाती है । वे बेकार हो पुनः एकबार रास्ते पर पटक दिए जाते हैं । 'मूर्तिकार' नाटक के माध्यम से डॉ. शेषजी ने अनादि जैसे अस्थायी पद पर काम करनेवाले बेकार युवक की व्यथा को वाचा दी है । अनादि एक अस्थायी अखबार का अस्थायी सम्पादक है । अचानक अखबार बन्द हो जाने से उसे नौकरी से 'स्थायी छुट्टी' मिल जाती है । वह दर्दभरा हास्य झलकाते हुए 'स्थायी छुट्टी' का मर्म समझाता है *''(हँसकर) भाभी, इसमें समझने लायक है भी कुछ नहीं । मैं एक अस्थायी अखबार का अस्थायी सह सम्पादक था । चुनाव के साथ जिस प्रकार हर छोटे–बड़े नेता की गला फाड़ने की ताकत बढ़ जाती है उसी प्रकार अपना राग अलापने के लिए चुनाव लड़नेवाले अपना अखबार निकाल लेते हैं । चुनाव खत्म और अखबार बन्द । प्रेस बेच दिया जाता है । सह–सम्पादक को सड़क की राह दिखा दी जाती है ।''*[२४]

युग परिवर्तन के साथ–साथ स्त्रियों का कार्यक्षेत्र परिवर्तित होता गया है । आजकल युवती भी पढ़–लिखकर बेकार युवकों की तरह नौकरी की तलाश में नगर–नगर भटकती रहती है । नौकरी प्राप्त करके अर्थोपार्जन करना उसका लक्ष्य है । परन्तु नौकरी इतनी आसानी से मिलती है कहाँ ? और फिर घर से बाहर निकलने पर उसे नौकरी के अलावा भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है । जैसे 'तिल का ताड़' नाटक की मंजू नौकरी की तलाश में दर–दर भटकती है । उसे अकेली पाकर गुण्डे उसकी छेड़ती करते हैं तब उसके सामने भार संकट उपस्थित हो जाता है – *''मैं नौकरी की तलाश में भटकती रही । आपके नगर में भी उसी सिलसिले में आई थी, पर गुण्डों के हाथों पड़ गई । प्राणनाथ ने बचा लिय, नहीं तो.... ।''*[२५]

स्वतन्त्र व्यवसाय करनेवाले की दशा कभी–कभी बेकार के जैसी हो जाती है । ऐसी विषम परिस्थिति में अर्थ की मार से उसके सारे नैतिक ख्याल चूर–चूर हो जाते हैं । उसमें मानवता निःशेष हो जाती है और वह क्रूर से क्रूरतम कार्य करने के लिए प्रेरित होता है । 'रत्नगर्भा' का जगदीश एक बेकार वकील है । बेकार इस अर्थ में कि उसकी वकीली ठीक से चलती नहीं । उसका 'नंगा सत्य' क्रूरता लिए हुए रहता है और इसी 'नंगे सत्य' के जरिए वह डॉ. सुनील की वैवाहिक जिन्दगी में जहर घोलता है । वह डॉ. सुनील को सलाह देता है, *''भाई, तुम तो मेरा स्वभाव जानते ही हो । मैं तो कहने भर का वकील हूँ, पर किसी की वकीली ठीक से कर न सका । मैं जो प्रत्यक्ष है, नंगे सत्य के रूप में सामने है, उसी की बात करता हूँ, और तुम्हारे विषय में भी यही कह सकता हूँ कि तुम्हारे सामने की वस्तुस्थिति भयानक है ।''*[२६]

इस प्रकार स्पष्ट है कि बेरोजगारी की समस्या आम आदमी को परेशान कर रही है । शहरी परिवेश में साँस लेता मध्यमवर्ग पढ़–लिखकर भी स्वावलम्बी न बन सकने के कुण्ठाजन्य अवसाद से भी भरा हुआ है । नौकरी या रोजी मिली पाने से युवापीढ़ी का तनाव बढ़ा है । इस तनाव को, उसकी

तत्जन्य परेशानियों एवं मनोभावों को डॉ. शेषजी ने स्पष्ट स्वरों में मुखरित किया है ।

❀ *अर्थोपार्जन हेतु साधनशुचिता का त्याग :*

देश में पूँजीवाद के आविर्भाव के साथ–साथ रुपये–पैसे की चकाचौंध इतनी तीव्र हुई कि मनुष्य उसके कारण मानव–सुलभ सद्‌गुणों, सत्य, न्याय, शान्ति, प्रेम, सहयोग आदि से वंचित ही हो गया । आज उसका सर्वोपरि लक्ष्य धनार्जन बन गया है । चाहे उसे इसके लिए अनैतिक उपाय क्यों न अपनाना पड़े । आज व्यक्ति चाहता है कि उसके पास ,पैसा आना चाहिए, उसकी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए । पैसा आने का माध्यम क्या है इससे उसे कोई सरोकार नहीं । पुराना आदर्श था कि अर्थोपार्जन किस मार्ग पर अवलंबित है ? अर्थात् यह देखा जाता था कि धन मेहनत से, प्रामाणिकता से और धर्ममान्य सभी प्रकार की नैतिकता से कमाया गया धन समाज में आदरपात्र नहीं बनता था । परन्तु आज कल नैतिक मूल्यों के ध्वस्त हो जाने के कारण अर्थोपार्जन हेतु साधनशुचितावाला आदर्श खोखला हो गया है । व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा धन पा लेने को उत्सुक बना है ।

धन प्राप्ति के लिए आज आदमी छल–कपट, धोखाघड़ी और प्रवंचना को माध्यम बनाना चाहता है । इस अनैतिक मार्गों को अपनाने में वह रंचमात्र भी लज्जा का अनुभव नहीं करता । आदमी इसी ताक में है कि जल्दी से जल्दी अमीर बन जाए । डॉ. शंकरशेष के नाटकों में हमें ऐसे सैकडों उदाहरण मिलते हैं जिनमें अर्थोपार्जन हेतु पवित्रतता का त्याग करने की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं ।

'चेहरे' नाटक के बम्बइया–युवक विनोद को कमली से ज्यादा उसके गहने में दिलचस्पी है । इसीलिए वह कमली को हीरोइन बनाने का ख्वाब दिखाकर गहनों के साथ उसे भगा ले जा रहा है । धोखे से गहने मार लेने की उसकी बदनीयत को स्पष्ट करते हुए रमाकान्त कहता है –

''लड़कियों को फँसाना, उनके गहने छीनना और उन्हें बम्बई जाकर बेचना इसका धन्धा है ।''[२७]

चोरी करते हुए पकड़ा जाए वह तो चोर ही है लेकिन जो गबन करके या घर के किसी सदस्य से कपट आचरण करके भी मूँछ पर ताव देते घूमते हैं वे भी तो चोर ही हैं । फर्क इतना कि उनकी चोरी प्रच्छन्न होती है । गें दासिंह, सुखलाल और परमानन्द की ओर इशारा करते हुए उनकी घटिया पवृत्ति का कच्चा-चिठ्ठा खोलता है, ''*नाम जानना चाहते हैं तो ये, जो पंच बनकर बैठे हैं उनसे पूछिए । अगर पंचायत के पैसों का गबन करनेवाला पंच बन सकता है, अगर गरीब विधवा को दगा देकर उसके खेत अपने नाम लिखानेवाला पंच बन सकता है तो कोई बात नहीं । अगर मैं चोर हूँ तो ये भी हैं.... ।*''[२८]

आज व्यक्ति पैंसों के लिए कैसी-कैसी चाल चलता है, इसका निदर्शन 'आधी रात के बाद' नाटक में डॉ. शेषजी ने विभिन्न किस्सों के माध्यम से किया है ।

समाजसेवी, दानवीर, धर्मात्मा यह तो मुखौटा है । उनका वास्तविक रूप तो कुछ और ही है । समाजसेवा को भी भ्रष्ट लोगों ने एक धन्धा बना रखा है । समाजसेवा की आड़ में वे अपनी तिजोरी भरते रहते हैं । 'आधीरत के बाद' का चोर (राजकुमार) तिजोरी ही नहीं खोलता है बल्कि तथाकथित समाजसेवी की सेवा का भेद-भरम भी खोलता है – ''*आप विश्वास नहीं करेंगे । नोटों से, सोने के बिस्कुटों से सेफ भरा पड़ा था । ओर घर किसका था ? एक समाज सेवक का । उस समय लगा... जनता की सेवा करने से अच्छा तो दूसरा पाक धन्धा है ही नहीं ।*''[२९]

काला धन अपने पास रखना कानूनी तौर पर गुनाह है लेकिन आज हर धनिक वर्ग की पिटारियाँ काले धन से भरी पड़ी हैं । चोर को माल सहित पकड़ लेने के बावजूद उस फिल्म प्रोडयूसर को जवाब देते नहीं बनता । क्योंकि टैक्स चोरी भी एक प्रकार की चोरी ही है, ''*मुझे एक मिनट में समझ में आ गया सर, कि एक चोर नहीं दो चोर बात कर रहे थे । सो मेरा ताव*

खाना स्वाभाविक था । मैंने कहा, "हिम्मत है तो फोन करो । मैं माल सहित एरेस्ट होना चाहता हूँ । करो फोन । पुलिस आएगी तो बीस लाख की चोरी की रिपोर्ट लिखेगी । दूसरे दिन अखबार में आ जाएगा... फिर आएँगे इनकम टैक्सवाले । पूछेंगे, इतना रुपया कहाँ से आया ? बोलो क्या जवाब दोगे । बीसलाख ब्लैक मनी ! अरे १२ लाख तो टैक्स में निकल जाएँगे । परेशानी होगी सो अलग । पिक्चरें रुक जाएँगी सो अलग । फिर क्या जवाब दोगे ।"[३०]

अर्थलिप्सा मनुष्य को इतना क्रूर–कर्मा अर्थपिशाच बना देती है कि वह लोगों की जिन्दगी से खेलना भी परहेज नहीं समझता । ऐसे व्यक्ति को केवल धन से मतलब होता है । कोई उसकी कम्पनी की नकली दवा पीकर मरता है या जिन्दा रहता है उससे नहीं । चोर (राजकुमार) जज साहब को कैपसूलों में बेसन जैसी कोई चीज भरकर बेचनेवाले दवाई कम्पनी के घपले को बेपर्दा करते हुए आश्चर्य व्यक्त करता है – *"ये दवाई कम्पनी के मालिक लोग तो साहब सब पढ़े–लिखे हैं..... बहुत पैसे वाले हैं । हम सरीखे चोर नहीं है... लेकिन बेईमानी क्यों करते हैं ? क्यों पैसों के लिए जान लेने पर उतारू हैं ? मैं मानता हूँ, मैंने चोरी गरीबी के कारण शुरू की । गरीबी भी मेरी बनाई हुई नहीं है, गरीब अपनी पसन्द से गरीब नहीं होता है, मगर इनके पास तो पैसा है । ये आलीशान बँगलों में रहते हैं । स्काच पीते हैं । रेस खेलते हैं । और मत पूछिए, जाने क्या–क्या करते हैं । भला ये लोग पैसों के लिए दूसरों की जान लेने पर क्यों उतारू रहते हैं ? यह तो साहब, मर्डर है मर्डर ।"*[३१]

अनैतिक मार्ग से येन–केन प्रकारेण रुपये बटोरनेवाले माफिया लोग कानून की आँखों में धूल झोंककर सिनेमा का टिकट ब्लैक करवाते हैं, सट्टा का बाजार चलाते हैं । और उनका यह धन्धा पुलिस की रहम नजरों के तले बेरोकटोक चलता रहता है । ऐय्याशी की जिन्दगी जीनेवाले माफिया सेठ अपने गोरख धन्धे को चलाने के लिए सरकार की तरह बेकार नौजवानों को नौकर रखते हैं, *"हाँ साहब... वो सट्टेवाला सेठ । मलबार हिल पे रहता है । एयर*

कण्डीशण्ड बंगले में । दादा लोग उसके नौकर और हम लोग दादा के नौकर । नौकरी साहब, सिर्फ सरकार में ही थोड़ी न... ।''[३२]

व्यापारी वर्ग अधिक लाभ कमाने के लिए खाद्य पदार्थों में मिलावट करता है । गरीब जनता का रक्त चूसकर वे बड़ी–बड़ी ऊंची कोठियाँ रचते हैं। इस प्रकार के अन्याय से अर्जितधन को धोखे से छीन लेने में आधुनिक–कृष्ण कोई आपत्ति नहीं देखता है – *''गगन ! बेवकूफों को लूटने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है । आखिर तुम्हारे पिता ने धरणी और स्मृति के पिता ने... लोगों को लूटकर ही तो लाखों की सम्पत्ति इकट्ठा की है । भूलवू के पिता असली घी के नाम पर नकली घी बेचते हैं । घरणी के पिता ने कंकड़ और रेत मिलाकर गल्ले का व्यापार किया ।''*[३३]

नेता वर्ग की पहुँच आज सत्ता से लेकर शिक्षा संस्थानों तक हो चुकी है, जो बड़ी चिन्ता का विषय है । उसके लिए तो यह भी राजनीति का एक हिस्सा है । नेता का एक ही मकसद होता है सत्ता या शिक्षा संस्थानों के माध्यम से धन अर्जित करना । 'एक और द्रोणाचार्य' का प्रेसिडेंट ऐसा ही सत्ताधारी नेता है, जो कॉलेज का भी प्रेसिडेंट है । उसमें अर्थार्जन के लिए मार्गशुचिता का अभाव है । वह कॉलेज के प्रिंसिपल को किसी प्रकार उल्टा–सीधा पाठ पढ़ाकर शिक्षण संस्थाओं के रुपयों को लेन–देन के व्यवसाय में लगाता है । उसका यह रुपए कमाने का गैर तरीका निर्विध्न चलता रहा है, *''उस कमीने आदमी ने दुकानों की तरह बीस शिक्षण संस्थाएँ खोल रखी हैं । साथ ही लेन–देन का व्यापार करता है । शिक्षण संस्थाओं के लाखों रुपए ग्रांट का उपयोग वह शिक्षणशास्त्री अपने लेन–देन के व्यवसाय में करता है । इस पूंजी से हजारों रुपए कमाकर कॉलेज को लौटा देता है । यह धन्धा जाने कितने वर्षों से चलता रहा है । कभी कुछ नहीं हुआ ।''*[३४]

मनुष्य अर्थ को सर्व शक्तिमान मानता हुअ, साधनों की पवित्रता का त्याग करता हुआ अर्थ की दौड़ में सम्मिलित हो जाता है । गलत–सही, पाप–पुण्य का उसे कोई ध्यान नहीं रहता । यहाँ तक कि निर्मल लोग आत्मीय सम्बन्ध को भी कुचलकर रख देते हैं । 'रत्नगर्भा' के डॉ. सुनील को वकील

जगदीश साधन के बदले साध्य पर ध्यान केन्द्रित करने की सलाह देता है – *''मैं हमेशा लाभ की बात करता हूँ । सुनील, मैं सदैव साध्य को महत्त्व देता रहा हूँ । चाहे साधन कोई भी अपनाना पड़े ! मैंने जीवन के खेल में कभी पराजित होना नहीं सीखा है । सुनील, मेरा कहना मानोगे तो तुम्हें मुक्ति का खुला पथ तो प्राप्त होगा ही । धन के पाँवडे भी तुम्हारी प्रतीक्षा में बिछे होंगे ।''*[३५]

अमीर बनने के लिए, पैसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति उचित–अनुचित का विवेक त्याग देता है । इनकी प्राप्ति के लिए वह अपनी सर्वाधिक प्रिय–वस्तु का त्याग भी कर सकता है । यहाँ तक कि प्रेमिका का भी । 'घरौंदा' नाटक का नायक अपनी प्रेमिका को अपने बॉस से विवाह करने की सलाह इसी कारण देता है ताकि वह अपने बॉस का पैसा हथिया ले और बाद में वे दोनों सुख से जीवन जिएँ । सुदीप अपनी प्रेमिका छाया को अपने कार्यालय के बॉस मोदीजी से शादी करने की सलाह देते हुए कहता है – *''पाप केवल एक धारणा है, छाया । उसकी कभी कोई स्थायी व्याख्या नहीं है । सामर्थ्य और प्रसंग ही उसके होने न होने का फैसला करते हैं । तुम्हारे पापी होने न होने की बात का सम्बन्ध केवल मुझसे है । अगर मैं तुम्हें पापी नहीं समझता तो तुम फिर किसी दूसरे के प्रति जवाबदेह नहीं हो शायद । हम थोड़ा अलग होकर ही एक–दूसरे को पा सकते हैं । बस, यही एक रास्ता है । मोदी से हा कह दो, मैं कह रहा हूं... जाओ, हाँ कह दो । जाओ, हाँ कह दो ।''*[३६]

कभी–कभी निर्धनता का अभिशाप ढो रहे व्यक्ति घोर आर्थिक अभाव से उत्पीडित हो अर्थ प्राप्ति के लिए अधःपतित मार्ग का शरण लेना पड़ता है । 'मूर्तिकार' नाटक का अनादि आर्थिक संघर्षों से जब पराजित हो जाता है तो अपनी प्रतिभा का उपयोग अश्लील साहित्य रचने में करता है । हालांकि वह अश्लील साहित्य जैसा सतही और घटिया साहित्य की प्रसिद्धि पर राजी नहीं है । यह तो आर्थिक विवशता ने उसे अधःपतित होने के लिए बाध्य किया है, *''शेखर अब तुमसे क्या कहूँ । मैं अपने साहित्यिक आदर्शों से बहुत नीचे गिर*

गया हूँ । मैंने अपने आपको पूरी तरह बेच दिया है... मेरा पतन हुआ है, घोर पतन हुआ है । तुमने शन्तनुकुमार का नाम सुना है ?''[३७] ''हाँ.. शन्तनुकुमार में मुझे रुचि लेनी ही होगी... उसने मुझे धन दिया है.... उसने गरीबी से मुझे मुक्ति दी है । मैं शन्तनुकुमार के ऋण से कभी छुटकारा नहीं पा सकता ।''[३८]

प्रसिद्धि कभी अकेली नहीं मिलती, समृद्धि उसके साथ अवश्य होती है । कोई व्यक्ति प्रसिद्धि के व्यामोह में फँसकर अपने नजदीकी रिश्तेदार से विश्वासघात करता है तो इसमें कोई बड़ा आश्चर्य नहीं है । प्रसिद्धि का चश्का एकबार लग जाता है तो बेईमानी उससे अछूती नहीं रहती । 'बिन बाती के दीप' नाटक के शिवराज को अपने बलबूते पर कभी प्रसिद्धि नहीं मिल सकती तो वह अपनी अन्ध पत्नी विशाखा के उपन्यासों को अपने नाम से छपवाकर नाम और दाम दोनों एक साथ प्राप्त करता है, *''तुम तो जानती ही हो मंजू, आदमी जब एक क्षण मोह में फँस जाता है तो फँसता ही चला जाता है । मैं कवि था । तुम जानती हो, मैं कवि के रूप में कभी अखिल भारतीय प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता था । मुझे साहित्यिक यश की भूख थी । विशाखा का पहला उपन्यास अन्धी होने के समय लग-भग पूरा हो चुका था । मेरी इस यश की भूख ने मुझे बेईमान बना दिया । मुझे क्या पता था कि पहले ही उपन्यास का इतना स्वागत होगा । उसकी हजारों प्रतियाँ बिकीं । एक साल में उसके चार संस्करण निकले । पैसा बरस गया, हर कहीं उसकी चर्चा हुई, और मैं रातोरात हिन्दी का श्रेष्ठ लेखक बन गया । फिर इसके बाद लौटने का प्रश्न ही नहीं था । अन्धी विशाखा मेरे लिए सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी बन गई और इसके बाद जो कुछ हुआ, तुम जानती हो ।''*[३९]

इससे सिद्ध होता हे कि आज व्यक्ति निरन्तर अबाधगति से धन की बढ़ोत्तरी करना चाहता है । अर्थ प्राप्ति हेतु मान-सम्मान, धर्म, ईमान, पवित्रता, नैतिकता सब भूलता जा रहा है, जो उज्जवल भविष्य का संकेत नहीं देता ।

❀ *घर की समस्या :*

महानगरों के विकास में औद्योगीकरण, पश्चिमी विचारों का प्रभाव, आर्थिक दबाव और व्यक्ति हित की धारणा आदि ने बहुत बड़ा योग दिया है । आधुनिक चेतना के विकसित होने के परिणाम स्वरूप भारत जैसे कृषि प्रधान देश में तेजी से औद्योगीकरण हुआ । जिसके फलस्वरूप रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई । नये–नये व्यवसाय अस्तित्व धारण करने लगे । अर्थ का महत्त्व बढ़ता गया । गाँवों में से करोडों लोगों को आजीविकोपार्जन के लिए नगरों की ओर आने के लिए विवश होना पड़ा । स्वतन्त्रता के बाद दिल्ली, कलकता, मुम्बई जैसे विराट औद्योगिक महानगरों में जनसंख्या की बेहिसाब बढ़ोत्तरी हुई है । गाँव, नगर और कस्बों से भावि सुखद जिन्दगी के स्वप्न संजोकर आनेवाले नवयुवकों का यहाँ आकर बुरी तरह से स्वप्नभंग हुआ । उनकी जिन्दगी साँप छछून्दरवाली हो गई ।

रोटी, कपड़ा और मकान तो आदमी के जीवन की प्राथमिक आवश्कता है । महानगरों में सामान्य मनुष्य के लिए छोटी–छोटी खोलियों में सिर छिपाने की जगह भी बड़ी मुश्किल से मिलती है । दो वक्त की रोटी तो किसी प्रकार कांक्रिट के जंगल में मुनासिब हो जाती है पर सोने के लिए घर कहाँ से लाए ? अर्थदंशित व्यक्ति के लिए तो रात काटने का ठिकाना सड़क या फुटपाथ ही है । 'आधीरात के बात' का चोर (राजकुमार) अपने अतीत को जज के सामने दोहराते हुए कहता है कि रात सोने के लिए – *''दादा ने हमारी फुटपाथ की जगह भी तय करा दी थी । इसलिए कोई दिक्कत नहीं थी ।''*[४०]

सर्वहारावर्ग की करुणान्तिका यह है कि उसके नसीब टूटा–फूटा खण्डहर नुमा घर भी नहीं । अक्सर उसे बिना छप्परवाली जगह फुटपाथ पर ली जिन्दगी काटनी पड़ती है और हरेक ऋतु को झेलने के लिए संघर्षरत रहना पड़ता है । चोर अपनी विडम्बना को प्रस्तुत करते हुए कहता है कि हमारे लिए तो वह छप्परवाली जेल की कोठरी ही अच्छी है जहाँ हमें खाना और ठिकाना साथ–साथ मिल जाता है – *''हर बार छूटो तो सत्रह मुसीबतें ।*

फुटपाथ पे सोवो ! बरसात आए तो हालत पतली । उधर छप्पर है सर ! बाहर ! कोई काम नहीं देता सर । चोर को भला कौन काम देगा ? कई बार भूखों मरने की बारी आ जाती है । उधर कोई दिक्कत नहीं सरकार पूरा ख्याल रखती है । अगर बाहर निकल के फिर चोरों की बस्ती में ही रहना है, तो अन्दर क्या बुरा है ?''[४१]

मुम्बई जैसे महानगरों में बड़ी दिक्कत से किराए पर मकान मिलेगा । वह भी कई प्रकार की शर्तों के तहत । कठोर अनुशासन का पालन करना तो अलग से । और अविवाहित युवक को तो कोई किराए पर भी मकान नहीं मिलता । 'तिल का ताड़' के अविवाहित युवक प्राणनाथ को मकान मालिक से इसी बात पर चेतावनी मिल चुकी है, *''कुँवारे और रण्डवों को घर देना आस्तीन में साँप पालना है । आप मुझे पिछले साल से बना रहे हैं, कल शाम तक आपकी बीबी नहीं आयी तो परसों आप मकान छोड़िए... याद रखिए यह मेरा घर है, स्टेशन का थर्ड क्लास वेटिंग रूम नहीं है ।''*[४२]

'घरौंदा' नाटक तो स्पष्टतः घर की समस्या को विवेचित करता है । डॉ. शेषजी ने मुम्बई (बम्बई) जैसे महानगर की विडंबित जिन्दगी का दर्शन प्रस्तुत नाटक के मारफत करवाया है । महानगर में रहनेवाले मध्यमवर्गीय लोगों के लिए 'घर' की कल्पना अत्यन्त महनीय होती है । परन्तु यह कल्पना उनके लिए चाँद पाने के समान होती है जो शायद ही साकारित होती हो । छोटी सी आमदनी के कारण आम आदमी के लिए घर का ख्याल असम्भव हो जाता है । कथानायक सुदीप अपनी प्रेमिका छाया को चाहते हुए भी किराए की कोठरी नहीं दिखा सकता, जहाँ वह अपने चार रूम पार्टनर के साथ रहता है, *आज कमरा इस लायक नहीं कि तुम्हें ले जा सकूँ ।''*[४३] क्योंकि आज शाम उसके रूप पार्टनर चोपड़ा की गर्लफ्रेंड आ रही है । *''हम लोगों में एक आपसी समझौता है । जब कभी एक पार्टनर लड़की लाता है, दूसरे बाहर रहते हैं ।''*[४४]

घर के अभाव में परिवार से दूर रहनेवाले विवाहित व्यक्ति की जिन्दगी तो सचमुच दयनीय बन जाती है । वे लोग परिवार के साथ जी नहीं

सकते । परिवार का सुख जैसे आम आदमी की किस्मत में ही नहीं है, *''अब्दुल शादी शुदा ही नहीं, दो बच्चों का बाप है । ग्यारह साल से बीवी गाँव में है । गुहा की शादी अभी पिछले साल हुई । रात को बैठा–बैठा चिट्ठयाँ लिखा करता है । अपनी बीवी को ।''*[४५]

वैवाहिक जिन्दगी का आनन्द वे उठा सकते हैं, जो पत्नी के साथ अपने घर में रहते हैं । ऐसे कई नौजवान हैं जिनका हौसला बुलन्द होता है पर महानगर में पैर रखते ही वह पस्त हो जाता है । विवाह करके पत्नी को साथ रख सके ऐसी आर्थिक स्थिति नहीं होती । परिणाम स्वरूप वे शादी नहीं करते – *''बीवी को रखेंगे कहाँ ? बीस हजार से कम पगड़ी नहीं । पचास हजार से कम ओनरशिप का फलैट नहीं । किराए पर कोई मकान देता नहीं ।''*[४६]

आर्थिक अभाव में यक्ति 'घरौंदा' के सपनों के सहारे जी लिया करता है, परन्तु जब सपने धोखा दे जाते हों, सपना सपना ही रह जाता हो तब कैसी वेधक पीड़ा से गुजरना पड़ता है यह कथा नायिका छाया के इस कथन से स्पष्ट होती है – *''मकान की बात भूल जाओ । वह एक सपना है । सपना ही रहेगा । सपनों से मुझे अब घृणा हो गई है ।''*[४७]

व्यक्ति जब नैतिक तरीके से अपने चिरसंचित सपनों की परिपूर्ति न होती देखता है तब आर्न्तबाह्य दोनों तरह से टूट जाता है, आत्मविश्वास खो बैठता है, घोर उदासीन बन जाता है । एन वक्त पर वह 'शोर्टकट' के लिए उतारू हो जाता है । सुदीप भी आत्मविश्वास खो देने के बाद 'शोर्टकट' के लिए छाया को उत्साहित करता है, *''आखिर जब दूर रहना ही हमारी नियति है तो मैं सोचता हूँ... तो हम भी उसी रास्ते पर क्यों न चलें जिसे शोर्टकट कहते हैं । मैं तुम्हें कभी मकान नहीं दे सकूंगा । मोदी तुम्हें सब कुछ दे सकता है । केवल हाँ कहने की देर है । हम दोनों क्यों यातना भोगें ... ।''*[४८]

अन्तिम वार्तालाप गृहाभाव की विभीषिका को प्रकट करता है, जहाँ प्रेमिका को दाँव पर लगाने की भयंकर भूल उसे क्षत–विक्षत कर देती है ।

घर की इच्छा कभी पूरी नहीं होती और दोनों 'घरौंदे' का स्वप्न संजोए हमेशा के लिए बिछड़ जाते हैं ।

❀ *निष्कर्ष :*

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आज हमारे लिए सबसे आवश्यक चीज अर्थ है, जिसके अभाव में मनुष्य का जीवन कोई मायने नहीं रखता । सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र भी अर्थ व्यवस्था के प्रभाव से अछूते नहीं रहते । समाज स्पष्टतः दो वर्गों में बँट जाता है – पूँजीवादी वर्ग और श्रमिक वर्ग । व्यवसाय में रहनेवाले व्यक्ति पूंजीपति बन जाते हैं जबकि श्रमिकवर्ग गरीबी में जीते हैं । अर्थाभाव से जूझते हुए भी यह वर्ग अपने आदर्श, नैतिकता, अस्मिता और स्वाभिमान से विचलित नहीं होते । अत्यधिक जनसंख्या और वैज्ञानिक उपकरणों से युक्त उद्योगों ने भारतीय मजदूरों या युवकों को बेरोजगार बना दिया है । इस बेरोजगार से मध्यवर्गीय शिक्षित समुदाय भी व्यथित है । हमारे देश में इस कारण बेकारी भी एक विषम समस्या बनी हुई है । आर्थिक शक्ति को स्वार्थान्ध पूंजीपतियों, व्यापारियों तथा तस्करों ने देश का अहित कर अत्यधिक लाभार्जन कर अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया है । अर्थोपार्जन हेतु साधनशुचिता की परवाह न करने से समाज की नैतिक आस्था, मूल्य और परम्परागत आदर्शों का ढाँचा चरमरा उठता है । समाज के लिए ऐसे लोग शत्रु होते हैं । जो सामाजिकता की विकासयात्रा में जरा भी योगदान नहीं करते । छोटी सी नौकरी करनेवाले मध्यमवर्गीय युवक–युवतियों की 'घरौंदे' की आकांक्षा आर्थिक युग में हमेशा अधूरी ही रह जाया करती है । 'घर' के स्वप्न को साकारित करने यथा सम्भव संघर्ष करते हैं, पैसे एकत्रित करते हैं पर जैसे कि ऐसे लोगों की किस्मत में घर होता ही नहीं । अन्ततोगत्वा उन्हें अपनी आकांक्षाओं और स्वप्नों को दफना देना पड़ता है ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

१	हमारी परम्परा, प्रो. हुमायूँ कबीर, पृ.७४–७५
२	योजना, १७ अगस्त, १९७९, पृ.४
३	योजना, १प अप्रेल, १९८७, पृ.८
४	इण्डिया टु डे एण्ड टुमोरो, पं. नेहरु, पृ. ३५–३६
५	योजना, र जनवरी, १९७०, ता. ९
६	आधुनिक परिवेश और नवलेखन, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, पृ.७
७	हमारी परम्परा, प्रो. हुमायूँ कबीर, पृ. ७४–७५
८	अर्थतन्त्र (कहानी) नवनीत, रमेश उपाध्याय, मार्च १९७१, पृ. ७१
९	समकालीन कविता पर एक बहस, जगदीश नारायण श्रीवास्तव, पृ. १२२
१०	'रक्तबीज' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३९२
११	'रक्तबीज' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३९२
१२	'एक और द्रोणाचार्य' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३१९
१३	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४४
१४	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४५
१५	'मूर्तिकार' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.७३
१६	'मूर्तिकार' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.७०
१७	'मूर्तिकार' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.७८
१८	'एक और द्रोणाचार्य' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२७३
१९	'पोस्टर' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३१४
२०	'फन्दी' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१९
२१	हिन्दी उपन्यासों में मध्यमवर्ग, डॉ. हेमराज निर्मम, पृ. १७६
२२	'नयी सभ्यता : नये नमूने' शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः १९९०, पृ.६६

२३	'नयी सभ्यता : नये नमूने' शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६६
२४	'मूर्तिकार' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६२
२५	'तिल का ताड़' शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.११८
२६	'रत्नगर्भा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२२
२७	'चेहरे' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२६१
२८	'चेहरे' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.२७६
२९	'आधी रात के बाद' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४९
३०	'आधी रात के बाद' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३३४
३१	'आधी रात के बाद' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४०
३२	'आधी रात के बाद' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३५२
३३	'नयी सभ्यता : नये नमूने' शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.६६
३४	'एक और द्रोणाचार्य' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३०३
३५	'रत्नगर्भा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३८
३६	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४५
३७	'मूर्तिकार' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१०९
३८	'मूर्तिकार' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१०९
३९	'बिन बाती बे दीप' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.१७२

४०	'आधी रात के बाद' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३५२
४०	'आधी रात के बाद' शंकरशेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
४२	'तिल का ताड़' शंकरशेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.७३
४३	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२६
४४	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
४५	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
४६	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३२७
४७	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४३
४८	'घरौंदा' शंकरशेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्षः१९९०, पृ.३४५

❀❀❀

पंचम् – अध्याय

डॉ. शंकरशेष के नाटकों में राजनीतिक परिवेश

पंचम् – अध्याय
डॉ. शंकरशेष के नाटकों में राजनीतिक परिवेश

❀ राजनीतिक पृष्ठभूमि :

१५ अगस्त १९४७ ई. को लगभग दो सौ पचास वर्ष की अंग्रेजी दासता के बाद भारत आज़ाद हुआ । स्वाधीन भारत की प्रधान–चेतना उसके नव निर्माण तथा विकास की थी और उसका लक्ष्य था – एक शोषणहीन, भेद रहित समाज की स्थापना, समुन्नत, आत्मनिर्भर और गौरवशाली राष्ट्र का निर्माण । भारत को अपनी परम्परागत रुढ़ियों, सामाजिक कुरीतियों, पिछड़ेपन, गरीबी व दैन्य से छुटकारा पाकर एक सम्पन्न एवं सम्मानित राष्ट्र के रूप में अपने को विश्व–मानचित्र में स्थापित करना था ।

आज़ादी की लड़ाई में समूचा राष्ट्र एकजुट होकर खड़ा हुआ था । शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य की सत्ता को चुनौती देकर भारतीय जनता ने अपनी एकता का प्रमाण दिया था । परन्तु अंग्रेजों के लिए भारतीयों की यह सहिष्णुता और एकता हानिप्रद थी । अंग्रेजों ने 'फुट डालकर राज करने' की नीति के तहत सांप्रदायिकता के विष–वृक्ष का बीजारोपण किया । डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं – *''अंग्रेजों का यह प्रयत्न बराबर रहा है कि सामाजिक वैषम्य से लाभ उठाकर समाज के एक हिस्से को दूसरे हिस्से से लड़ा दिया जाए ।''*[१] अपनी कुटिल चाल में अंग्रेजों को सफलता मिली । भारत की आज़ादी के समय यह विष–वृक्ष फलने–फूलने लगा । राष्ट्र के समक्ष सांप्रदायिक दंगे, बेरोजगारी, शरणार्थियों के पुनर्वास का प्रश्न आदि अनेक समस्याएँ प्रस्तुत हुई । देश के विभाजन के परिणाम स्वरूप लोगों में पारस्परिक घृणा, आशंका एवं निराशा आदि प्रवृत्तियों ने विकास पाया । हिन्दुओं का पाकिस्तान में रहना दुष्कर हो गया । मुसलमानों से भयभीत हिन्दू भारत आने लगे । सरकार को इनके पुनर्वास की व्यवस्था करनी पड़ी जिसमें करोडों रुपये व्यय हुए और देश

की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी । ३० जनवरी, १९४८ ई. को महात्मा गाँधी व्यक्ति–विशेष की घृणा का शिकार हो मारे गए, जिससे देश में हर तरफ निराशा की लहर व्याप्त हो गई । लौहपुरुष सरदार पटेल के द्वारा समझाएँ जाने पर देश की सभी देशी रियासतें १७ सितम्बर १९४८ ई. में भारत सरकार के अधीन हो गईं । *''देशी रियासतों के विलय और भारतीय मानचित्र के आकार लेने साथ भारतीय शासनतन्त्र को व्यवस्थित करने का काम प्रारम्भ हुआ । एक नूतन राष्ट्र को अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप एक ऐसे संविधान की आवश्यकता थी जो भारतीय उच्चादर्शों के अनुरूप हो तथा परिवर्तित विश्व की बराबरी में भारत को सम्मानजनक पहचान दे सके । २६ जनवरी १९५० ई. को भारत ने नवीन संविधान को अंगीकार किया ।''*[२] प्रत्येक नागरिक को बिना किसी धर्म, वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर वैधानिक समानता का अधिकार दिया गया ।

इस समय सत्ता कांग्रेस दल के हाथों में थी । इसके अतिरिक्त अन्य राजनैतिक दल साम्यवादी सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ आदि भी स्थापित थे । काँग्रेस ने सत्ता में बने रहने के लिए भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन अनुसूचित व पिछड़ी जातियों के लिए विशेष आरक्षण व्यवस्था का विकास किया और व्यक्ति का यह विश्वास कि स्वतन्त्र होते ही सांप्रदायिक झगड़े समाप्त हो जायेंगे, घूमिल पड़ गया । व्यक्ति में स्वार्थ के आधिक्य ने राष्ट्रीय भावना के स्थान पर व्यक्तिवादी भावना का विकास किया ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राजनीति में नहेरू युग का प्रमुख स्थान रहा है । नहेरू ने विश्व में शान्ति की स्थापना को महत्त्वपूर्ण माना । नेहरू ने अपना प्रमुख लक्ष्य प्राप्त स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना और राष्ट्रीय एकता बनाए रखना स्वीकार किया । निर्धन जनता का जीवन–स्तर ऊँचा उठाने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया, किसानों की स्थिति सुधारने के लिए जमींदारी प्रथा को समाप्त किया । गुट निरपेक्षता एवं पंचशील के सिद्धान्तों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व–शान्ति की स्थापना नहेरू की प्रमुख इच्छा रही परन्तु चीनी आक्रमण ने उनके विश्वास को बहुत बड़ी चोट

पहुँचाई । इस आक्रमण से देश की स्थिति पुनः बिगड़ी । राष्ट्र में निराशा व दुःख का वातावरण छा गया । *''चीनी आक्रमण के कारण भारत की अन्दर की विषम हालत एवं भावात्मक स्तर नये चिन्तन और परिस्थितियों के कारण भारतीय व्यक्ति में निराशा, भय, संशय तथा शंका की स्थिति ने घर किया ।''*[३]

इस प्रकार चीनी आक्रमण से भारत की राजनीति में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ । अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति भी दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ क्योंकि युद्ध में अन्य देश भारत के प्रति उदासीन बने रहे और इसलिए भारतीय राजनीति अब अधिक राष्ट्रीय बनने लगी ।

नेहरू की गृहनीति की असफलता से उत्पन्न अव्यवस्था, समस्या संकुल जनता में शास्त्रीजी के आगमन से एक नई आशा की किरण उदय हुई । क्यों कि शास्त्रीजी आम जनता की समस्याओं के अधिक निकट रहे जबकि नेहरू जनता के श्रद्धेय नेता तो रहे किन्तु शासन से जिस निश्चिन्त और निरापद जीवन जीने की आशा स्वतन्त्र भारत ने की उसमें पूर्णता प्राप्त न कर सके । शास्त्रीजी आम जनता का प्रतिनिधित्व करते थे इसलिए जनता को उनसे बहुत अपेक्षाएँ थीं परन्तु अभी चीन के आक्रमण से आक्रान्त भारत सन्तुलित स्थिति में आया भी न था कि सन् १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर दिया । इस सम्बन्ध में देवीशंकर अवस्थी लिखते हैं – *''पाकिस्तान से होनेवाला युद्ध इसी पिछले युद्ध की अगली कड़ी बनकर आया... जो कभी राजनीति की बात नहीं करते थे, जिनके लिए चारों ओर से घेरता अकेलापन ही था, वे भी अचानक जैसे झंझोड़ दिए गए और युद्ध की मोर्चे बन्दियों की ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दाँव–पेचों की चर्चा करने लगे.... इस लड़ाई ने बुद्धिजीवी को बदला ।''*[४]

पाकिस्तान के इस आक्रमण ने देश की व्यवस्था को डगमगा दिया । इस स्थिति में सुधार के लिए शास्त्रीजी ताशकन्द गए । ताशकन्द में अन्य लोगों के दबाव में आकर उन्होंने ताशकन्द समझौता तो किया परन्तु उन्हें भारतीय लोगों की प्रक्रिया के बारे में सन्देह था । इस समझौते ने उनके मानस पर गहरा

प्रभाव डाला और हमने अपना प्रिय नेता खो दिया । शास्त्रीजी की मृत्यु के साथ ही देश में अस्थिरता व्याप्त हो गई ।

१९६८ ई. के आम चुनावों में सत्ता के मंच पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी का आगमन हुआ । प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी को भी कई प्रकार के राजनीतिक समझौते करने पड़े, जिनमें प्रान्तियता, सांप्रदायिकता और वैयक्तिक स्वार्थपरता प्रमुखता प्राप्त करती गई । इस स्थिति ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया जिसे देखकर आम व्यक्ति हाहाकार कर उठा । श्रीमती गाँधी भी इन परिस्थितियों को अनदेखा न कर सकीं, लोकसभा भंग कर दी गई । १९७१ ई. में विकल्प के अभाव में पुनः मध्यावधि चुनाव में जनता ने शासन की बागड़ोर श्रीमती गाँधी के हाथ में थमा दी । परन्तु शासक दल के नेता काँग्रेसियों में पद का मोह बढ़ने लगा । वे जनहित के स्थान पर स्वहित को महत्ता देने लगे । ईमान बिकने लगा और नेता जिसे आज से पूर्व श्रद्धा का पात्र समझा जाता था, घृणा और क्रोध का पात्र हो गया । डॉ. राम मनोहर लोहिया ने पटना की जनसभा में बोलते हुए कहा था कि – *''काँग्रेस एक कुण्डली मार सर्प है जो देश के भाग्य पर फन फैलाए बैठा है । इसको हटए बिना देश का विकास सम्भव नहीं ।''*[१] फिर भी विडम्बना यह कि सारे शोषण के बाद भी काँग्रेस ही जीतती रही ।

१९७७ ई. के चुनाव में काँग्रेस बुरी तरह पराजित हुई और सत्ता जनता पार्टी के हाथ में आई परन्तु इससे भी जनता को निराश ही होना पड़ा । चुनाव के वक्त एक हुए लोग चुनाव के बाद आपस में पद–प्राप्ति के लिए झगड़ने लगे । राष्ट्र एवं जनहित इन झगड़ों के समक्ष पीछे छूट गया, चारों ओर अकर्मण्यता का बोलबाला छा गया । ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति को पुनः मध्यावधि चुनाव करवाना पड़ा । ई. १९७० के चुनाव में सत्ता एक बार फिर काँग्रेस के हाथ में आई क्योंकि जनता पार्टी अपनी अकर्मण्यता, अदूरन्दर्शिता और आन्तरिक मत भेदों से उत्पन्न असफलता सिद्ध कर चुकी थी । चार वर्षों में हुए दो चुनावों और उससे प्राप्त निष्कर्षों ने राजनीति में व्यक्ति की सजगता को स्पष्ट कर दिया है ।

निष्कर्षतः स्वतन्त्रता–प्राप्ति से पूर्व व्यक्ति–चेतना राष्ट्रहित के लिए समर्पित थी, उसका लक्ष्य राष्ट्र को स्वतन्त्र करवाना मात्र था । देश की अन्य समस्याओं की ओर उसका कोई ध्यान नहीं था । क्योंकि व्यक्ति का यह विश्वास भी था कि स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो जाएगा, परन्तु स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् भी जब समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहीं तो उसमें असन्तोष बढ़ने लगा । फलस्वरूप दायित्वहीन नेताओं के प्रति धृणा की भावना जन्म लेने लगी क्योंकि नेताओं ने स्वतन्त्र भारत के जिस आदर्श रूप को जनता के समक्ष रखा था उसका नामोनिशान भी कहीं न था । *''ज्योंही संघर्ष का युग समाप्त हुआ और सत्ता का युग आया त्योंही यह ऊपरी भव्यता और प्रभा–मण्डल अकस्मात् निस्तेज पड़ने लगा और परिस्थिति में अन्तर्निहित असंगति और अविवेक स्पष्ट दिखने लगा ।''*[६] विसंगति बोध के बढ़ने का कारण बताते हुए डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने लिखा है कि – *''विसंगति (एब्सर्डिटि) का बोध इसलिए बढ़ा है क्योंकि आज़ादी के बाद जो सपने देखे गए थे वे पूरे नहीं हुए । शासनदल समृद्धि, प्रतिष्ठा और उपभोग की राजनीति में फँसकर सामान्य जनता को कोई खास राहत नहीं दे सका ।''*[७]

ग्राम हो या शहर राजनीति ने सबको प्रभावित किया है । स्वार्थ, अहम्, तिकड़मबाजी, फरेब, धूर्तता आदि दुर्गुण ही समाज में फैले हैं । राजनीति के कारण जातिवाद का जहर तेज हुआ है, सांप्रदायिक वैमनस्यता की खाई और चौड़ी हुई है तथा असामाजिक तत्त्वों के हौसले बुलन्द हुए हैं । परिणामतः सारा परिवेश असन्तोष और भय से आक्रान्त हो जाता है । साधारण मनुष्य की दृष्टि में 'राजनीति' शब्द ही धोखा–छल–प्रपंच बन गया है । ऐसा समझा जाने लगा है कि राजनीति का लोककल्याण और सुव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं । यह अशान्ति फैलाने का हथकण्डा है ।

इस प्रकार समसामयिक सन्दर्भ में राजनीति का सिद्धान्त पक्ष कमजोर पड़ गया है । राजनैतिक धरातल पर व्यक्ति–चेतना की छटपटाहट और संघर्ष

हमें डॉ. शेषजी के नाटकों में मिली है, जिसका आकलन हम निम्नलिखित बिन्दुओं में करेंगे ।

❀ सत्ता लिप्सा :

राजनीति में स्वार्थ और सत्ता का बोलबाला है । राजनीतिज्ञ का पहला और अन्तिम लक्ष्य है – कुर्सी के रूप में सत्ता प्राप्त करना । इसके आगे–पीछे इधर–उधर वह देख नहीं पाता । अपने व्यक्तित्व और व्यक्तिहित से आगे या बाहर उसके लिए और कुछ, कोई और है ही नहीं । उसकी समस्त चेतना कुर्सी के इर्द–गिर्द बल खाती रहती है । यदि प्राण चले जाएँ तो भी उसकी भटकती आत्मा सत्ता छोड़ नहीं सकती । डॉ. शंकरशेष के नाटक 'कालजयी' का निरंकुश, अत्याचारी, क्रूर शासक कालजयी पुरबी के आश्चर्य का समाधान करते हुए कहता है – *''नहीं पुरबी, में सत्ता कभी नहीं छोडूंगा... सच तो यह है कि सत्ता ही मुझे नहीं छोड़ेगी ।''*[५]

सत्ता लोलुपता के ऐसे कई दृष्टान्त इतिहास के पन्नों पर अंकित हैं जहाँ सत्ता–लिप्सु व्यक्ति रक्त के सम्बन्धों की भी चिन्ता नहीं करता । सत्ता के व्यामोह में फँसे किसी शासक के लिए पिता–पुत्र–पत्नी के सारे सम्बन्ध अपने आप निरर्थक हो जाते हैं । वह कभी विश्वास नहीं कर सकता कि सिंहासन से आगे भी कोई सम्बन्ध हो सकता है । और यह घटना भी राजनीतिक क्षेत्र में कोई नया आश्चर्य पैदा नहीं करती कि कोई पिता अपने जवान पुत्र को इसलिए मार देता है कि वह कल उठकर कहीं उससे सत्ता न छीन ले । 'कालजयी' की मुक्ता कालजयी की क्रूरता को व्यंजित करती हुई उसकी सत्ता–लोलुपता को लताड़ती है, ''हाँ मुक्ता.... तुम्हारी सात सौ रानियों में से एक... किसी समय तुम्हारी अंकशायिनी, राज–सत्ता के लोलुप भेड़िये.. याद है तूने अपने जवान बेटे का वध किया था... केवल इस भय से कि वह तुझसे सत्ता न छीन ले ।''[६] सत्ता–मोह में लिप्त शासक को उसका चस्का जो एकबार लग जाता है, प्रजा के उखाड़–फेंकने की हालत में भी वह सुधरने का या शासन से हटने का नाम नहीं लेता । सत्ता का अमर्याद उपभोग

करते–करते एक भ्रामक धारणा उसके दिमाग में घर कर जाती है कि इस सिंहासन पर केवलमेव उसका ही अधिकार बरकरार है, वह हजारों वर्षों तक निर्बाध रूप से शासन चला सकता है । क्योंकि, वह शाश्वत है, सनातन है, अमर है । प्रस्तुत नाटक के अन्तिम दृश्य में कालजयी आसन्न मृत्यु के क्षण में प्रजातन्त्र की घोषणा न करने के एवं शासन–सूत्र हस्तान्तरित न करने के पुरबी के इस विधान का खण्डन करते हुए कहता है – *''नहीं, मैं राज्य करूँगा । हजार वर्षों तक, लाख वर्षों तक... करोड़ो वर्षों तक... मैं अमर हूँ... मैं सनातन हूँ... राजा कभी नहीं मरता ।''*[७०]

सत्ता का आकर्षण अत्यन्त प्रबल और प्रचण्ड होता है । उसकी प्राप्ति की आशा मात्र से त्यागी पुरुष का मन चरमरा उठता है । शायद सत्ता की प्रचण्डता किसी सुन्दरी से भी अधिक प्रभावकारी है । इसे हम निकष भी मान सकते हैं जो तानाशाही के विरुद्ध प्रजातन्त्र की नींव डालने के लिए, स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र के लिए अपना मस्तक अपने हाथों में लेकर चलनेवाले वीर स्वतन्त्रता देवी के मस्तक पर हाथ रखकर दृढ़–प्रतिज्ञ रहनेवाले को भी मात कर देती है । जैसा कि शीलभद्र, कालजयी राजा को मारकर मृत्युंजय के दिए प्रलोभन के सामने अपने सारे नैतिक एवं दलगत आदर्शों को भूलमर कालजयी बन बैठता है । नाटक के अन्त में सत्ता–स्पृहा की और चरित्र–पतन की इस घटना का रहस्योद्‌घाटन मृत्युंजय करता है, *''आचार्य, राजा कभी नहीं मरता । केवल उसका शरीर मरता है । राज्यसत्ता को बनाए रखनेवाले स्वार्थी तत्त्व उसे सदैव अमृत पिलाते हैं । कालजयी कभी अमर नहीं था, मैं भी अमर नहीं हूँ । आचार्य, केवल मुखौटे बदले । उस दिन कालजयी को मारने के बाद शीलभद्र मुझे मारने के लिए आगे बढ़ा तब मैंने उसे पहचान लिया... उससे मैंने केवल एक ही बात कही.. तुम क्यों राज्य नहीं करना चाहते । तुम भी अंनतकाल तक राज्य कर सकते हो । मैं तुम्हें अमरत्व की औषधि दूँगा । शीलभद्र ने एक क्षण सोचा और सत्ता का मोह उसके मन में जागृत हुआ बस वही कालजयी का मुखौटा लगाकर राजा बन बैठा... तीस वर्ष पहले भी मैंने उस कालजयी को जन्म दिया था जिसे शीलभद्र ने मारा ।''*[७१]

राज–परिवारों में सत्ता हथियाने के लिए अनेक षड्यन्त्र होते हैं । राजा को एक से अधिक सन्तान है तो उत्तराधिकारी का मामला अत्यन्त पेचीदा बन जाता है । 'अरे ! मायावी सरोवर' नाट्य रचना में यह विवाद कुछ विचित्र प्रकार से उपस्थित किया गया है । इस विवाद का प्रमुख कारण राजा इल्वलु का स्त्री बन जाना और स्त्री बन जाने के बाद ऋषि से पुत्र पैदा होना है । राजा इब्वलु और रानी सुजाता से उत्पन्न पुत्र अंशुमाली ही वाकय में राज्य का उत्तराधिकारी होना चाहिए लेकिन स्त्री वेश में राजा इस बात का विरोध करते हुए ऋषि और उससे उत्पन्न पुत्र कुमार को क्षत्रिय बताते हुए उसे राज्य का सच्चा उत्तराधिकारी घोषित करने का दुराग्रह रखते है, *''मत भूलो रानी ! अब सिंहासन पर मेश पुत्र बैठेगा – वही अधिकारी है राजसत्ता का ।''*[९२] *''मैं राजा हूँ.... क्षत्रिय हूँ, राज्य मेरा है ।''*[९३]

सत्ताकांक्षी व्यक्ति नैसर्गिक जीवन न जीते हुए योजनाबद्ध जीवन जीने का आदी होता है । उसके लिए प्रजोत्पत्ति राजनैतिक गिनती और सत्तालक्षी के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती । प्राचीन भारतीय कुल परम्परा के अनुसार ज्येष्ठभ्राता ही सर्व सामामन्यतः सत्ता का दावेदार होता है, इस तथ्य का स्मरण दिलाते हुए शकुनि 'कोमलगान्धार' में धृतराष्ट्र को शीघ्र प्रजोत्पत्ति के लिए राजनैतिक ढंग से प्रेरित करता है – *''कल पाण्डु के नियोग से पुत्र होंगे, वे भी इसी वंश के कहलाएँगे । अगर आप से पहले उसका पुत्र हो गया तो सत्ता पर उसका दावा होगा ।... महाराज अगर पाण्डु–पुत्र सत्ता पर आ गए तो आपको... और मेरी बहन को उनके अन्न पर आश्रित होना पड़ेगा । आप दोनों के बुढ़ापे में उनका व्यवहार कैसा होग, कौन कह सकता है ।''*[९४] शकुनि का सत्ता केन्द्रित दृष्टिकोण आगे चलकर पारिवारिक वैमनस्य के लिए बीजारोपण का काम करता है ।

सत्ता हथियाने के प्रयास में किए गए राजनैतिक प्रपंच कभी–कभी विफल भी जाता है । जो बाजी निहित स्वार्थ के लिए बनाई जाती है, नियति के हस्तक्षेप से उलट भी जाती है । लेने को देने पड़ जाते हैं तब आहत स्वार्थ

भावना व्यक्ति को विषाक्त बना देती है । कुन्ती और माद्री के बच्चे गान्धारी से पहले हो जाने से कुन्ती हार कर भी जीत जाती है । इस घटना से गान्धारी के मन में ईर्ष्या की अग्नि धधक उठती है । वह कुन्ती को जीतती हुई नहीं देखना चाहती –

''शकुनि : सर्वनाश हो गया, गान्धारी ! सर्वनाश हो गया !
गान्धारी : कुछ कहोगे भी या....
शकुनि : पाण्डु की मृत्य हो गई, माद्री उसके साथ सती हो गई ।
गान्धारी : लेकिन कुन्ती ?
शकुनि : कुन्ती भी आई है... अपने और माद्री के बच्चों के साथ...
गान्धारी : यानी कुन्ती के... माद्री के ....
शकुनि : हाँ... उनके बच्चे तुमसे पहले हो गए । कुन्ती सब कुछ हारकर भी बहुत कुछ जीत गई ।
गान्धारी : नहीं, शकुनि... कुन्ती नहीं जीत पाएगी । मैं कहती हूँ, कुन्ती नहीं जीत पाएगी ।... ।''[१५]

स्वार्थ मनुष्य को अन्धा और विवेकशून्य बना देता है । उसमें निहित अमोघशक्ति किसी को भी गिड़गिड़ाने, चरणों में लोटने के लिए बाध्य करती है । राजनीतिज्ञों की पहचान ही उसकी स्वार्थपरता से होती है । 'राक्षस' नाटक का रणछोडदास स्वार्थमन्त्र का प्रणेता है । उसके पास स्वार्थमन्त्र की अजीबो–गरीब सम्मोहन शक्ति है जो सत्ता–लिप्सु को सम्मोहित कर जाती है । ऐसा सम्मोहन मन्त्र जो पूरब को जोड़ता है पश्चिम से, नहीं को जोड़ता है हाँ से... ऐसा मन्त्र जिसके उच्चारण से शेर और बकरी भी साथ पानी पीने लगते हैं । ऊँट और गधा एक दूसरे की सूरत और संगीत पसन्द करने लगते हैं । ऐसा सम्मोहनमन्त्र जो प्रेम से ऊपर, विचारों से ऊपर, संस्कृति से ऊपर, ईश्वर से ऊपर... है और जो विरोध को बदल देता है विरोध में...

ओ३म् स्वार्थाय नमः
ओ३म् स्वहिताय नमः

ओ३म् स्वसुखाय नमः

ओ३म् मतलबे नमः

ओ३म् सेलिफिशे नमः ।[१६]

इस मन्त्र का जाप पंचायत के सदस्य व गाँव के मुखियाओं–लालदास, पीलाराम और नीलादास के लिए संकट मोचक सिद्ध होता है ।

सत्ता–लोलुपता के ये सन्दर्भ समसामयिक व्यक्ति के कटु यथार्थ हैं । मान, प्रतिष्ठा, स्वाभिमान, राष्ट्रगौरव सारे शब्द निष्प्रयोजन हो गए हैं । राष्ट्र और समाज का कितना भी बड़ा हित क्यों न हो जाए बस सत्ता को नुकसान नहीं पहुँचना चाहिए । अपनी सत्ता की येन–केन प्रकारेण रक्षा करना ही व्यक्ति का ध्येय बन गया है । ऐसे में उसे सत्ता की रक्षार्थ नाना प्रकार की चालबाजियाँ चलनी पड़ती हैं अन्यथा शह के मात में परिवर्तित हो जाने के खतरे चारों ओर खड़े हैं ।

❀ दमन की राजनीति :

तानाशाही सैनिक–शासक शोषक वर्गों में सबसे प्रमुख है । इस वर्ग के अन्तर्गत देशी रियासतों के राजा, महाराजा और जमींदार और जागीरदार आते हैं । मार्क्स के मतानुसार देशी राजा और अंग्रेजी शासन, व्यवस्था के दृढ़ स्तम्भ उन्नति के बाधक तत्त्व थे । इन वर्गों द्वारा सामान्य जनता का शोषण और उन पर किए अत्याचार के संकेत हमें 'कालजयी', 'पोस्टर', 'राक्षस' आदि नाटकों में मिलते हैं ।

'कालजयी' नाटक में डॉ. शेषजी ने एक निरंकुश, नृशंस और दमनकारी राजा कालजयी की कालीसत्ता का परिचय दिया है । कालजयी एक स्वेच्छाचारी और अत्याचारी शासक है । वह अपनी सैन्य शक्ति के जरिए शाश्वतकालीन राजा बने रहने का भ्रम पालता है । उसकी प्रजा उसकी आपखुदशाही से सन्त्रस्त है । कलाकारों और विशिष्ट प्रज्ञावान पुरुषों का वह शत्रु है । उसकी निरंकुश सत्ता के कारण उसने अपने राज्य में कलाकार, कवि, विचारक का अस्तित्व ही खत्म कर दिया है । वह खुद मृत्युंजय से अपनी बर्बरता का

परिचय देता है – *''हाँ – हाँ एक कवि था, लेकिन मैंने कवि, लेखक, विचारक इन सब को या तो समाप्त कर दिया है या अपने राज्य से बाहर निकाल दिया है । ये लोग बहुत खतरनाक होते है ।''*[७७] उसे घिसेपिटे संगीत से बहुत जल्दी ऊब आती है । इस बहाने के तहत वह संगीत और गायकों का निकन्दन निकाल देता है कि वह सौ साल से एक ही पद्धति का संगीत सुन रहा है । वह खुद बदले या न बदले संगीत को जरूर बदलना चाहिए । इसलिए वह सेनापति हस्तिदन्त को चुटकी में इसका इन्तजाम करने की आज्ञा देता है – *''यही कि इस राज्य के गायकों को देशनिकाला दो, उसकी वंश–परम्परा का नाश करो, थोड़े वर्षों के लिए क्यों न हो इस राज्य को संगीतविहीन करो ।''*[७८] कला जगत् की पूर्णतः उपेक्षा से उसकी क्रूरता परिपुष्ट होती है ।

क्रूर शासक केवल अपने लिए जीता है वह दूसरों की, जनता की चिन्ता क्यों करेगा ? वह कभी नहीं चाहेगा कि जनता में से कोई सिफारिश शासन की ओर आँख उठाये और शासन को चुनौती दे ! फिर भी यदि कोई विद्रोही शासन के खिलाफ बगावत करता है तो उसे क्रूरता से मसल दिया जाता है, स्त्रियाँ सैनिकों को समर्पित की जाती हैं –

''द्वारपाल : विद्रोह करने के लिए जो दो सौ नागरिक पकड़े गए हैं उसका क्या किया जाए ।

कालजयी : उन्हें मेरे भूखे शेरों, चीतों और भेड़ियों को खिला दिया जाए ।

द्वारपाल : और उनमें पचास स्त्रियाँ हैं ।

कालजयी : स्त्रियाँ ! उन्हें मेरे सैनिकों को सौंप दो... वे भी तो शेरों, चीतों और भेड़ियों की तरह ही भूखे हैं बेचारे ... ।''[७९]

कालजयी के राज्य में से सैकडों मानव खोपडियों का उपलब्ध होना उसकी नृशंसता की निशानी है । यह तो किसी कपालदर्शी के अध्ययनार्थ एवं परीक्षणार्थ बड़ी सुविधा प्रदान करनेवाली बात है । वस्तुस्थिति यह है कि कालजयी स्वातंत्र्यचेतना को फैलानेवाले को जन्मते ही दबोच लेता है । लगातार

ऐसे विद्रोहियों, षड्यन्त्रकारियों की हत्या करते हुए वह उकता सा गया है । वह जनता में व्याप्त विद्रोह चेतना को लेकर मृत्युंजय के सामने आश्चर्य प्रकट करता है, *''लेकिन चाहे जैसे हो, इन षड्यन्त्रों को समाप्त करना होगा । मैं लोगों को प्राणदण्ड दे–देकर उक्ता गया हूँ । नित्य सैकडों व्यक्तियों की हत्या करता हूँ । नित्य सैकडों घर जलाए जा रहे हैं, स्त्रियों पर बलात्कार की छूट मैंने अपने सैनिकों को दे रखी है सो अलग, इसके बाद भी विद्रोह ।''*[२०]

सैनिक शासन व्यवस्था में जब व्यक्ति विशेष तानाशाह हो उठता है तब चारों ओर अव्यवस्था का साम्राज्य छा जाता है । जनता से उसका अधिकार छीन लिया जाता है । यहाँ तक कि लोगों की आत्मा भी खतरे में पड़ जाती है । यूं कहे कि एक निरंकुश सैनिक शासन के पहाड़ के नीचे लोगों की आत्मा कुचल दी जाती है । प्रजातन्त्र के लिए एवं स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवालों पर देशद्रोही का आरोप लगाकर उन्हें प्राणदण्ड दिया जाता है । कालजयी विद्रोहियों की हर प्रवृत्ति को, चाहे वह अधिकार की माँग हो चाहे प्रजातन्त्र की, राजद्रोह के रूप में करार देते हुए जुल्म गुजारता है – *''नहीं, तुम लोग राजद्रोह कर रहे हो... और जानते हो राजद्रोह के लिए केवल एक ही दण्ड है ... प्राणदण्ड ।''*[२१] इस व्यवस्था ने आम आदमी के ऊपर ढाँचे जानेवाले अत्याचारों की तनिक परवाह नहीं की है । आम आदमी भी सदियों की तरह उपेक्षित शोषित और पददलित हो रहा है । उसके कल्याण के नाम पर चलाए जा रहे सारे कार्यक्रम वस्तुतः बड़े लोगों के लिए फायदेमन्द होते हैं । उसके श्रम के साथ देश की प्रतिष्ठा को जोड़ा जाता है । 'पोस्टर' में कारिन्दा निरीह श्रमजीवियों से देश, सतयुग, त्रेता, नेता के नाम पर काम करवाते हुए निहित स्वार्थ सिद्ध करता है –

''कारिन्दा : काम करो भाई
सब : काम करो ।
कारिन्दा : देश का ऊँचा
सब : नाम करो ।
कारिन्दा : सतयुग बोले

सब : काम करो ।
कारिन्दा : त्रेता बोले
सब : काम करो ।
कारिन्दा : नेता बोले
सब : काम करो ।''[२२]

उपेक्षितवर्ग इस लाभ से वंचित ही रह जाता है । वह सब कुछ समझाते हुए भी मालिक, नेता के कमीनेपन के कारण चुप रह जाता है ।

वस्तुतः आम आदमी की बुनियाद पर ही तो यह लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था का महल खड़ा है, लेकिन दुःखद स्थिति यही है कि इस महल में व्यवस्था के दलाल रह रहे हैं, मौज कर रहे हैं और आम आदमी प्रताड़ित, शोषित, डरा हुआ धमकाया हुआ, भयभीत होकर महलों के बजाय सड़क पर खड़ा हो गया है । 'पोस्टर' नाटक का पटेल अपने गाँव का नेता ही है । बड़े–बड़े लोगों से उसकी जान–पहचान है । पुलिस, कलेक्टर, नेता से उसका गठबन्धन है । समग्र सत्ता जैसे उसके सिर पर चढ़कर बोलती है कि पोस्टर लगाने से मजदूर या मजदूरों का नेता उसका कुछ भी उखाड़ नहीं सकता, ''*तो नहीं बताओगे उस हरामी नेता का नाम, जो शहर की गन्दगी यहाँ फैला रहा है । लेकिन समझता क्या है साला अपने आपको । इस गाँव में मेरी चलती है, मैं जो कहता हूँ वही कायदा है यहाँ । हाँ.. हाँ.. मेरे पेशाब से दीया जलता है यहाँ ! बड़े–बड़े कलेक्टर, एस.पी. मेरे घर दारू पीते हैं... और साले नेता मुझसे चन्दा ले जाते हैं । पता भर तो लग जाए ... खोद के गड़वा दूँगा । हवालात में बन्द करा दूँगा साले को । बोलो, कौन लाया है यह खतरनाक पोस्टर ? कौन बनवा रहा है युनियन... बोलो कुत्तो... कौन है तुम्हारा नेता... कौन बनना रहा हूँ यूनियन ।''*[२३]

पूँजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कानून का पालन करवाने की ठेकेदारी पुलिस करती है । पुलिस पूँजीपति से मिली भगत रखती है और आम आदमी को दण्डित करती है उस पर दमन गुजारती है । पूँजीवादी व्यवस्था के इशारों पर चलनेवाली पुलिस निरीह व्यक्ति पर ही अपनी ताकत

आजमाती है । वह कानून की शक्ति का वैयक्तिक स्वार्थ के लिए अनुचित ढंग से प्रयोग कर, किसी भी व्यक्ति को किसी भी वक्त अन्दर धकेलने में कुख्यात है । पुलिस की इसी कमजोरी का फायदा पटेल मजदूरों के खिलाफ उठाना चाहता है जब मजदूर मजदूरी बढ़ाने के मामले में अपनी जगह पर अड़े रहे –

''पटेल : तुम शहर चले जाओ । थानेदार से कहो कि हमारे मजदूरों ने बगावत कर दी है ।

कारिन्दा : इससे क्या होगा, मालिक ?

पटेल : दारोगा इनको दफा... में अन्दर कर देगा । तीन दिन ठुकाई होगी तो सब होश ठिकाने आ जाएँगे ।''[२४]

पुलिसतन्त्र की कार्यप्रणाली भी बड़ी निराली होती है । साधारण जनता की संकटकालीन स्थिति में टस से मस नहीं होने वाली पुलिस पूँजीवादी वर्ग के लिए तत्काल दौड़ आती है और आते ही पैरवी शुरू कर देती हे क्योंकि उसे पता होता है कि किसे पिटना है, किसे हत्या की साजिश में गिरफतार करना है । 'पोस्टर' नाटक के अन्त में पटेल मजदूरों को धमकाते हुए कल्लू पर कोड़े बरसाता है तब मजदूरों की जड़ता टूटती है, पटेल घेर लिया जाता है, कल्लू खूद अब पटेल को कोड़ों से पीटता है उसी वक्त पुलिस आ धमकती है, सब की पिटाई करती है –

''साथी–१ : मजदूरों को पीटा गया ।

साथी–२ : उनके झोंपडों में आग लगाई गई ।

कीर्तनकार : कल्लू और उसके साथियों को जमींदार की हत्या करने की कोशिश में दस–दस साल की सज़ा हुई ।

साथी–१ : चैती के बारे में अलग से बताने की जरूरत नहीं ....

साथी–२ : उसे जबरदस्ती वहीं पहुँचा दिया गया, जहाँ उसे पहुँचना था ।''[२५]

समसामयिक सन्दर्भ में निष्ठुर और क्रूरता का दूसरा नाम राजनीति है । जिसमें निहायत क्रूर कर्म भी इतने ठण्डेपन से, निस्संगतापूर्वक किए जाते हैं कि करनेवाले की नीयत पर कभी शक पैदा नहीं होता । परन्तु ऐसे क्रूर कृत्य

राजनीति में जायज कहलाते हैं । 'कोमल गान्धार' नाटक में संजय धृतराष्ट्र के लिए छल–कपट पूर्वक जा लाई जा रही गान्धारी के विषय में भीष्म से पूछ बैठता है कि मधुर स्वप्नों से लदी किसी नवयौवना की जिन्दगी में विष घोलना क्या अनीति नहीं है ? भीष्म उसका उत्तर देते हैं – *''क्या है, यह मैं भी नहीं जानता । अगर व्याख्या जरूरी ही है तो इसे राजनीति कहो ।''*[२६] राजनीतिक आवश्यकताओं के लिए हर अपाहिज अन्धे का ब्याह हो जाना भी जायज है ।

राजनीति में व्यक्ति की गिनती क्षुल्लक वस्तु के समान है । उसका अस्तित्व, उसके मानापमान, उसकी कल्पनाएँ, भावनाएँ इत्यादि कोई अहमियत नहीं रखते । व्यक्ति की आत्मा को जड़ पदार्थ मानने के कारण उसे कुचलने में राजनीति क्रूरता रंचमात्र आतंकित नहीं होती । गान्धारी उसके साथ किए गए विश्वासघात से सहम जाती है । उसकी नारी चेतना राजनीतिक क्रूरता को धिक्कारती है, *''मेरी सहमति का कोई अर्थ नहीं है क्या ? क्यों नकार दिया गया मेरे अस्तित्व को पूरी तरह ? राजनीति इतनी क्रूर होती है क्या ?''*[२७] शकुनि राजनीति की वास्तविक पहचान कराते हुए उसका सम्बन्ध भावनाशीलता, संवेदनशीलता, मानवता, सहृदयता से न जोड़ते क्रूरता से जोड़ते हैं – *''लेकिन प्रश्न है अस्तित्व का ! केवल क्रूर और हृदयहीन होकर ही राजनीति में विजय पाई जा सकती है ... ।''*[२८]

'शिक्षक सामान्य नहीं होता । लय और प्रलय उसकी गोद में खेलते हैं ।' चाणक्य की इस गर्जना को भ्रष्ट शासन व्यवस्था ने दमित कर दिया है । नौकरी करनेवाला शिक्षक जैसे व्यवस्था का गुलाम बन गया है । उसका कर्तव्य न्याय–अन्याय की परिभाषा करना नहीं रह गया किन्तु अपने मालिक, अन्नदाता, नौकरीदाता के प्रति एकनिष्ठ रहना रह गया है । यद्यपि उसे नौकरी करती है तो कान और आँखें बन्द करनी होंगी, मुँह केवल खाने के लिए खुला रखना होगा, व्यवस्था के विरोध में बोलने के लिए नहीं । 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में प्रिंसिपल प्रेसिडेंट साहब की इस दमननीति का जिक्र करता है – *''प्रेसिडेंट साहब आखिर मालिक है, अन्नदाता हैं । उनका कालेज उनकी*

मर्जी । इसलिए तो कहता हूँ, नौकरी है तो कान बन्द कर लो, आँखें मून्द लो । मूँह खुला रखो – बोलने के लिए नहीं, रोटी खाने के लिए ।''[२६]

आततायी या अत्याचारी ताकतों को क्रान्ति की चिनगारी फैलानेवाला आत्मसम्मानी विद्रोही वीर फूटी आँखों नहीं सुहाता । और सब तो सत्ता के लिए स्वार्थ–सम्मोहन मन्त्र के सामने कुत्ता बन जाते हैं पर तेजस्वी व्यक्ति तो शेर की तरह दहाड़ता है, राक्षस की आतंकित शक्ति के गात्रों को शिथिल कर देता है । परिणामतः ऐसे विद्रोही को आततायी ताकत दबोच लेती है । 'राक्षस' नाटक के अन्तर्गत राक्षस के प्रतिनिधि रणछोड़दास के समझौतावादी दर्शन का प्रबल विरोध कवि करता है । रणछोडदास की उपस्थिति में, उसके ही सामने उसके दर्शन को चुनौती देनेवाला व्यक्ति सुरक्षित कैसे जा सकता है ? वह अपनी ताकत का परिचय देते हुए आज्ञा देता है – *''(लाल, नीले, पीले को) उठाकर बन्द कर दो इस कवि को मेरा विरोध... मेरे दर्शन का विरोध... अगर ये गाँव में गया तो बकेगा अपनी कविता... और शाम की सभा में लोग करेंगे उपद्रव, विरोध, बोलने लगेंगे आत्मसम्मान और लड़ाई की भाषा... मारो इसे मारो... इसके हाथ पाँव बाँधकर डाल दो ... ।''*[३०]

स्पष्ट है कि मानवीय चेतना के विकास के इतिहास में व्यक्ति चेतना को दबाने के प्रयत्न प्राचीन समय से ही किए जाते रहे हैं । व्यवस्थाओं की जड़ता के विरुद्ध व्यक्ति–चेतना की गतिशीलता सदैव संघर्ष करती रही है । दमन झेलती रही है । दमन की इसी राजनीति को डॉ. शेषजी ने अपने नाटकों में कलात्मक वाणी प्रदान की है ।

❀ दमनतन्त्र के विरुद्ध प्रजातन्त्र :

शासन व्यवस्था में प्रजातन्त्रीय प्रणाली सर्वोतम है । भारत वर्ष में इसकी प्राचीन परम्परा है । *''प्रजातन्त्र एक हरा–भरा पेड़ है, न्याय जिसका तना है, स्वतन्त्रता जिसका फल है, समानता के फूल जिस पर खिलते हैं और भाईचारे की भावना ऐसे फैलती है जैसे शाखाएँ । वास्तव में सफल प्रजातन्त्र वही है जिसमें न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे की प्रवृत्ति विद्यमान है । इन्हीं*

चारों लक्षणों के कारण ही तो प्रजातन्त्र के शासन को सर्वोत्तम कहा जाता है । जिस देश में यह शासन–पद्धति वर्तमान है उस देश को स्वर्ग और उसके नागरिकों को परम सुख के सहज अधिकारी देवता कहना चाहिए ।''[३१] परन्तु जिस देश की राजनीति में प्रजातन्त्र का गला घोंट दिया जाता है और शासन तानाशाह के हाथ आकर उसका दुरुपयोग किया जाता है वहां जन–चेतना विद्रोह कर उठती है । पराधीन अवस्था में जनशक्ति पाशवी सत्ता को परास्त करने के लिए हिंसक बन जाती है । इस परिप्रेक्ष्य में 'कालजयी' नाटक में प्रजातन्त्र दल का विद्रोहीवीर न्यायकेतु कालजयी को उसके सामने उसकी दमनकारी सत्ता को चुनौती देता है – *''यदि देश को बचाना है तो सबसे पहले आपके हाथ काटना जरूरी है । कालजयी, अब हमें केवल प्रजातन्त्र चाहिए । हमें जनता का राज्य जाहिए । हम आपकी भाषा अच्छी तरह समझते हैं ।''*[३२] काली सत्ता व्यक्ति चेतना को दीर्घ समय तक दबोच नहीं सकती । व्यक्ति चेतना के उदित होते ही निर्बाघ स्वातंत्र्य चेतना भी उदीयमान होती है । व्यक्ति उसकी समग्रता में स्वतन्त्रता एवं मानवीय अधिकार के लिए विचलित हो उठता है । कालजयी के सैनिक शासन व्यवस्था में उसकी प्रजा गुलामी से मुक्त होने के लिए उसके विरुद्ध जंग छेड़ती है, *''हम लोग कहने के लिए स्वतन्त्र है, पर वस्तुतः है गुलाम । एक निरंकुश सैनिक शासन के पहाड़ के नीचे हमारी आत्मा कुचली जा रही है... कालजयी, हमें वाणी की स्वतन्त्रता चाहिए ... हमें आत्मा की स्वतन्त्रता चाहिए ।''*[३३]

दमनतन्त्र को प्रश्रय देना और उसे अखित्यार करते रहना समसामयिक राजनीतिज्ञों का उद्देश्य बन गया है । उनकी राजनीति आतंकवादी राजनीति है । प्रजातन्त्र का उपहास किया जा रहा है । तब स्वातन्त्र्य की आकांक्षा रखनेवाले हर प्राणी को विप्लव की भाषा बोलनेवाला विद्रोही बनना होगा, संघर्ष करना होगा । इसलिए कि संघर्ष ही जीवन का अन्तिम सत्य है ।

❀ सत्ता–संरक्षण के षड्यन्त्र :

सत्ता का लालच व्यक्ति को अपराधी बना देता है । वह सत्ता की प्राप्ति एवं उसकी सुरक्षा के लिए नित–नयी चालें चलता है । इस सन्दर्भ में 'कालजयी' नाटक का सैनिक शासक कालजयी अपने देश में फैल रही प्रजातांत्रिक गतिविधियों को नेस्त–नाबूद करने के लिए जनता में धर्मोन्माद जगाता है और १८ वर्ष से ऊपर के प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से सेना में भर्ती करने के लिए धार्मिक–प्रलोभन देता है – *''धर्म संकट में हैं, और महादेश के विरुद्ध युद्ध करने से प्रत्येक देश को स्वर्ग मिलेगा ।''*[३७] पड़ोसी महादेश के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करके एवं द्वेष तथा घृणा की भावना को उत्तेजन देकर वह आसन्न आपत्ति को टाल देता है, *''उनके मस्तिष्कों में केवल एक बात जमाओ कि महादेश हमारा शत्रु है । घृणा पैदा करो, घृणा केवल युद्ध–भावना को जन्म देती है । और युद्ध–भावना से पीड़ित जनता कभी अपने विकास की माँग नहीं करती ।''*[३८]

कालजयी के देश की सामाजिक और आर्थिक स्थिति तार–तार हो चुकी है । वह यह जानते हुए भी कि पड़ोशी देश के तुल्य सैन्यशक्ति अर्जित करने के लिए एवं देश की जनता पर तलवार की ताक पर शासन करते हुए देश के सभी उद्योग–धन्धे, व्यापार सब मटियामेट हो रहे हैं । इस तथ्य को लेकर प्रजा में असन्तोष और बगावत फैल रहे हैं । परन्तु उससे केवल हथियारों से मतलब है, सिद्धान्तों से नहीं । और उसका केवल एक ही सिद्धान्त है सत्ता में बने रहो, जनता की आँखों में धूल झोंको । देशवासियों को प्रजातन्त्र की बातों में अभिरुचि मत लेने दो । वर्ना उसे अपनी दुर्गति की रंचमात्र आशंका नहीं – *''यह सब सच है मृत्युंजय, पर यदि हमारे यहाँ प्रजातन्त्र आ गया तो लोग सबसे पहले मेरी और आपकी बोटी–बोटी अलग कर देंगे । मेरे और आपके पिट्ठुओं के घरों को आग लगा देंगे । मेरे सम्बंधियों और अधिकारियों की सार्वजनिक उत्सव मनाते हुए हत्या करेंगे ।''*[३९]

कालजयी जैसा निरंकुश और नृशंस–शासक जब किसी की भलाई की बात करता हो तब स्थिति को निरापद नहीं समझनी चाहिए । वह न्यायकेतु

(वयोवृद्ध विद्रोही वीर) को प्राणदण्ड क बदले में क्षमा, पुरस्कार एवं ऊँचे पदों पर नियुक्ति देने का प्रलोभन देता है । यह उसकी कुत्सित राजनीति की एक चाल है, जिससे कि उसका शासन सुरक्षित रह सके – *''मुझमें अभी भी मनुष्यता है । मैं तुम्हें क्षमा कर सकता हूँ पर बताओ तुम्हारा नेता कौन है । बताओ, तुम लोग राज्य का तख्ता उलटने का षड्यन्त्र कहाँ रचते हो ? मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा... तुम्हें पुरस्कार दूँगा । तुम्हारी नियक्ति ऊँचे पदों पर कर दूँगा .. पर बताओ वह व्यक्ति कौन है ? ''*[४०] राज्य में प्रजातन्त्रदल के साथ ही दूसरे दल की स्थापना के पीछे भी कालजयी की गहरी साजिश है । वह प्रजातन्त्र के प्रति बढ़ते हुए लोक–ज्वार को देखकर उसकी प्रभावकारिता खत्म करने के लिए 'जनतादल' की स्थापना करता है । और उसका प्रतिनिधि उसके विश्वासु सलाहकार मृत्युंजय को बनाता है । मृत्युंजय किराए के दो हजार टट्टुओं का मोर्चा लेकर राजमहल की ओर प्रयाण करता है । जनमानस को दिग्भ्रमित करने के लिए वह कालजयी की भर्त्सना करता है, मजदूरों के वेतन एवं किसान को सुविधाएँ एवं राजनीतिक कैदियों को मुक्त कराने की माँग लेकर अग्रसरित होता है । अपने ही विरोध में जोर–शोर से प्रचार करना एवं जनता में फूट डालकर वह अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करता है । कूटनीति में पारंगत कालजयी के पद संरक्षण की इसी चेष्टा से चिन्तित पुरबी आचार्य के सामने चिन्ता प्रकट करती है – *''अब लगता है राजनीति में पुराने तरीके नहीं चल सकते । लोग अपना सिर कटाने पर तुले हैं, और लगता है हमें जल्दी ही भयानक विद्रोह का सामना करना पड़ेगा ।''*[४२] तानाशाही शासक को निर्वाचन से जितनी शत्रुता होती है उतनी किसी और से शायद नहीं । परन्तु लोगों का निर्वाचन का स्वप्न ही उसकी सत्ता–सुरक्षा का माध्यम बनता हो तो उसे क्या हर्ज है ? निर्वाचन का अन्तहीन नाटक ही उसकी सत्ता को कायम रख सकता है । प्रस्तुत उद्धरण से इस कथन की पुष्टि होती है –

''कालजयी : मैं अब प्रजातन्त्र का नाटक करना चाहता हूँ
पुरबी : नाटक !!
कालजयी : हाँ नाटक, पर इस नाटक का कभी अन्त नहीं होगा ।''[४३]

सत्ता में बने रहने के लिए समर्थ और सम्पन्न राष्ट्रों का सहयोग और दोस्ती को राजनीति में अनिवार्य समझा जाता है । उन राष्ट्रों में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक एकरूपता भले ही न हो किन्तु उनके पीछे पूंछ पट–पटाने में ही उसकी कुशलता निहित होती है । जैसे कालजयी का सेनापति हस्तिदन्त और अमात्य मृत्युंजय संसार के उन सर्वसमर्थ और सर्व सम्पन्न राष्ट्रों का उल्लेख करते हैं जिनकी कृपा दृष्टि पर उनका देश निर्भर है और पड़ोसी महादेश के प्रति आँखें दिखाने की चेष्टा करते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय रणनीति और राजनीति में अन्य सभी राष्ट्रों का शोषण करनेवाले ये दो राष्ट्रों की दो–रंगी नीति और दुनिया को धोखे में डालनेवाली प्रवृत्ति का पर्दाफाश इनके कथनों से होता है । हस्तिदन्त बताता है, *''उसकी कोई कमी नहीं महाराज ! समुद्र पार गौरांगों का एक बहुत सम्पन्न देश है, वहाँ प्रजातन्त्र है, वह हमें नये–नये हथियार दे रहा है । महाराज वह प्रजातन्त्र का नारा लगाता है, लेकिन पड़ोसी महादेश का प्रजातन्त्र उसे भी हमारी ही तरह फूटी आँखों नहीं सुहाता । उनकी बस एक ही शर्त है कि हम उनके सामान से अपना बाजार पाट लें और उनकी जयजयकार करें ।''*[४४] संसार के दूसरे देश के बारे में मृत्युंजय का यह कथन उसकी कुत्सित राजनीति की ओर संकेत करता है जिस पर उसके देश का अस्तित्व निर्भर है – *''महाराज संसार का एक दूसरा बड़ा देश भी हमें हथियार दे रहा है । आश्चर्य है महाराज कि वह देश एक ओर संसार में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़नेवाली जनता का हिमायती बनता है, और दूसरी ओर उन्हीं पर अत्याचार करने के लिए हथियार देता है ।''*[४५]

विकासोन्मुख राष्ट्र की राजनीति उसके राष्ट्र का हित साधने की होती है । वहाँ सत्ता–संरक्षण जैसे प्रश्न गौण होते हैं । योग्य और महत्त्वपूर्ण स्थान पर योग्य और प्रामाणिक व्यक्ति की नियुक्ति देश की गरिमा में वृद्धि करती है । कालजयी की राजनीति पद संरक्षण की है । वह राष्ट्रहित को गौण और वैयक्तिक स्वार्थ को प्रधान मानता है । उसने महत्त्वपूर्ण स्थानों पर प्रबुद्ध और प्रतिभावानों के बदले मूर्ख लोगों, घोर नालायकों और रिश्तेदारों को नियुक्त किया है । इसका कारण वह बताता है कि मूर्ख लोग अगर लाभ नहीं पहुँचाते

तो सत्ता को नुकशान भी नहीं पहुँचाते जो निम्नांकित वार्तालाप से अनावृत होता है –

''मृत्युंजय : *लोगों का वह भी आरोप है कि सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर अपने–अपने सम्बंधियों की नियुक्तियाँ की हैं, उनमें आपके लड़के हैं, नाती हैं, साले हैं या दामाद हैं, आपने पूवाँचल के लोगों को किसी महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त ही नहीं किया ।*

कालजयी : *इस आलोचना में कोई अर्थ नहीं है मृत्युंजय ! मैं पिछले सौ वर्षों से राज्य कर रहा हूँ । इस लम्बे काल में मेरे अनेक सम्बन्धी उत्पन्न हुए । क्या उनका ख्याल रखना जरूरी नहीं है ? जो अपनों का ख्याल नहीं रखेगा, दूसरों का ख्याल कैसे रख सकता है ?*

मृत्युंजय : *जनता बेकारी से त्रस्त है, लेकिन आपने योग्यता और न्याय की भावना को ताक पर रखकर अपने रिश्तेदारों और उनके घोर नालायक रिश्तेदारों की नियुक्तियाँ की हैं ।*

कालजयी : *मैंने ऐसा जान बूझकर किया है । मुझे योग्य और प्रतिभावना व्यक्तियों की जरूरत नहीं है । उनमें वृद्धि होती है और सबसे बुरी बात यह है कि वे उपयोग करते हैं । नालायक और मूर्ख लोग अगर लाभ नहीं पहुँचाते तो सत्ता को नुकशान भी नहीं पहुँचाते ।''*[४६]

राजवंश में परम्परागत प्रथा–पालनार्थ उत्तराधिकारी के लिए रक्त शुद्धि का बड़ा ख्याल रख जाता था । सिंहासन–सुरक्षा की दृष्टि से कोई भी राजपुरुष क्षत्रिय–कन्या से उत्पन्न उत्तराधिकारी ही चाहेगा । 'कोमल गान्धार' के भीष्म युवराज धृतराष्ट्र के और दासी के बीच बढ़ते सम्बन्ध को लेकर चिन्तित हो उठते हैं । उन्हें उत्तराधिकारी चाहिए पर शूद्र स्त्री से उत्पन्न नहीं । वे अपने मिथ्या कुलाभिमान को संजय के समक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं – *''असलियत में उस स्त्री ने धृतराष्ट्र को ढूँढ लिया है, संजय ! (विराम) अगर*

दासी से शूद्र पुत्र हो गया तो.. ? अगर उसने आगे चलकर सत्ता पर दावा किया तो ... ?''[४७]

सरेआम जनता की अवहेलना करनेवाला नेता चुनाव–टिकट के लिए कितना जागृत दिख पड़ता है इसका सफल चित्रण डॉ. शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में किया है । जनता की उपेक्षा करनेवाला नेता यह भली भाँति जानता है कि उसको चुनावी–टिकट मिलना बहुतायत उसकी पब्लिक इमेज पर आधारित है । जनता के हाथ में उसकी हार–जीत की चोटी है तब तो वह गिड़गिड़ाता है, हर सम्भव समाधान करने पर राजी हो जाता है । प्रस्तुत नाटक का प्रेसिडेंट, जो अपनी मर्जी के अनुसार कॉलेज चलाता है, अध्यापकों को डराता – धमकता है परन्तु अपने आवारा और गुण्डे लडके राजकुमार की हरकतों पर कृत–संकल्प प्रोफेसर अरविन्द के सामने गिड़गिड़ाता है, *''राजकुमार को रखिए एक ओर । जरा सोचिए तो इस घटना से मेरी पब्लिक इमेज को कितना धक्का पहुंचेगा । चुनाव का टिकट हाथ से जाता रहेगा ।''*[४८] दुबारा वही प्रेसिडेंट के लिए उसके पुत्र राजकुमार का बलात्कार केस उसके मन्त्री–मण्डल में स्थान पानेवाली शक्यता पर पानी फेरनेवाला सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इस बार प्रिंसिपल अरविन्द दृढ़ निर्धार के साथ आगे बढ़ना चाहते हैं । उनकी कार्रवाई पर प्रेसिडेंट के हाथ आए कौर छीन सकता है अतः वह अपनी राजनैतिक इमेज बेदाग रखने एवं परमार्थ की राजनीति छोड़ने की गर्भित चेतावनी प्रिंसिपल अरविन्द को देता है । निर्दिष्ट उद्धरण में प्रेसिडेंट की पदसंरक्षण की कामना एवं उन्नति पाने की ललक प्रकाशित है –

''प्रेसिडेंट : *अब आपसे क्या छिपाऊँ । मुझे मन्त्री–मण्डल में लेने की बात चल रही है । मेरी इमेज नहीं बिगड़नी चाहिए ।*

अरविन्द : *तो राजकुमार को रेस्टीकेट करा दीजिए । आपकी इमेज और उभरकर सामने आएगी ।*

प्रेसिडेंट : *परमार्थ की राजनीति के दिन लद गए, मिस्टर अरविन्द !*

अरविन्द : *तो आप क्या चाहते हैं ?*

प्रेसिडेंट : लड़के को बेदाग भी बचाना है । मन्त्री भी बनना है मुझे । (विराम) आप नहीं जानते, अपराध की सार्वजनिक तौर पर स्वीकृति राजनीति में आत्महत्या कहलाती है ।''[४६]

इस प्रकार असीम सत्ता–लिप्सा के कारण व्यक्ति ने नैतिकता को तिलांजलि दे दी है । अब वह अपनी सत्ता सुरक्षा के लिए कुटिल से कुटिल चालें चलता है । ऐसी चालें जिनमें मानवता के समस्त प्रतिमान झुठला दिए जाते हैं, कर्म–कुकर्म की परवाह नहीं की जाती ।

❀ आश्वासन और छल–प्रपंच :

राजनीतिक हथकण्डों में राजनीतिज्ञों के झूठे आश्वासनों, वायवी वक्तव्य और भड़कीले भाषणों की भूमिका प्रधान रूप से विद्यमान रही है । चुनाव से पूर्व और चुनाव के पश्चात् प्रत्येक धूर्त, धोखेबाज नेता या शासक जनता को झूठे आश्वासनों की बौछार करके गद्‌गदित कर देता है । हर छोटा–बड़ा नेता या शासक अपने साथ आश्वासनों, वायदों और विश्वासों की गठरी लेकर घूमता है और ऊँचे मंच पर से उस गठरी खोलकर जैसे भोली–भाली जनता को निहाल कर देता है । नेताओं के पास आश्वासनों, वायदों की कमी थोड़ी है ! जब चाहे उसका इस्तेमाल किया जा सकता है । यह तो उसके लिए हस्तनिहित हथियार है । जब–जब प्रजाकीय उपेक्षा, अन्याय, छल–प्रपंच तीव्र हो जाते हैं तब एकाध आश्वासन की उद्‌घोषणा करके जनता के आक्रोश को शान्त कर दिया जाता है । 'कालजयी' नाटक में कालजयी के अत्याचारों से सन्त्रस्त जनता प्रजातन्त्र की माँग करती है और चुनाव का अधिकार माँगती है तब कालजयी उसे मिथ्या आश्वासन देकर टाल देता है *''मेरी भी यही इच्छा है । जनता जैसे –जैसे पात्र होती जाएगी, वैसे ही धीरे–धीरे उसके हाथ में अधिकार सौंप दिए जाएँगे ।''*[४७] जन–कल्याण के लिए घोषणापत्र जारी करके शासन के प्रति जनता में व्याप्त घृणा की भावना को कम किया जाता है । आश्वासन देकर आसन को सुरक्षित करने में कालजयी सिद्धहस्त है । मृत्युंजय बन्दी बनाए गए विद्रोहियों के सम्मुख कभी भी अस्तित्व नहीं पानेवाली कालजयी

की विकासलक्षी एवं जन–कल्याणलक्षी योजनाओं को विद्रोही–प्रवृत्ति की प्रतिरोधक प्रकाशित करते हुए उसे प्रजावत्सल घोषित करता है – *''महाराज, इन विद्रोहियों के कारण जिन निरीह लोगों की मृत्यु हुई है, राज्य उनके आश्रितों को आर्थिक सहायता देगा । महाराज के सलाहकार मण्डल में अब एक किसान और एक मजदूर की नियुक्ति की जाएगी । प्रत्येक कृषक परिवार को भूमि और निवास राज्य की ओर से दिया जाएगा, भ्रष्टाचारी को सार्वजनिक स्थान पर प्राणदण्ड दिया जाएगा । जनता को प्रजातन्त्र के लिए प्रशिक्षित किया जाएगा और उसके पूरी तरह प्रशिक्षित होने पर धीरे–धीरे सत्ता उसे सौंप दी जाएगी – उस बीच सभी राजनीतिक गतिविधियाँ अवैध मानी जाएँगी ।''*[५१]

आश्वासनों को सुननेवाली अभ्यस्त जनता कालजयी के मिथ्या–प्रलापों में विश्वास करें या न करें किन्तु जागृत प्रहरी के रूप में विद्रोहरत प्रजातांत्रिक दल का सदस्य अजय नहीं कर सकता, *''आचार्य, अब समय आ गया है । अब हमें इस गुफा से बाहर आ जाना चाहिए । जब तक हम जनशक्ति को पूरी तरह संगठित कर क्रान्ति नहीं करेंगे, हमारे स्वप्न पूरे नहीं होंगे । कालजयी जैसे अत्याचारी और धूर्त शासक के आश्वासनों पर अब अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता ।''*[५१] आश्वासन बुरे–से–बुरे शासक की ढाल बन सकते हैं । स्वप्निल दुनिया में सैर करना जन–मानस का प्रकृति प्रदत्त स्वभाव है । जनता हमेशा सपने चाहती है । मृत्युंजय इसका फायदा उठाते हुए कालजयी को सपने बेचनेवाला महानशासक बनने का रास्ता दिखाता है – *''महाराज, आश्वासन देने में शासन को कभी पीछे नहीं हटना चाहिए । जनता सपने चाहती है महाराज ! ऐसे सपने जो सत्य का आभास उत्पन्न करें, जो शासन सपने जितनी कुशलता से बेच सकता है, वह उतना ही महान शासक होता है ।''*[५३] राजनीति खुद तो पतित होती है पर व्यक्ति को भी पतित बना देती है । राजनीतिक दाँव–पेंच रचते–रचते उसकी आत्मा इतनी पतित हो जाती है कि अपनी सन्तान की कुर्बानी भी देने से नहीं चुकता । 'कोमल गान्धार' का शकुनि राजनीति की पतितावस्था पर खेद जताता है – *''(तीव्रता से) इसीलिए तो घृणा हो गई है मुझे अपने पिता से । मैं भीष्म को दोष नहीं*

देता, उसकी गरज थी, उसका पक्ष लंगड़ा था, उसके सामने षड्यन्त्र के अलावा कोई रास्ता ही नहीं था... लेकिन हमारा पिता क्यों शामिल हुआ अपनी ही सन्तान के खिलाफ रचे इस षड्यन्त्र में ? क्यों की उसने इतनी क्षुद्र बात ? पहली बार खेद हो रहा है मुझे इतने गिरे हुए आदमी की सन्तान होने में । राजनीति इतना पतित बना सकती है व्यक्ति को.... (विराम) मैं मदिरा और जुए का दास हो सकता हूं गान्धारी, पर इतना नीचे नहीं गिर सकता ।''[४४]

राजनीति और छल–प्रपंच का सम्बन्ध चोली–दामन सा है । छल–प्रपंच रहित स्वस्थ राजनीति आम व्यक्ति के लिए दुःस्वप्न सी है । सत्ता के उन्माद में आततायी पारिवारिक रिश्तों को तिलांजलि दे देता है और प्रतिद्वंद्वी का प्राणलेवा शत्रु बन जाता है । इतना सबकुछ करने पर भी जब उसकी बर्बर इच्छापूर्ति नहीं होती है तब उसका क्षोभ आसमान को छूने लगता है । गान्धारी का यह उद्‌गार इस तथ्य को उजागर करता है – *''बोलते क्यों नहीं ? क्या वह जीत जाएगा ? आज तक एक भी घटना हुई जिसमें वह जीता है ! इतने षड्यन्त्र रचे गए, लेकिन क्या हुआ ! आखिर जीतते तो है कुन्ती के ही बेटे ।''*[४५]

सत्ता हथियाना भी राजनैतिक प्रपंच के अन्तर्गत आता है । सत्ता हथियाने वाले तत्त्व न्यायिक माँग को इसलिए ठुकरा देता है कि सामनेवाले की एक भी माँग स्वीकारने का अर्थ उसके द्वारा शासन पर बलात् कब्जा करना सिद्ध होता है । राजवंश में ऐसे किस्से अक्सर देखे जाते हैं । हस्तिनापुर के शासन पर कब्जा कर लेने के बाद पाण्डवों की मामूली माँग को भी दुर्योधन ठुकरा देता है । वह अपने माता–पिता के सामने उसके राज्याधिकार और छलछद्‌म को न्यायिक करने का कारण बताता है –

''गान्धारी : पाण्डवों को पाँच गाँव देकर समझौता कर ले !
दुर्योधन : नहीं, यह सम्भव नहीं ।
गान्धारी : क्यों ?
दुर्योधन : पाँच गाँव देने का मतलब जानती है ?
धृतराष्ट्र : तूं ही क्यों नही बता देता...

दुर्योधन : सिद्धान्त रूप से यह मान लेना होगा कि पाण्डव इस राज्य के अधिकारी हैं । और अगर हमने इसे मान लिया तो.... यह सिद्ध हो जाएगा कि मैं इस राज्य पर जबरन अधिकार किए हूँ ।''[५६]

राजनीतिज्ञों के आश्वासनों में भी कितनी गहरी साजिश होती है, इसका दर्शन हमें 'राक्षस' नाट्यकृति में होता है । राक्षस का भयंकर काल्पनिक चित्रण करके रणछोड़दास अपने निहित स्वार्थ के लिए समझौतावादी दर्शन उपयुक्त सिद्ध करता है । इस पृष्ठभूमि पर उक्त वाद को आश्वसित करता हुआ रणछोडदास का पिल्ला व्यक्ति–२ रणछोड़दास की लोक कल्याणकारी योजना 'समझौते का दस्तावेज की प्रशंसा करता है । इतना ही नहीं उसे निर्भीक, उद्धारक, परममुत्सदी, दूरन्दर्शी, एवं परदुःखकातर बताते हुए उसकी महानता सिद्ध करता है – *''भाइयो और बहनो ! आपने भाई रणछोड़दास से राक्षस का वर्णन सुना... लेकिन अपने विनय के वश होकर उन्होंने वो बात नहीं बताई जो खास अहमियत रखती है... सोचिए तो ऐसे राक्षस से जाकर उन्होंने मुलाकात की... अपने प्राण हथेलियों पर रखकर लोगों ने उन्हें समझाया कि आप खुश होकर मौत के मुँह में क्यों जा रहे हैं... इसके बावजूद भी पूरे संसार के कल्याण के लिए भाई रणछोड़दास ने साक्षात् मौत का सामना किया, सामना ही नहीं, उसे अपनी दलीलों से हराकर समझौते पर मजबूर किया । भाई रणछोड़दास का व्यक्तित्व तो एक पारस पत्थर की तरह है । जिसे छू दे वही सोना... ।''*[५७]

लोकमत पर आधारित राजनीति में जनादेश प्राप्त गुट सबसे पहला काम अपने विरोधियों को येन–केन–प्रकारेण दण्डित करने का करता है, यह सर्वविदित तथ्य को भी 'राक्षस' संकेतित करता है । ऐसे छद्मवेशी मक्कार सत्ताधीशों की घृणित साजिश का शिकार उसकी सर्वग्रासी प्रपंचनीति की आलोचना करनेवाला जागरूक व्यक्ति बनता है । रणछोड़दास के प्रपंच का मार्ग निष्कंटक बनानेवाली इस कुटिलनीति और आग्रह के प्रति विरोध प्रदर्शित करती हुई स्त्री (श्वेता) पंचायत के फैसले को अवैध करार देती है किन्तु

तीन–चोथाईवाली नीति के सामने उसकी एक नहीं चलती । रणछोड़दास इस बहुमत की नीति पर निर्णय सुनाता है, *''यानी पंचायत के तीन चौथाई मतों से तय कर दिया कि सबसे पहले कवि ही भेजा जाएगा । अब तुम्हारे विरोध का कोई अर्थ नहीं । हे देवी ! इस निर्णय को मानना अब तुम्हारा नैतिक कर्तव्य है । (विराम) कवि सिर्फ भेजा ही नहीं जाएगा, उसकी जुबान काटी जाएगी । राक्षस उसकी कविता की बकवास कभी सहन नहीं करेगा । हम राक्षस को किसी कीमत पर नाराज नहीं कर सकते ।''*[४८]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जनसाधारण की नेताओं के प्रति बनी धारणा को नाटककार ने समसामयिक धरातल पर सटीक अभिव्यक्ति प्रदान की है । इस सन्दर्भ में उसकी उनके आश्वासनों, वायदों और छल–प्रपंच के प्रति उदासीनता, छलना, क्षोभ, भोलापन इत्यादि कारुणिक स्थिति का भी स्पष्ट अंकन हुआ है ।

❀ शोषणमूलक व्यवस्था :

शोषणमूलक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को न्याय तथा स्वतन्त्रता प्राप्त होने की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि यह व्यवस्था समाज को धनी तथा निर्धन दो वर्गों में बाँट देती है । जिसके अन्तर्गत धनीवर्ग (पूंजीपति वर्ग) अधिक धनी तथा निर्धन वर्ग अधिक निर्धन अथवा धनी वर्ग के शोषण का शिकार बनता जाता है । जीवन को उच्चतर बनाने की सारी सुविधाएँ धनी वर्ग को ही प्राप्त रहती है । वह निर्धन वर्ग का क्रूर शोषण करते हुए उस पर रौब जमाए रहता है । यह वर्ग शासन व्यवस्था पर हावी हो जाता है । अतः शासन व्यवस्था भी पूँजीपतियों के ही हितों को देखती है और निर्धन वर्ग की उपेक्षा करती है । इसलिए उपेक्षित वर्ग का निरन्तर शोषण होता रहता है । व्यवस्था भ्रष्ट राजनेताओं के हाथ में है और राजनेता पूंजीपतियों के हाथ में, परिणाम स्वरूप राज्य की वास्तविक शक्ति उनके हाथों में केन्द्रित हो गयी है । इस शक्ति का दुरुपयोग पूंजीपतियों ने पद, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति बटोरने में तो किया ही है, साथ ही अपनी कामवासना बुझाकर तृप्ति के लिए भी

इसका दुरुपयोग करने में तनिक संकोच नहीं करते । 'पोस्टर' नाटक के पटेल की अच्छी–बुरी आदतों से हरकोई विदित है । सामान्य मजदूरों से लेकर गुरुजी तक को इसकी जानकारी है कि हवसखोर पटेल ने न जाने कितनी बहू–बेटियों को उसकी हवस का शिकार बनाया है । गुरुजी (कीर्तनकार के रूप में) कल्लू को बताता है – *''देखना यही होगा, यही होता आया है । पूरा गाँव जानता है । हवेली में डयूटी लगाने का मतलब.... देखना गाँवमें इसको लेकर थोड़ी–बहुत तानाकसी.... हँसी–मजाक होगा.... इससे ज्यादाकुछ नहीं । अब तो इसको कोई खास बुरा भी नहीं मानता । आदत पड़ गई है लोगोंको ।''*[६६]

भ्रष्टचरित्र और बेईमान अधिकारी वर्ग पटेल के गोरखधन्धे में सहायभूत होकर बदले में माल–मलिदे के साथ 'जंगली माल' की अपेक्षा रखते हैं । और पटेल राजी–खुशी उसके लिए भोग लगाने की व्यवस्था जब–चाहे कर देता है,

''फोरेस्ट ऑफिसर : दारु और मुर्गा तो हर कहीं मिल जाता है, पटेल साहब !

पटेल : जंगल में और किया ही क्या जा सकता है साब !

फोरेस्ट ऑफिसर : जंगली माल तो चखा जा सकता है ।

पटेल : समझ गया साब ! वैसे मैंने अपने लिए एक छाँट रखी थी... कहिए तो आपके भोग लगाए देता हूँ ।''[६७]

जागतिक इतिहास में यह कोई आश्चर्यकारक घटना नहीं है कि जो राज्य सैन्य शक्ति एवं वित्तशक्ति से सम्पन्न राज्य असमर्थ राज्य पर दबाव डालता है और उसका राजनैतिक शोषण करता है । उस सम्पन्न राज्य के प्रभाव तले असमर्थ राज्य को उसके हर प्रस्तावों और कार्यों का समर्थन करना पड़ता है । 'कोमल गान्धार' में धृतराष्ट्र सशंकित है कि गान्धार नरेश ने उनकी कन्या का विवाह अन्धे युवराज से करने का निर्णय क्या राजीखुशी किया होगा ? या फिर हस्तिनापुर और पितामह भीष्म की प्रचण्ड शक्ति ने उन्हें कन्यादान करने के

लिए विवश बनाया होगा ? पितामह भीष्म धृतराष्ट्र के मनःसमाधान हेतु कहते हैं कि जहाँ राजा होगा वहाँ राजनीति भी होगी –

''भीष्म : गान्धार नरेश इस विवाह–सम्बन्ध से खुश हैं ।
धृतराष्ट्र : विवाह–सम्बन्ध से या राजनीतिक सम्बन्ध से ?
भीष्म : राजा कभी राजनीति से मुक्त रह सकता है क्या ?''[६१]

एक ओर संविधान शोषण को मिटाने का दम भरता है और दूसरी ओर शोषण करनेवाली प्रणाली को प्रोत्साहन देता है । प्रजातन्त्र की छोटी इकाई पंचायती व्यवस्था से जानी जाती है, जो गाँव के नियमन के लिए सर्जित कि गई है । इसमें भी गाँव के चतुर और समृद्ध कहे जानेवाले लोगों का प्रभुत्व होता है । पंचायत के सदस्य के रूप में उनमें से ही चुने जाते हैं । जैसे ही वे पंचायत के सदस्य घोषित होते हैं, गाँव के मेहनतकश और भोले–भाले लोगों का सामाजिक, आर्थिक, राजकीय शोषण शुरू कर देते हैं । डॉ. शेषजी ने 'राक्षस' नाटक में उक्त विद्रूपता एवं समसामयिक पंचायत के सदस्यों की दुष्प्रवृत्तियों को सतही बनाया है । बड़े राजनीतिज्ञों की मिलीभगत से उनका धूर्त–व्यापार बेरोकटोक चलता है । जिन्हें अलग–अलग स्थितियों में निम्नतः दर्शाए गए हैं –

व्यक्ति–१ (लालदास) अपने पड़ोसी का नाम सबसे ऊपर पाकर खुशी से झूम उठता है, *''मेरे कई खेतों के बीच उसके भी चार खेत हैं, बड़ी दिक्कत होती थी । उसके खेत खरीदने की मैंने कई बार नाकाम कोशिश की, प्राणों से भी ज्यादा प्यार करता है साला उन खेतों से ... लेकिन चार दिनों बाद सीधे मेरा कब्जा, जय हो राक्षस की ... ।''*[६२]

व्यक्ति–२ भी पंचायत के नामी–गरामी सदस्य होने का भरपूर लाभ उठाता है । इसके लिए वह (पीलाराम) दुकालू के साथ सुकालू की भी यथाशीघ्र मौत पर उतारू हो जाता है । वह सुकालू से बहुत सहमा हुआ है । क्योंकि सुकालू–दूकालू का शराबी होना उसके लिए उतना हानिप्रद नहीं जितना नशे की हालत में उसका सच्चाई उगलना है – *''शराब के नशे में आकर वे सिर्फ सच्चाई बोलते हैं । और सच्चाई के अलावा कुछ नहीं । हर किसी को*

गाली देते हैं, यहाँ तक कि हमारी भी अन्दरूनी बातें निकल जाती हैं उनके मुँह से । एकाध बार तो मैंने अपना और तुम्हारा भी नाम सुना । नहीं–नहीं दुकालू के साथ सुकालू को भी जाना होगा ।''[३]

व्यवस्था से जुड़े प्रतिनिधि का सब के साथ निष्पक्ष होने का दावा तो सिर्फ नाटक होता है, वर्ना वे गाँव के बड़े लोगों, अमीरों और सेठ–साहुकारों से अपना सम्बन्ध बराबर बनाए रखते हैं, उन्हें बराबर लाभ पहुँचाते रहते हैं । बदले में उन्हें उनकी ओर से जो चाहे वो मिल जाता है । सेठ कल्लूलाल के दिल में रामभरोसे तेली के जवानपुत्र की नववधू काम–कंटक बनकर चूभ रही है । वह पंचायत के सदस्यों से अरज करने आया है कि जल्दी से उस छोकरे को राक्षस के पास पहुँचा दो, *''अब सब कुछ आपके हाथों में हैं मालिक, आज नहीं तो कल... उस छोकरे को जाना ही है राक्षस के पास.... फिर आप चाहें तो... एकबार देख लीजिए उसकी मेहरारू की । एकई काँटा है मालिक.... मन में इस बुरी तरह गड़ गई है कि क्या कहूँ.... आखिर पंचायत के लिए हम भी तो कुछ न कुछ करेंगे... ।''*[४]

इस प्रकार शोषण और उत्पीडन की हद तक गुजरते हुए व्यक्ति की सहनशीलता जवाब दे चुकी है उसका वास्तविक निरूपण डॉ. शेषजी ने अपने नाटकों में किया है ।

❀ हताशा एवं विवशता :

स्वतन्त्रता के पश्चात् राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त अमानवीयता ने मनुष्य की बाह्य जिन्दगी से व्यक्तिगत जीवन तक विषम परिस्थितियों का ऐसा जाल बिछाया है कि वह उससे मुक्त होने के लिए छटपटाने लगा है । सत्ता की निरंकुशता ने हृदय को कुचल दिया है फलतः सारे मानवीय सम्बन्ध महत्त्वहीन हो गए हैं । राजनीतिक व्यवस्था में सत्ता स्वार्थ हेतु अनेक हथकण्डे अपनाए जाते हैं । पर ये सत्ता पाने के लिए आजमाए जाए तब–तक ठीक है किन्तु जब ये व्यक्ति की नवनवोन्मेषगर्भा जिन्दगी पर आजमाए जाते हैं तब ये किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को हताहत कर देते हैं । 'कोमलगान्धार' नाटक में डॉ.

शेषजी ने संजय की हताशा, विवशता एवं छटपटाहट को रेखांकित करते हुए इस तथ्य को प्रकाशित किया है । संजय, हस्तिनापुर शासन के प्रीत संलग्न एकनिष्ठ सलाहकार है । वह भावनाशील है और अभी वह राजनीतिक छल–प्रपंच में भागीदार बनकर धृतराष्ट्र के लिए गान्धारी को लेकर लौट रहा है । यात्रा के दौरान उन्हें गान्धारी के हर सवालों का जवाबदेही बनना पड़ता है । वस्तुस्थिति को छिपाकर प्रत्युतर देते समय उनकी आत्मा उन्हें तिलतिल जलाती है । यात्रा के हर पड़ाव पर उनकी अड़चन बढ़ जाती है – *''यात्रा न रुकती तो ही ठीक होता, यात्रा रुकी नहीं कि मेरी अड़चन बढ़ी । अब वह आती ही होगी इस ओर, आते ही तानेगी सवालों के सैकडों बाण सीधी मेरी छाती पर । अब हिम्मत नहीं होती उसे प्रश्नों का सामाना करने की । (विराम) कोई मेरे शब्द क्यों नहीं छीन लेता, प्रभो ! मेरी आँखों की पुतलियों क्यों नहीं पथरा जातीं । कोई मुझे इस रास्ते की बेड़ौल शिला क्यों नहीं बना देता ।''*[६५] सत्ता के सामने आदमी को विवश होना पड़ता है । उसे मजबूरन सत्ताधीशों की गालियाँ सुननी पड़ती हैं, अपमानित होना पड़ता है, भर्त्सना सहनी पड़ती है और हो सके तो लात भी खानी पड़ती है । क्योंकि, नौकरी जो करनी है । डॉ. शेषजी ने 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में प्रिंसिपाल के जरिए अध्यापकों की विवशता को अंकित किया है, *''किसकी हिम्मत है ? जल्लाद से भी कहीं विरोध किया जाता है । मुझे तो सुबह से शाम तक गाली देता है, गधा और उल्लू का पठ्ठा कहता है पर क्या करूँ, सुनता हूँ । सुनूंगा नहीं तो जाऊँगा कहाँ । नौकरी जो करनी है ।''*[६६] *''नौकरी करनी है तो लात भी खानी पड़ेगी ।''*[६७]

मानव जीवन में मानवमूल्यों, मानवीय भावना और विश्वास का कितना बड़ा मूल्य है इसका पता यह 'फन्दी' नाटक के पात्र फन्दी के इस कथन से चलता है । आश्चर्य है कि मानव कानून के सामने भी लाचार है, निरुपाय है । उसकी जिन्दगी का लेखा–खोजा कानून पर निर्भर रहता है । कानून जो फैसला सुनाता है आदमी को उसे दोषित न होने की स्थिति में भी शिरोमान्य करना पड़ता है । इससे होता यह है कि कानून व्यवस्था पर से आदमी

विश्वास गँवा देता है, मन विरक्त हो उठता है । फन्दी को न्यायालय की गतिविधियों से पता चल जाता है कि अब उसे कोई नहीं बचा सकता, से जरूर फाँसी होगी । यद्यपि उसे मरने का अफसोस नहीं है, अफसोस सिर्फ इस बात का है कि उसे 'हत्यारा' घोषित करके मारा जाएगा । उसकी अन्तरेच्छा है कि कम से कम उसके घरवाले उसे खूनी न समझे *''(भावावेग मे) यही नहीं होना चाहिए वार्डर साहब, यही नहीं होना चाहिए । मैं जानता हूँ, मुझे फाँसी हो जाएगी । उससे मुझे कोई नहीं बचा सकता । पर वार्डर साहब, मैं केवल एक विश्वास के सहारे जी रहा हूँ कि मेरी औरत, मेरा लड़का मुझे खूनी नहीं समझते । मैं सोचता रहा हूँ कि मैं उनकी निगाह में बेकसूर हूँ ।''*[६८]

सारतः हम देखते हैं कि राजनीति में हिन्दी नाटकों के आशावादी स्वर एक प्रकार से समाप्त हो चुके हैं । नाटककार ने अपनी पैनी दृष्टि से जनता की निराशा, विवशता, असुरक्षा और निःसहायता को देखा है और इनका चित्रांकन स्पष्ट रूप से किया है ।

❀ युद्ध और राजनीति :

आदिकाल से संसार में युद्ध का अत्यन्त आकर्षक औरगौरवमय स्वरूप चित्रित किया जाता हे । भारतीय शास्त्रों ने भी युद्ध को निंद्यकर्म न मानतेहुए उसे क्षात्रधर्म माना है तथा उसकी महिमा के गीत गाए हैं । यह भी कहा जो क्षत्रिय अपने देश, संस्कृति, धर्म और न्याय के लिए लड़ते–लड़ते रणभूमि में वीरगति प्राप्त करता है वह स्वर्ग पाता है । किन्तु भारतीय क्षात्रधर्म रक्षा–प्रधान धर्म या, आक्रमण प्रधान नहीं । पाश्चात्य विचारों ने आक्रमण प्रधान क्षात्रधर्म की प्रशंसा करते हुए युद्ध को मानवजाति अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के विकास का साधन बताया है ।

परन्तु गत दो महासमरों ने युद्ध के सबन्ध में लोगों की धारणाओं में आमूल–चूल परिवर्तन कर दिया है । युद्ध मानवजाति के विकास का साधन न होकर विनाश का साधन प्रतीत होने लगा है । आज का संसार युद्धोत्तर

विभीषिका, रक्तपात से त्रस्त हो उठा है । युद्ध की कल्पना मात्र हृदय को कंपित और चित्त को अस्वस्थ बना देती है । युद्ध से किसी का भी भला नहीं होता, होता है केवल सर्वनाश, संहार । 'कोमल गान्धार' की गान्धारी दुर्योधन की जबर्दस्त युद्ध–लिप्सा से सिहर उठती है, उसका मातृत्व चीख पड़ता है । उसकी आँखों के सामने कुल–विनाश का दुःस्वप्न तैरने लगता है – *''यानी युद्ध नहीं रुकेगा ? आप की उत्सुक नही इस युद्ध को रोकने के लिए ! शकुनि उल्टे युद्ध को बढ़ावा दे रहा है । सर्वनाश होगा, महाराज... मैं देख रही हूँ युद्ध की विभीषिका को... नरसंहार को... हजारों सड़ती हुई लाशों के बीच अपने बच्चें की लाशों को.... मुझे किस अपराध का दण्ड मिलने जा रहा है, महाराज .... इतने बच्चों की माँ... मैं निःसन्तान हो जाऊँगी क्या... (धृतराष्ट्र के कन्धे झकझोरती है) आप कुछ बोलते क्यों नहीं ?''*[६६]

प्रलयंकारी युद्ध के सर्वनाश को देखकर उसके दृष्टा के हृदय में अगाध शोक का जाग उठना स्वभाविक है । कौरवदल में युद्ध की समस्त स्थितियों के साक्षी संजय का हृदय निरन्तर दग्ध होता रहता है । उनके लिए प्रत्येक अच्छी–बुरी स्थितियों का ब्यौरा देना और उनकी समीक्षा करना गुरुत्तर भार बन जाता है । पहले भी ऐसी सुविधा का एहसास किया या आज भी कर रहे हैं । उनेक सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे अपने इस कर्तव्य का निर्वाह कैसे करें ? *''उस दिन भी ऐसा ही धर्मसंकट था... अब तो कोई भी नहीं रहा । सब स्वाहा हो गए युद्ध की आग में । सभी कुछ तो नष्ट हो गया । सत्रह दिनों का यह युद्ध या यम के सत्रह चरण, आसपास केवल लाशें ... टूटे हाथ... विच्छिन्न शरीर... रक्त से भीगी लाल जमीन... दुर्गंध और प्राण लेनेवाली स्मशान–शान्ति को चीरती हुई कराहें, फिर भी में जी रहा हूँ, धृतराष्ट्र और गान्धारी को मुझे उनके एक–एक पुत्र की मृत्यु खबर सुनानी पड़ी और हर बार देखी है मैंने आत्मा को निचोड़कर रख देनेवाली व्यथा । फिर भी अपनी नियति से कौन बच सकता है । आज मन क्यों डर रहा है, आखिरी बात कहने के लिए ? क्या वे दोनों सह सकेंगे ?... लेकिन दुर्योधन की बात सुनकर... ताल के किनारे पड़ा है उसका आहत शरीर । टूटी जाँध*

से बह रहा है रक्त । गान्धारी से कैसे वर्णन करूँगा इस दृश्य का । लेकिन कहना तो होगा ही । हे प्रभो... मुझे साहस दो... ।''[१९०]

युद्धवादी युद्ध के सहारे प्रतिद्वंद्वी पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने की ख्वाहिश रखता है । एकाधिकार की भावना उसे चैन से बैठने नहीं देती । इसके पीछे उसकी साम्राज्यवादी भावना भी निहित है जो धीरे–धीरे पुष्ट होती रहती है । दुर्योधन ऐसा ही युद्धवादी हे । वह प्रचण्ड सैन्य शक्ति और दुर्द्धर्ष योद्धाओं का समर्थन पाकर पाण्डवों को उनके अधिकार सहित दबोचना ही नहीं उनका अस्तित्व तक नेस्त–नाबूद करना चाहता है परन्तु विजयश्री पाण्डवों का वरण करती है । पाँच पाण्डवों में से एक को भी मार गिराने में दुर्योधन की कुटिल रणनीति कारगत सिद्ध नहीं होती । आसन्न मृत्यु से जूझ रहा दुर्योधन पूरे जीवन का सिंहावलोकन करता है, *''इस अन्तिम क्षण में सिंहावलोकन हो रहा है, पूरे जीवन का । आखिर युद्ध–विद्या हमने भी द्रोणाचार्य से सीखी.... पाण्डवों ने भी ! हम संख्या में पाण्डवों से अधिक थे... लेकिन हम एक भी पाण्डव नहीं मार पाए । कहाँ रह गया अधूरापन हमारे जीवन में... रह रहकर कुन्ती की प्रतिमा उभरती है मन में... ऐसा क्या किया उसने कि बिना बाप के बच्चे जीत गए और हम भेडों के जत्थे जैसे मार दिए गए... ।''*[१९१]

युद्ध मानवजात के लिए चिरन्तन समस्या है । मानव इतिहास में इसकी स्थिति अनिवार्य है । यह रोकने का एक ही साधन है कि व्यक्ति अहम् और स्वार्थ को विसर्जित कर दे, लेकिन ऐसा सम्भव नहीं । अहम् और स्वार्थ व्यक्ति को अन्धा बना देता है, जबकि आवश्यकता होती है इस सबसे परे होकर जागृत रहने की । धृतराष्ट्र को उनकी शोकान्तिका की तह में अहं दिखाई देता है । वे युद्ध के लिए जरूरी कारणों की पड़ताल करते हुए कहता है, *''हाँ, गान्धारी ! युद्ध का मूल बीज व्यक्ति के निजी अहं में ही होता है । फिर ढूँढने पर कोई न कोई सार्वजनिक न्याय मिल ही जाता है । हम सब अपने निजी अहं में डूबे रहे.... जागते रहे सिर्फ दो व्यक्ति... विदुर और कुन्ती ।''*[१९२]

अतीत में घटित घटना को दृष्टिपथ में रख अथवा विनाश की कल्पना कर वर्तमान में युद्ध न करने का संकल्प मानवतावादी दृष्टि भले ही मान लिया जाए पर कईबार अधिकार, न्याय, स्वत्व एवं अस्तित्व की रक्षार्थ युद्ध को स्वीकारना पड़ता है । आक्रान्ता के सामने न्यस्तशस्त्र बनकर शान्ति के लिए समझौता करके अपना मस्तक उसके हाथों में सुरक्षित दे देने से तो उसकी शक्ति का प्रतिकार करके युद्ध का आश्रय ग्रहण करना अधिक वरेण्य रहेगा । प्रतिकार हीनता का प्रभाव मानव की आत्मा को शताब्दियों तक जड़, निःस्पन्द और पार्थिव बना देता है । डॉ. शेषजी शान्ति के विकल्प रूप में समझौते की तीव्र भर्त्सना करते हुए लड़ाई को अनिवार्य मानते हैं । उनके नाटक 'राक्षस' में कवि (पात्र) अपने गाँव को बचाने के लिए राक्षस की बर्बर शक्ति और आतंक का मुँह तोड़ जवाब देने के लिए गाँववासियों को समझाते हैं । उन्हें समझौते के पीछे राक्षस की कुत्सितनीति की आशंका है तब तो वह मार खाकर भी किसी भी मूल्य पर समझौता न करने का अनुनय करते हैं – *''समझौता मत करो भाइयो । मैं फिर कहता हूँ । समझौता मत करो... क्यों तुले हो सामूहिक रूप से आत्महत्या करने पर... लड़ो उस राक्षस से... लड़ो । चाहे जो कीमत चुकानी पड़े, चुकाओ, लेकिन लड़ो । हर समझौता तुम्हें नालायक, कमजोर और नपुंसक और बौना बनाता जाएगा । मरना तो सबको है । लेकिन किस्तों में क्यों मरते हो.... गरम करो अपना खून... (गिरता – गिरता) .. एकबार लड़ लो साथियों.... केवल एक बार... वरना शताब्दियों तक फिर लड़ सकने की हालत में कभी नहीं आ पाओगे । समझौते से राक्षस की ताकत बढ़ेगी । सिर्फ राक्षस की ।''*[१३]

युद्ध का एक कारण एकछत्र सत्ता स्थापन और प्रभुत्व स्थापन भी है । राक्षस के चित की विक्षिप्तावस्था आतंक को जन्म देती है । उसकी क्रूर छाया जिस गाँव–नगर पर पड़ती है, समझो वे उजड़ जाते हैं । जो झुकना पसन्द नहीं करते हैं वे निर्ममता से कुचल दिए जाते हैं । राक्षस को लोगों की शरणागति प्रिय है । परन्तु शरणागति स्वीकार कर लेने एवं उसकी शर्तों को शिरोधार्य करके समझौता स्थापित कर लेने पर उसकी शक्ति बलवती हो जाती है । राक्षस की संहारक शक्ति और हमले की विभीषिका की खबर प्रमुख

अखबारवाले गाँव–गाँव पहुंचाते हैं । दृष्टव्य हैं अखबारवालों की ताजा खबरों के कुछ नमूने –

(१) अखबारवाला–१ : अबोधनगर टाइम्स, अबोधनगर टाइम्स
अखबारवाला–२ : अबोधनगर समाचार, अबोधनगर समाचार
अखबारवाला–१ : आज की ताजा खबर, आज की ताजा खबर
अखबारवाला–२ : जागृति नगर पर रक्षस का हमला
अखबारवाला–१ : एक खूंखार भयानक हमला
अखबारवाला–२ : हमला, हमला...
अखबारवाला–१ : बे–रहमी से घर लूटे
अखबारवाला–२ : लोगों के हाय करम फूटे

अखबारवाला–१ : दो राहे, चौराहे पर
अखबारवाला–२ : हो रहे, हो रहे
अखबारवाला–१ : ताजे खून के फौवारों के
अखबारवाला–२ : खौफनाक रंगीन तमाशे''[१९४]

(२) ''अखबारवाला–१ : आज की ताजा खबर
अखबारवाला–२ : आज की ताजा खबर
अखबारवाला–१ : जागृति नगर के बाद
अखबारवाला–२ : राक्षस का हमला विश्वासनगर पर
अखबारवाला–१ : लाशों का ढेर
अखबारवाला–२ : विनाश का ताण्डव
अखबारवाला–१ : फसलों की होली
अखबारवाला–२ : दिन दहाड़े सड़को पर
अखबारवाला–१ : फिरती हैं प्रेतों की टोली''[१९५]

(३) अखबारवाला–१ : आज की ताजा खबर
अखबारवाला–२ : आज की ताजा खबर
अखबारवाला–१ : समझौता
अखबारवाला–२ : समझौता
अखबारवाला–१ : राक्षस और सैकड़ों गाँवो के बीच समझौता
अखबारवाला–२ : युद्धविराम

अखबारवाला–१ : सन्धि
अखबारवाला–२ : ओ३म, शान्तिः शान्तिः शान्तिः''[१९६]

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रभुत्ववादी, युद्धखोर राक्षस की भीषण शक्ति और उसके जरिए हुए हमले से भयंकर नरसंहार एवं रक्तपात का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ।

अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है कि युद्ध मानव जाति के लिए आशीर्वाद रूप है या अभिशाप रूप । वास्तव में युद्ध अपने मूल में न तो अच्छा है और न बुरा, बल्कि उसके पीछे छिपी निहित दृष्टि उसे अच्छा या तो बुरा घोषित करता है । नाटककार ने इन दोनों पक्षों को आलोकित किया है ।

❀ शिक्षा और राजनीति :

मानव जीवन में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है । वास्तव में शिक्षा ही मानव को मानव बनाती है । सच्ची शिक्षा उसे सुसंस्कृत ओर अनुशासन युक्त बनाती है और वह ज्ञानार्जन कर अपना बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करता है । परन्तु वर्तमान युग में शिक्षा और इन महत् उद्देश्यों का सम्बन्ध लुप्त हो गया है । इसका कारण है भ्रष्ट राजनीति का अर्थ ही बदल गया है । राजनीति, प्रशासन, समाज और धर्म आदि विविध क्षेत्रों की तरह शिक्षा–क्षेत्र भी अधःपतन, अव्यवस्था, अनैतिकता, और अराजकता आदि दुर्गुणों से अछूता नहीं रह सका । हमारा प्राचीन आदर्श था गुरु शिष्य परायण, शिष्य गुरु परायण और दोनों ज्ञानपरायण परन्तु वस्तुस्थिति आज विपरीत दिखाई पड़ती है कि अध्यापक बनने के बाद व्यक्ति अध्ययन और ज्ञानार्जन को तिलांजलि दे देता है । अब तक जो पढ़ लिया उसी के सहारे पढ़ा दिया जाता है । छात्र को भी अब ज्ञानार्जन से कोई वास्ता नहीं सो दोन्नो के बीच एक मौन समझौता परम्परा बन गयी है । इस तथ्य को 'बन्धन अपने–अपने' का डॉ. जयन्त उभारते हुए अपने अनुज अनादि के प्रति क्षोभ प्रकट करते हैं – *''विद्यार्थी नहीं पढ़ता इसलिए तुम नहीं पढ़ते, फिर एक दिन तुम्हारा न पढ़नेवाला विद्यार्थी अध्यापक हो जाता है और फिर विद्यार्थी और अध्यापक में*

न पढ़ने का एक मौन समझौता हो जाता है... और परीक्षाओं में शार्टकट के तरीके निकल आते हैं... ।''[७७] और यह परम्परा निर्विध्न चलती रहती है ।

शिक्षा के क्षेत्र में दिनोदिन निकम्मे, भ्रष्टचरित्र और झूठे तत्त्वों का प्रभुत्व बढ़ गया है, जो अपने आप में एक बहुत बड़ी समस्या है । उनसे शिक्षा की गरिमा लज्जित ही नहीं लांछित भी हुई है । ऐसे तत्त्वों का एकमेव मकसद होता है, डिग्रीयाँ हाँसिल करना और उच्च स्थान को हथिया लेना । संशोधन या ज्ञानवृद्धि से उनका कोई वास्ता नहीं । उनकी कोई विशिष्ट पहचान और योग्यता भी नहीं लेकिन मन्त्रीजी के रिश्तेदार होना ही उनकी महत्त्वपूर्ण पहचान और योग्यता है । लोग शोध तो क्या करते है, कहीं से जोड़–तोड़कर थीसिस छाप मारते हैं । अमूल्य पदवी को मूल्यहीन बनानेवाले ऐसे तिकड़मबाजों के प्रति डॉ. जयन्त तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं –

''डॉ. जयन्त : आनन्दपुर युनिवर्सिटी के अनूपशंकर को तो तुम जानते ही हो न ।

अनादि : जी हाँ... उनकी तो बहुत ऊँची पहुँच है ।

डॉ. जयन्त : इसीलिए वे महत्त्वपूर्ण है, यही उनकी सबसे बड़ी योग्यता है ।

अनादि : पर उनकी डी.लिट्. की थीसिस भी तो आपके पास जँचने के लिए आई है । आखिर उन्होंने रिसर्च तो किया ही है ।

डॉ. जयन्त : उस थीसिस को देखकर ही तो मैं दुःखी हूँ । मन्त्री के भाई होने के अलावा उनकी और कोई योग्यता सिद्ध नहीं होती । तुम्हें शायद पता नहीं, डॉ. गांगुली उस थीसिस को रिजेक्ट कर चुके हैं ।

अनादि : क्या इतनी खराब है व थीसिस....

डॉ. जयन्त : उसे थीसिस कहना किसी भी थीसिस का अपमान करना है । दो–तिहाई तो सीधे नकल है ।''[७८]

शिक्षा–क्षेत्र में अनैतिक ढंग से घूसपैठ करनेवाले तिकडमबाजों के पास अनेक मार्ग होते हैं, उनमें से एक है प्रलोभन । वाइस चांसलरी का पद पाना हर प्रोफेसर की मनोवांछित इच्छा होती है । यह पद पाने के लिए बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उत्सुक रहता है । खरीद–फरोख्त की राजनीति चलानेवाले लोग प्रलोभन देकर किसी को भी वशीभूत करके अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं और फिर सत्ता की राजनीति फैलाना नहीं चूकते । डॉ. जयन्त को ऐसी राजनीति से सख्त नफरत है जिसमें सच्चे और ईमानदार व्यक्ति को सहन करना पड़ता है – *''यही तो मैं सोच रहा हूं । हर एक प्रोफेसर की इच्छा वाइस चांसलर बनने की होती है । पर मैं नहीं सोचता था, वाइस चांसलरी के लिए मुझे इतना बड़ा समझौता करने के लिए कहा जाएगा । डॉक्टर मिश्रा मेरा विद्यार्थी है । आज तक मेरे सपने यदि किसी, विद्यार्थी ने साकार किए हैं तो डॉक्टर मिश्रा ने । डॉटक्टर मिश्रा विद्वान है, अत्यन्त प्रखर बुद्धि का है... और एक प्रभावशाली शिक्षक है । अनूपशंकर तिकड़मी है, पढ़ने–लिखने से उसका कोई वास्ता नहीं । वह युनिवसिर्टी में आकर राजनीति फैलाएगा । वह आकर डॉक्टर मिश्रा के सिर पर बैठना चाहता है और नजराने में मुझे वाइस चांसलरी दी जा रही है ।''*[१७६]

विबुधों के लिए विद्याधाम ही तीर्थधाम है । प्राचीन समय में तीर्थधाम के जितने आदर, श्रद्धा और पवित्रता के भाव से विद्याधामों को देखा जाता था । जहाँ राजा की भी सत्ता समाप्त हो जाती थी और वह 'विनीतवेशेण' नम्र बनकर प्रवेश करता था । आश्रम के नियमों का पालन आम व्यक्ति की तरह करता था । आज परिस्थिति सर्वथा विपरीत एवं विद्रूप नजर आती है । समसामयिक दौर में भ्रष्ट राजनीति और राजनीतिज्ञों ने ऐसे विद्याधामों में प्रविष्ट होकर इसकी मान–मर्यादा और अनुशासन को नष्ट कर दिया है । विद्या की पवित्रता को ताक पर रखा है । समसामयिक राजनीति से पुष्टि पाकर अमानुषिक तत्त्वों के भय और आतंक का माहौल सर्जित कर दिया है । इस बात का निर्देश नाटककार ने 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में किया है । प्रोफेसर अरविन्द द्वारा प्रेसिडेंट के लड़के राजकुमार को नकल करते हुए पकड़े

जाने पर सारे शहर में हंगामा मच जाता है । वजह यह है कि राजकुमार शहर का सबसे बड़ा गुण्डा है और वह किसी भी वक्त अरविन्द की हत्या भी कर सकता है । इस घटना को लेकर प्रोफेसर अरविन्द पर मित्र, पत्नी और प्रिंसिपल के जरिए दबाव डाला जाता है ।

''यदू : जानती हो, आज इसने प्रेसिडेंट के लड़के को ही नकल करते हुए धर दबोचा ।

लीला : यानी राजकुमार को ?

यदू : हाँ, राजकुमार को । शहर के सबसे बड़े गुण्डे को । (विराम । अरविन्द से) सब कुछ जानते हुए भी तुम्हारी अक्ल पर पत्थर क्यों पड़ जाते हैं ?

अरविन्द : छुरा सामने रखकर नकल जो कर रहा था, केसे छोड़ देता ?

यदू : अब तुम्हीं बचे हो, साले, ईमानदारी और सच्चाई की औलाद । आराम से रहना किस्मत में बदा हो, तब न ।''[८०]

एक सच्चे, ईमादार एवं आदर्शवादी प्रोफेसर की दुविधा इससे बढ़कर और क्या हो सकती हे ।

शिक्षा जगत में बढ़ते अपराधीकरण ने उसकी विश्वसनीयता के सामने प्रश्न–चिह्न लगा दिया है । सड़कछाप, भ्रष्ट–चरित्र राजनीतिज्ञ या बड़े लोगों के विरोध में खड़े रहकर ईमानदार अध्यापक केवल सज़ा–ए–मौत पाता है । अध्यापको की इस दयनीय हालत और असुरक्षा पर यदू सवाल उठाते हुए आक्रोश प्रकट करते हैं – *''विमलेन्दु का साथ किसने दिया ? सब बुजदिलों की तरह घर बैठे रहे । गुण्डों ने बीच चौराहे पर उसकी जान ले ली – क्या हुआ ? उसने भी एक बड़े आदमी के लड़के को नकल करते पकड़ा था । एक तो आदमी गवाही देने जाता सब साले दुम दबाकर बैठ गए ।''*[८१]

अध्यापर समुदाय पर हो रहे अत्याचार से वह खुद क्षुब्ध है । अपनी शालीनता का ख्याल करते हुए वह चुपकीदी साधे हुए है । किन्तु इससे लोगों की धारणा बदली है कि यह समुदाय कभी क्रान्ति नहीं कर सकता ।

वस्तुतः शिक्षक नाम ही निरीहता का पर्याय हो गया है । 'बेचारा मास्टर' कहकर उसे सम्बोधित किया जाता है । छात्र, प्राचार्य, व्यवस्था, प्रशासन आदि जाने कितने शूरवीर हैं जिनके व्यूह में फँसा अध्यापक अपने जीवित की रक्षा का प्रयत्न करता है । प्रिंसिपल कहता है, *''... जान है तो जहान है । जान तो बचानी होगी । छिः । क्या दिन आ गए हैं । मास्टर की जान भी खतरे में ।''*[२] समसामयिक शिक्षानीति शिक्षाविदों के हाथ में न रहकर अंगूठे–छाप राजनीतिज्ञों के हाथ में चली गई है । अतः वह गम्भीर व सिरदर्द समस्या बन गई है । राजनीतिज्ञों ने शिक्षाक्षेत्र को भी व्यापार का केन्द्र बना दिया है । कॉलेज खोलना उनके लिए दुकान खोलने के बराबर है । और ऊपर से अध्यापकों को डराना, धमकाना उन पर रौब जमाना उनका पेशा बन गया है । ऐसा दुर्व्यवहार प्रामाणिक अध्यापकों के स्वाभिमान को आहत कर देता है, *''अब किस–किस से डरूँ, लीला ? कॉलेज को दुकान की तरह चलाने वाले उस प्रेसिडेंट से ? (विराम) अँगूठा–छाप कमेटी–मेम्बरों से ? चुगली खाने वाले अपने सहयोगियों से ? (विराम) उस लिजलिजे बेहूदे प्रिंसिपल से ? विद्यार्थियों से ? क्या पूरी उम्र डरते ही रहना होगा ?''*[३]

यह निर्विवाद सत्य है कि शिक्षा संस्थानों के संचालकों को नियत अब साफ नहीं रही है प्रत्युत्शुद्ध अर्थवादी बन चुकी है । उनके शिक्षा–संस्थानों को खोलने और चलाने में दिलचस्पी होने की मुख्य वजह अर्थोपार्जन है, न कि सेवा भावना । ग्रान्ट के पैसों को व्यापार में लगाकर वे रुपए बटोरते हैं । पदासीन अधिकारी साम–दाम–दण्ड की नीति आजमाकर वे अपना ही उल्लू सीधा करते हैं और यदि अधिकारी से किसी बात पर तन जाय तो उस पर गबना का आरोप लगाकर वही फन्दे में फाँसने में तनिक संकोच भी नहीं करते । प्रेसिडेंट प्रिसिम्पल अरविन्द पर सरकारी रुपए गबन करने का आरोप लगाकर उनकी भलमनसाई पर अट्टहास करता है – *''मिस्टर अरविन्द, आप पर पन्द्रह हजार रुपयों के गबन का आरोप है ।''*[४] कल तक सब कुछ एडजस्टमेंट था, अण्डरस्टैंडिंग थी । पर विरोध करते ही गबन हो गया ।

वैयक्तिक स्वार्थ और सुविधा की भावना प्रबल हो जाने से आज शिक्षा जीवन–दायिनी न रहकर केवल व्यवसायलक्षी बन गई है । यह बड़े अफसोस की बात है । अध्यापक मात्र अभ्यासक्रम तक सीमित रह गया है । पाठयक्रम को पूरा कर वह अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है । विद्यार्थियों को जीवनोपयोगी शिक्षा नहीं दे पाता जो अभ्यासक्रम के अलावा भी दिया जा सकता है । विमलेन्दु की आत्मा उदीयमान अनुशासनहीनता, असंस्कारिता और उद्दण्डता के लिए कारणभूत शिक्षकों की उदासीनता को मानते हैं तथा सांप्रत शिक्षातन्त्र की पतनोन्मुख अवस्था के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, *''तुम उसके लिए कब सच बोले ? जानते हो तुम्हारे हर झूठ ने उसके हर विश्वास को गहरे धक्के दिए । कुछ मिलाकर शिक्षक के रूप में तुमने उसे क्या दिया ? अर्थशास्त्र पर भाषण । माल्थस, पीगू और केन्स के सिद्धान्त । ये तो किताबों से भी पढ़े जा सकते थे । सवाल है, तुमने क्या दिया ? क्या ऐसा कुछ दिया तुमने जो उसने जीवन को अर्थ देता ?''*[६५]

कुल मिलाकर शिक्षा–संस्थानों की स्थिति समसामयिकता के सन्दर्भ में घिनौनी राजनीति के हस्तक्षेप से दुर्दशाग्रस्त बन गई है । शिक्षा के पीछे छिपी उदात्त कल्पना का नामो–निशान मिटता जा रहा है । महाविद्यालय या विश्वविद्यालय की दशासुधार पाना अब किसी के बश की बात नहीं रह गई है । डॉ. शेषजी शिक्षा–क्षेत्र की विसंगतियों के मूक दर्शक नहीं रहे हैं प्रत्युत् उन्होंने इन्हें अपने नाटकों का कथ्य बनाया है, शिक्षा परिसर की हलचलें उनकी कथा का आधार बनी हैं ।

❀ चापलूसी :

अपने स्वामी या अधिकारी के अतिश्योक्तिपूर्ण स्वस्तिवाचन को चापलूसी या खुशामद कहते हैं । चापलूसी काम निकलवाने का अमोप अस्त्र है । निन्दा से आदमी खीजता है लेकिन खुशामद से आदमी रीझता है । राजनीति में इसकी उपादेयता निर्विवाद है । चापलूसी के कारण सारा शासनतन्त्र सच्चाई और ईमानदारी से च्यूत होता जा रहा है । चापलूसों की जमात चमचागीरी

करके अपने स्वार्थ पूरे करना चाहती है । खुशामदखोरी ने धीरे–धीरे यह दृढ़ धारणा बना ली है कि कार्य निष्पादन–कला का कोई मूल्य नहीं है, मूल्य है चापलूसी का । 'बन्धन अपने–अपने' नाटक में डॉ. शेषजी ने इसे अलग–अलग कोणों से निरूपित किया है । चन्दन अनादि को समझाते हुए कहता है कि आजकल लोग दूसरों का ध्यान अपनी और आकृष्ट करने के लिए तरह–तरह के नूसखे अपनाते हैं – *''विज्ञापन तो दूसरा तरीका है, तुमने देखा नहीं लोग अपना ट्रांसफर रुकवाने के लिए एक ओर सेक्रेटरी की खुशामद करते है तो दूसरी ओर मन्त्री से दबाव डलवाते हैं । मैं खुशामद करता हूँ, तुम दबाव डालो ।''*[६] सख्त और तेज–तर्रार स्वभाववाले अधिकारी को वशीभूत करने के लिए खुशामद रामबाण इलाज है । वैसे भी ऐसे अधिकारियों की अपनी कमजोरियाँ होती हैं । उसके निकटवर्ती लोग उन कमजोरियों का पता लगाकर निजी स्वार्थसाधन के लिए इसका उपयोग करते हैं । चन्दन के अधिकारी कटारियाजी की पत्नी 'होठ सौन्दर्य प्रतियोगिता' में अव्वल नम्बर पाने के लिए फ्रेन्च कम्पनी के बनावट की लिपिस्टिक के लिए अपने पति पर दबाव डालती है । कटारियाजी की परेशानी दूर करने पूरी मशीनरी कार्यरत हो जाती है, क्योंकि डिप्टी–डायरेक्टर बनने के लिए मिसेज कटारिया की इच्छापूर्ति करना खुशामदियों के लिए यह परम सौभाग्यशाली अवसर है । हर कोई इसे पूरा करने में लगे हैं । अनादि को लिपिस्टिक और डिप्टी–डायरेक्टरी का चक्कर समझ में नहीं आता । चन्दन उस चक्कर को समझाता है – *''बेटा पूरी मशीनरी इसी काम में लगी है । हमारे दफतर में इस समय कोई काम नहीं हो रहा... कटारिया दिन भर लिपिस्टिक के ख्याल में डूबा रहता है, उसका डिप्टी हर आधे घंटे में आकर पूछता है एनी इन्फार्मेशन एबाउट दि लिपिस्टिक सर ?''*[७] *''और जानते हो, उस चौथी लिपिस्टिक की खोज में कौन–कौन लगा है... मैं कमलनारायण और प्रेमकुमार । और लिपिस्टिक लाने का पुरस्कार जानते हो क्या डिप्टी–डायरेक्टरी... ।''*[८]

संशोधन पदवी या तरक्की के लिए रिसर्च–स्कालर्स पढ़ते कम हैं । अपने गाइड की सेवासुश्रूषा और घरेलू आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए

तत्पर ज्यादा रहते हैं । यह दुनियादारी या व्यावहारिकता जो जितना जल्दी सीख लेता है, पदवी भी जल्दी नसीब हो जाती है । अनादि चेतना को प्रवर्तमान स्थिति की ओर ईशारा करते हुए मजाक ही मजाक में पी–एच.डी. की डिग्री हाँसिल करनेवाले चापलूसों के प्रति परोक्षतः तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं –

''चेतना : अनादि,तो क्या डॉक्टर साहब आज भी नहीं आएँगे ? मैंने जन्मदिन पर उनका अभिनन्दन करने के लिए जो हार खरीदा है, उसका क्या होगा ?

अनादि : हार तो तुम उनकी तस्वीर को भी पहना सकती हो । प्रत्यक्ष खुशामद से परोक्ष खुशामद का अधिक प्रभाव पड़ता हे । तुमने पीएच.डी. जल्दी लेने का तरीका अच्छा निकाला है ।

चेतना : (बनावटी नाराजगी) अनादि !

अनादि : अच्छाभाई माफ करो । मैं तो वही बात कह रह था, जो आम तौर पर विश्वविद्यालय में हो रही है । रिसर्च स्कालर्स अब पढ़ते कम हैं, अपने गाइड के यहां की सब्जी अधिक लाते हैं और उनके पुत्रों को सैर अधिक कराते हैं ।''[६]

अधिकारियों के पास रहने से क्या फायदा होता है यह तो कोई चमचा शिरोमणि ही बता सकता है । ईमानदारी और स्वमेहनत से तरक्की करनेवाला सिद्धान्त समसामयिक युग में काल बाह्य हो चुका है । अब तो काम से एनर्जी बचानेवाला और अफसर की खुशामद करनेवाला ही प्रमोशन पाता है । चन्दन खुशामदकला में सिद्धहस्त हो चुका है । यही तो कारण है कि वह क्लर्की से सिर्फ ५ वर्षों में गेजेटेड आफिसर बन बैठा है । उसकी तुलना में ईमानदारी और तेजस्वीता दिखानेवाला मोहनलाल जहाँ का तहां रह गया । *''इन दिनों जिसने काम किया, वह मरा । जिसने ईमानदारी दिखाई, उसने अपने हजारों दुश्मन पैदा किए । सबसे ताजा उदाहरण तो मोहनलाल का है । बेचारा दिन–रात काम करता था । पहले दर्जे का ईमानदार पर क्या हुआ ? उसे अपनी राजनीतिक तिकड़म और बहुत से दूसरे धन्धों से हटाकर सन्तोष मिश्रा*

जैसा तिकड़मी और चालु आदमी रातो–रात क्लास वन आफिसर बन बैठा । तो भैया काम करके मुझे मुसीबत मोल नहीं लेनी है । पुराना गणित खतम । अब काम से एनर्जी बचाकर तिकड़म में लगाओ – अफसरों की खुशामद करो मंत्रियों का स्वास्थ्य भले अच्छा हो, फिर भी जाकर पूछो कि आपका स्वास्थ्य कैसा हे ? पता लगाओ कि किस अधिकारी या उसकी पत्नी का कौन–कौन सा शौक है । उसे पूरा करो और प्रमोशन लो । मेहनत और ईमानदारी से प्रमोशन लेनेवाला सिद्धान्त अब उन्नीसवीं शताब्दी के ऐतिहासिक महत्त्व की बात हो गई है ।''[६०]

साधारणतया खुशामदखोरों का कोई स्वाभिमान नहीं हुआ करता । स्वाभिमान को चोट करनेवाली कैसी भी स्थिति में वे निरुपद्रवी बनकर जीने के अभ्यस्त होते हैं । घटिया से घटिया काम करने में उन्हें संकोच नहीं होता । पदोन्नति के लिए वे सबकुछ न्यौछावर कर देते हैं । चन्दन अनादि के द्वारा एक और लिपिस्टिक–खोजी कमलनारायण के बारे में पूछे जाने पर बतलाता है – *''उनमें से कमलानारायण तो हार कर बैठ गया । प्रेमकुमार अभी भी लगा हुआ है । वह इस ताक में है कि किसी तरह राजकुमारी ऑफ बेलसोंडा की लिपिस्टिक गायब कर दी जाए । इसलिए प्रेमकुमार आजकल राजकुमारी की नौकरानी से इश्क लड़ा रहा है । उसी के ड्राइवर को पैसा खिला रहा है ।.... प्रेमकुमार को तुम नहीं जानते । वह तो वक्त पड़ने पर अपने अफसर का कमोड भी उठा सकता है ।*[६१] 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक का प्रिंसिपल लड़ने की अपेक्षा झुकने की नीति पर पाई गई सिद्धि पर गर्व करता है, *''अब अपनी तारीफ अपने मुँह क्या करूँ । तीस साल नौकरी की पूरे तीस साल । चुंगी नाके के मुहर्रिर से बढ़ता–बढ़ता प्रिंसिपल हो गया । लड़ता तो क्या बनता ? लड़ो मत–झुको । सोचो मत–मानो । समझी ? तो समझनाना । मैं चलता हूँ ।''*[६२]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि चापलूसी ने सम्पूर्ण शासनतन्त्र को दिग्भ्रमित कर दिया है । इसके साथ–साथ भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, कामचोरी जैसे संक्रामक रोग भी व्यापक बना है ।

❀ न्याय प्रणालिका :

हमारे संविधान में सबको न्याय दिलाने की बात कही गई है । देश का नागरिक अपने अधिकार की रक्षा के लिए न्यायालय में जाता है । अर्नेस्टो लैण्डी के अनुसार *''न्याय सच्ची और पक्षपात शून्य कानून की व्याख्या है ।''*[६३] *''वह विवेकपूर्ण एवं समदर्शी है, इसलिए हर आम और खास को सम्पन्न नजर से देखता है, दोनों के प्रति उसका व्यवहार समान रहता है । प्रसिद्ध न्यायविद् पेरलमेन भी अपने विचारों में यही संकेत देते हैं ।''*[६४] हमारे देश के सभी मुख्य कानून जैसे भारतीय दण्डप्रक्रिया संहिता, भारतीय दण्ड संहिता या साक्ष्य अधिनियम तथा अन्य कई कानून ब्रिटिश साम्राज्य की देन हैं । इन कानून का ढाँचा इस उम्मीद से तैयार किया गया कि उसने ब्रिटिश साम्राज्य की जडें, मजबूत हो और उनका शासन मजबूत हों । इस कानून की रचना का यह आशय बिल्कुल नहीं था कि उनसे भारतवासियों को समुचित न्याय मिल सके । उनको सम्मानित जीवन जीने के रास्ते मिलें तथा देशवासियों को सरलतम रीति से अल्पकाल में सस्ता और सम्मानजनक न्याय प्राप्त हो सके । कानून और न्याय दोनों ही व्यक्ति के अधिकारों के संरक्षण के शब्द है । लेकिन प्रश्न यह उठता है कि आज के परिवेश में यह शब्द कर्तव्य–निष्ठा की दृष्टि से कितने खरे उतरते हैं । देश का सामान्य जन इनके सहारे निर्भय होकर जीवन–यापन कर भी पा रहा है अथवा नहीं ? वास्तविकता इसके बिलकुल विपरीत है । 'न्याय' शब्द अपने अर्थ की गरिमा खो चुका है । कानून आम आदमी के हितों की रक्षा सदृश नैतिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह न करके उसका भक्षक बन चुका है । नाटककार ने न्याय प्रक्रिया की जटिलता, पेचीदगी, दीर्घकालीनता, कानूनों की पुरातनता, झूठी–गवाही, वकीलोंकी तिकडमबाजी पर दृष्टिपात किया है और इनकी कमजोरियों को उजागर किया है ।

डॉ. शंकर शेष का 'फन्दी' नाटक मर्सीकिलिंग के मुदे को उठाते हुए हमारी स्थापित न्याय व्यवस्था की जड़ता का संशोधन करता है । साथ ही यह प्रश्न पूछता हे कि कानून मनुष्य के लिए है या मनुष्य कानून के लिए ? जिन बिमारियों का कोई इलाज नहीं है, उनके मरीज को अपनी जिन्दगी खत्म करने

का अधिकार क्यों नहीं ? फन्दी का वकील (गंगानाथ बैरिस्टर की तरह) तत्कालीन कानून व्यवस्था के सामने बदलती हुई परिस्थिति के सन्दर्भ में कानून की पत्थर सदृश जड़ता को तोड़ने की माँग करता है – *''मैं अदालत से पूछना चाहता हूँ कि क्या कानून का सम्बन्ध मनुष्य की केवल बाहरी व्यवस्था से है ? क्या कानून का मनुष्य की भीतरी व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या कानून मनुष्य के लिए है या मनुष्य कानून के लिए है ? कानून का जन्म योर ऑनर, मनुष्य को अन्याय, अत्याचार और तकलीफ से छुटकरा देने के लिए हुआ है ।.... कानून यदि स्थिर और पत्थर की तरह जड़ हो जाए तो समाज की बदलती हुई परिस्थितियों में वह न्याय नहीं दे सके.गा । इन्हीं अदालतों में पुराने कानून की नई व्याख्या को हमेशा जन्म मिलता है ।.... वह मनुष्य को ऐसी असाध्य पीड़ा से छुटकारा पाने की सुविधा क्यों नहीं देता ?.... योर ऑनर, मेरा विश्वास है कि यदि पशु मनुष्य की करुणा का अधिकार हो सकता है तो मनुष्य भी हो सकता है ।''*[६५]

हजारों मुवक्किल ऐसे होते हैं जिनको प्रशासन संगीन जुर्म के आरोप में गिरफतार करके जेल में ठूँस देता है । ऐसे निर्धन, बेसहारा मनुष्य योग्य न्याय पाने के लिए वकील नहीं लगा सकते । क्योंकि वकील लगाने के लिए पैसे चाहिए । फन्दी वकील भगतराम से कहता है *''नहीं, वकील साहब, इसमें जरूर कोई गड़बड़ी हे । मैं कहाँ से वकील लगा सकता हूँ... अब आप सोचिए न । वकील लगाने के लिए मेरे पास पैसा होता तो मो बाप क्यों मरता ?''*[६६] आम आदमी के लिए कौन वकील, कौन बालिस्टर – वह कुछ भी नहीं जानता । इसकी जानकारी तो पेशेवर चोर को होती है । फन्दी का यह व्यंगय वचन खानदानी चोर और खानदानी वकीलों के बीच के आपसी रिश्तों को अनावृत्त करता है – *''सच बताऊँ वकील साहब, मैं किसी वकील–बालिस्टर को नहीं जानता । मैं कोई खानदानी चोर नहीं हूँ । खानदानी चोर ही खानदानी वकीलों को जानते हैं ।''*[६७] यह सही है कि कानून की गुत्थियों से आम वर्ग अनभिज्ञ है । कानून की उसे तनिक भी जानकारी नहीं

होती । इसकी जानकारी उन लोगों को होती है, जिनको रोज–बरोज इसकी जरूरत पड़ती हो । 'आधी रात के बाद' नाटक में चोर (राजकुमार) जज से कानून जाननेवालों की गिनती कराते हुए व्यंग्य में कहता है – *''अब मजूरी है सर । अब कानून कौन जानता है... एक वो जो उसे बनाता है । लेकिन वो बहुत जल्दी खुद ही भूल जाता है । दूसरा कानून बनाने की जल्दी होती है न सर... दूसरा वो जो उसे तोड़ता है । यानी मैं और मेरे छोटे–बड़े जात–भाई । तीसरे पुलिस, दरोगा वगैरह । कानून नहीं जानेंगे वो बेचारे दफा–वफा कैंसे लगाएँगे । और चौथे वकील... उनका तो धन्धा है बेचारों का ।''*[६८]

न्यायालय से व्यक्ति न्याय की अपेक्षा रखे यह अत्यन्त स्वाभाविक है । लेकिन यह न्याय पक्ष–विपक्ष की दलीलों और गवाहों की गवाही पर अवलंबित रहता है । यदि गवाह सत्य के नाम पर झूठी गवाही देता है तो भी न्याय की सम्भावना धुन्धली पड़ जाती है, उचित न्याय नहीं मिल पाता । क्योंकि न्यायाधीश केवल कागजी सबूत और गवाही के अभ्यस्त हो चुके होते हैं । 'फन्दी' नाटक के फन्दी का दोस्त हसरत, जो उसकी घरेलू समस्याओं से सुविदित होने के बावजूद अदालत में झूठी गवाही देता है, *''तुम्हें तो अपने दोस्त हसरत पर बहुत भरोसा था । तुम तो कहते थे कि वह तुम्हारी ओर से बोलेगा ।... पर ... वह तो बिलकुल खिलाफ बोल रहा था । वह तुम्हें शराबी बता रहा था । स्मगलर बता रहा था । और तो और, उसने कोर्ट के सामने कहा कि तुम हमेशा अपनी औरत और अपने बाप से मारपीट करते थे ।''*[६९]

संस्कृत में एक उक्ति है 'अतिपरिचये अवज्ञा' अर्थात् जिसके प्रति अति परिचय है उसके प्रति हमारे मन में धीरे–धीरे अवहेलना पैदा होती है । यह बड़े अफसोस की बात है कि कानून जैसी अत्यन्त गम्भीर और गुह्य मानी जानेवाली व्यवस्था की अवहेलना कानून विशेषज्ञों के द्वारा ही होती है । वे अपनी कानूनी ज्ञान का उपयोग रुपये अर्जित करने में, गुजहगारों को सुरक्षा

कवच दिलाने में एवं उनका ध्यान कानूनी क्षतियों के प्रति आकर्षित कर गुनाह का रास्ता दिखाने के लिए करते हैं । इस कड़वी सच्चाई को डॉ. शेषजी ने 'आधी रात के बाद' नाटक में चोर (राजकुमार) के माध्यम से कहलवायी है । साथ–साथ चोर का जागतिक ज्ञान और जज का अज्ञान निम्न उद्धरण में लक्षित होता है –

''चोर : इस बार मैं गलती नहीं कर सकता । वकील साहब ने पूरा प्लान बना के दिया है ।

जज : डोंट टेल मी दैट । चोरी करने से पहले वकील की सलाह ?... नहीं... अभी इस देश की हालत नहीं खराब हुई है ।

चोर : आप विश्वास नहीं करते तो मैं क्या करूँ ? पिछले महीने तक वकील साहब और मैं साथ थे । रोज का हमारा उठना–बैठना । मस्त आदमी हैं साहब । बाहर होता तो जाने कितना कमा लिया होता ।

जज : मतलब ?

चोर : वो आजकल भीतर हैं । पाँच साल के लिए मैं भी तो वहीं ... अरे पिछले महीने तक ।

जज : यानी... जेल का वकील ?

चोर : जेल का नहीं । जेल में वकील । अब जेल में भी तो सभी होते हैं सर । आप लोग ही तो भिजवाते हैं उनको । डॉक्टर, इंजीनियर, बैंकवाले, अफसर, अब किनका किनका नाम लूँ ! अब वकील पहुँच जाए तो इसमें क्या अचरज ।''[१००]

जिस देश की जनता अपने राजनीतिक अधिकारों से परिचित नहीं, वहाँ प्रजातन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता । दुर्भाग्य से हमारे देश और देश के असंख्य गाँवों की अभी तक वही स्थिति बनी है । जनता की निरीहता और निरक्षरता का अनुचित लाभ लोकप्रतिनिधि उठाते हैं । बहुमत के नाम पर वे जागृत और दूरन्दर्शी नागरिक की सरेआम अवहेलना करते हैं । किसी भी

प्रस्ताव को पारित करने बहुमत की आवश्यकता पड़ती है । यदि ऐसे प्रस्ताव को बहुमत मिल जाता है तो अल्पमत के लाख विरोध की कोई कीमत शेष नहीं रहती । लोकतन्त्र की इस सांविधानिक दुर्दशा को 'राक्षस' नाटक में रेखांकित किया गया है । रणछोड़दास की कुटिल समझौता–नीति के खिलाफ स्त्री (श्वेता) की आवाज को रणछोड़दास यह कहते हुए नाकाम कर देता है, *''बहुमत के खिलाफ–जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । उसका निर्णय हम सब पर बन्धनकारी है । उसके निर्णय को न मानना अब एक अपराध होगा । जनभावना का अपमान करना होगा... ।''*[१०१]

यही आज के न्याय के सम्मुख आम आदमी की वास्तविक नियति है, जो कि शेषजी के नाटकों में सुस्पष्ट स्वरों में मुखरित हैं ।

❀ निष्कर्ष :

तत्कालीनराजनैतिक परिस्थितियाँ नाटकों में अहम् भूमिका निभा रही हैं । आज भारतीय नागरिकों के सामने अपने राजनैतिक स्वाधीनता को बनाए रखने की जो चिन्ता है और जिसके लिए उन्हें एकता, शान्ति और शक्ति सम्पन्नता को स्थायी बनाने तथा निर्भय होकर विकास की ओर अग्रसर होकर शान्त और स्वच्छ वातावरण की जरूरत थी, लेकिन हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि अधिकांश सत्ताधारी राष्ट्र की तरफ ध्यान न देकर अपनी स्वार्थसिद्धि कर रहे हैं । जिससे न ही देशवासियों का भला हो सका और नहीं राष्ट्र का । व्यक्ति सत्ता के लालच में वह राष्ट्रहित–अहित को कुछ नहीं समझता, यहाँ तक कि अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दुश्मनों से समझौता करने में भी उसे कोई संकोच नहीं होता ।

यह निर्विवाद सत्य है कि व्यक्ति और व्यवस्था का संघर्ष इन्हीं तानाशाही प्रवृत्तियों के कारण सदा से होता रहा है । राजनैतिक व्यवस्था में सत्ता–स्वार्थ हेतु अनेक हथकण्डे अपनाए जाते रहे हैं । व्यक्ति–चेतना ऐसे कुटिल प्रयत्नों का शिकार बनना स्वीकार नहीं करती । इसीलिए विद्रोह का हथियार उठाती

है । इसी विद्रोह और स्वातंत्र्य की प्रबल कामना के फल स्वरूप धीरे–धीरे व्यवस्थाएँ बदलती हैं । हालाकि फिर भी संघर्ष की स्थिति हमेशा बनी रहती है । सत्ता–प्राप्ति के लिए ही नहीं अपितु सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए भी सत्ताधीश विविध दुष्चक्रों का प्रयोग करते हैं । साम–दाम–दण्ड और भेद की नीति के आजमाए जाने के पीछे भी उसकी पद–संरक्षक की ही भावना निहित रहती है ।

राजनीतिज्ञों के झूठे वादों एवं आश्वासनों ने जनता को दिशा विहीन बना दिया है । जनता चातकवत् उन वादों एवं आश्वासनों को साकार होने की प्रतीक्षा करती रहती है पर अन्त में उसे हथेली में चाँद दिखा दिया जाता है । कभी उनके आश्वासन सत्ता हथियाने के लिए साधन बनकर सामने आते हैं । जनता न हो उनके आश्वासनों को परख सकती है और न उनके राजनैतिक प्रपंचों को । वह भूल–भुलैया में भटकती रह जाती है । प्रशासन व्यवस्था प्रजा का पोषण करने की बजाए उसका शोषण करती है । शोषण मूल्क व्यवस्था ने जनता को सदैव ही उत्पीडित किया है । वहाँ ईमान, दया, सहानुभूति का तनिक भी अवकाश नहीं है । इस कारण जनता निरन्तर हताशा एवं नैराश्य से भर गई है । मानवीय भावनाएँ, मूल्य, विश्वास की प्रवृत्तियाँ विपर्यय की काल कोठरी में दम तोड़ रही है और मानवीय सम्बन्ध निचुड से गए हैं ।

पौराणिक युद्धों को आधार बनाकर आज की शासन–व्यवस्था को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी नाटककार ने किया है । जनता युद्ध इसीलिए नहीं चाहती क्योंकि युद्ध से केवल सर्वनाश होता है । परन्तु आक्रमणखोर हमला करके जनता में भय, आतंक और अत्याचार को फैलाकर साम्राज्यवादी शक्ति की नींव डालने में मशगुल दिख पड़ता है । चापलूसी के कारण सारा शासनपन्त्र सच्चाई और ईमानदारी से च्यूत होता जा रहा है । चापलूसों की अमात चमचागीरी करके अपने स्वार्थ पूरे करना चाहती है । शिक्षा में राजनैतिक हस्तक्षेप और अमानुषिक तत्त्वों के प्रवेश ने पवित्र वातावरण को भ्रष्ट बना दिया है ।

भाई–भतीजावाद को खुल्लेआम प्रश्रय मिल रहा है तथा अयोग्य व्यक्ति महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठने का अधिकारी बना है । न्याय क्षेत्र में जनता का शोषण हो रहा है । धन, सिफारिश व सामाजिक रूप से शक्तिशाली लोग न्याय को खरीद लेते हैं । चोर–बदमाश और गुण्डे एवं कानून को जाननेवाले कानून की कमजोरियों का भरपूर लाभ उठाते हैं तो फन्दी जैसे गरीब, निरीह और सच्चे व्यक्ति को निरपराध साबित होने के लिए छटपटाना पड़ता है ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

१	नवजागरण और इतिहास चेतना – सं. प्रदीप सक्सेना, ज्ञानरंजन, पृ.१२७
२	फ्रेमिंग ऑफ इन्डियन कान्स्टीटयूशन,बी. शिवाराव, पृ.५०
३	दिसम्बर, ६, पूनम दइया, पृ.११ (वातायन)
४	लहर, जनवरी, ६६, डॉ. देवीशंकर अवस्थी, पृ. २५–२६
५	दल परिवर्तनः जनतन्त्र, प्रकाशचन्द शास्त्री क,ख,ग जुलाई, १९६४, पृ.३०
६	मानवमूल्य और साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृ.६
७	हिन्दी वाड्मय बीसवीं शती, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ.१७
८	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १५३
९	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १५४
१०	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १७८
११	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १८०
१२	'अरे! मायावी सरोवर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. २२८
१३	'अरे! मायावी सरोवर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. २२८
१४	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. ४४५–४४६
१५	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. ४५२
१६	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १४२
१७	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १३२

१८	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२१
१६	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२२
२०	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२६
२१	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३६
२२	'पोस्टर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २६८
२३	'पोस्टर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३०१
२४	'पोस्टर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३१०
२५	'पोस्टर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३२१
२६	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४र३
२७	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४३३
२८	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४४७
२६	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. र७४
३०	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १४४
३१	'प्रजातन्त्र और राजनीतिक दल',निबन्ध सागर, कृष्णदेव शर्मा, पृ.२०५
३२	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३४

३३	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३६
३४	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३६
३५	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३६
३६	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १४५
३७	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२६
३८	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२६
३६	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३०
४०	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३६
४१	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १४२
४२	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १४८
४३	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १४८
४४	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२६
४५	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२६
४६	'कालजयी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२८

४७	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४२७
४८	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २८१
४६	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २६८
५०	'कालजयी और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १५६
५१	'कालजयी और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ.१७६-१७७
५२	'कालजयी और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १६१
५३	'कालजयी और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १७१
५४	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४३४
५५	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४५३
५६	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४५५
५७	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १४७
५८	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १५४
५६	'पोस्टर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३१४
६०	'पोस्टर' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३०८
६१	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४२६
६२	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १६४
६३	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १६४
६४	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १६५
६५	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४१६

६६	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २७५
६७	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २७४
६८	'फन्दी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३३
६६	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४५६
७०	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४५७
७१	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४५८
७२	'कोमल गान्धार' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ४६७
७३	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३२
७४	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२६
७५	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १२७
७६	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. १३१
७७	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २०३
७८	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २०४
७६	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २०५
८०	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २७१
८१	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २७२

८२	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २७५
८३	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २७३
८४	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३०३
८५	'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ३१६
८६	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २१०–२११
८७	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २१२
८८	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २१२
८६	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २२७
६०	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २३०
६१	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २३१
६२	'बन्धन अपने–अपने' शंकर शेष रचनावली, खण्डःदो, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. २७५
६३	*Jutice is the True and Impartial Interpretatioon of the Law : Ernesto Landi Contributed in A Glossary of Political Term,s, P. 48*
६४	*I think that .... that the rule of Justice is simply a requirement of reason that the same be said or done with respect to instances of the same kind, Perelmen.*
६५	'फन्दी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ६०
६६	'फन्दी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १६६०, पृ. ६४

९७	'फन्दी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १५
९८	'आधी रात के बाद' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. ३२६
९९	'फन्दी' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. ३५
१००	'आधी रात के बाद' शंकर शेष रचनावली, खण्डःतीन, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. ३२६–३२७
१०१	'राक्षस' शंकर शेष रचनावली, खण्डःचार, सं. डॉ. विनय, प्र. व. १९९०, पृ. १४६

❀❀❀

षष्ठ अध्याय

डॉ. शंकर शेष के नाटकों में सांस्कृतिक परिवेश

षष्ठ अध्याय
डॉ. शंकर शेष के नाटकों में सांस्कृतिक परिवेश

'संस्कृति' से तात्पर्य है, परिष्कार करना अथवा परिमार्जन करना । अर्थात् मानव के सदासद्गुणों का परिष्कार संस्कृति है । इस शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ के अतिरिक्त अधिक विस्तृत और व्यापक अर्थ में हो रहा है । परिमार्जन और परिष्कार के अतिरिक्त इसमें शिष्टता और सौजन्यता के भाव का भी समावेश हो गया है । डॉ. प्रसन्नकुमार आचार्य के शब्दों में – *''इसमें परिमार्जन या परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता एवं सौजन्य के भावों का भी समावेश हो जाता है ।''*[१] 'सभ्यता' उसकी निकटवर्ती संज्ञा है । कभी–कभी सभ्यता और संस्कृति के बीच भेद न कर पाने की स्थिति में 'सभ्यता' को ही 'संस्कृति' मान लिया करते हैं । जीवन का भौतिक आवश्यकताओं के लिए उपयोगी सृजनशीलता के रूप में मानव द्वारा उपलब्ध ज्ञान–विज्ञान, कला, साहित्य, नीति, कानून, प्रथाएँ और अन्य गुणों के समुच्चय का नाम संस्कृति है । सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के मत से *''मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसीको संस्कृति कहते हैं ।... मनुष्य ने जो धर्म का विकास किया, दर्शनशास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया, साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्कारों को विकसित किया, उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं ।''*[२]

❀ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :

स्वाधीनता प्राप्ति के साथ–साथ देश के सांस्कृतिक परिवेश में अनेकानेक परिवर्तन की सम्भावना खड़ी हो गई । त्याग एवं सेवा की उच्चतर भावना का निरन्तर हास होने लगा । आर्थिक दृष्टि से समृद्ध वर्ग आडम्बर, भौतिकता, कृत्रिमता और विलासिता की प्रवृत्तियों से ग्रस्त हुआ तथा नैतिक मूल्यों में गिरावट आई । भारतीय सांस्कृतिक जीवन की विशेषता 'भिन्नता में एकता' की

भावना को चोंट पहुँची । लोगों का आकर्षण सांस्कृतिक विरासत के प्रति कम हुआ । समाज को पाश्चात्य देशों की निकटता ने प्रभावित किया । आधुनिकता तथा फैशन के नाम पर विदेशी संस्कृति का अन्धानुकरण किया जाने लगा और हमारी संस्कृति के मूल तत्त्व समन्वय एवं सहिष्णुता की भावना क्षीण होने लगी । प्राचीन मूल्यों से टकराकर नवीन सांस्कृतिक मूल्य उद्‌घाटित हुएँ जो कि स्वाभाविक था क्योंकि, *''जीवन के साथ–साथ संस्कृति बदलती रहती है । जीवन स्थिर और जड़ नहीं है । समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहते हैं और साथ–साथ सांस्कृतिक जीवन भी बदलता रहता है ।''*[३]

दूसरी और पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति ने भी इस विचारधारा पर आक्रमण किया । परिणाम स्वरूप आस्तिक भावना का स्थान बुद्धि ने ले लिया । अध्यात्म के स्थान पर भौतिकवाद को चिन्तन का आधार स्वीकार किया गया और व्यक्ति की समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक रीति से होने लगा । *''भारत का सम्पर्क आधुनिक पश्चिम से हुआ जहाँ विज्ञान और भौतिक उन्नति ने धर्म की अधिकांश मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया । ईश्वर और धर्म का स्थान मानव ने ले लिया ।''*[४] इसी सन्दर्भ में आधुनिक बुद्धिवादी युग में दो विचारदर्शन सम्मुख आये–भौतिक समाजवाद । इसे मार्क्सवाद भी कहा गया । दूसरा दर्शन मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में फ्रायड़वाद । चूंकि इस दर्शन को वैज्ञानिक आधार फ्रायड़ ने प्रदान किया इसीलिए इसका नाम फ्रायड़वाद पड़ा । *''सिगमेन फ्रायड़ ने मानव प्रकृति का जो नया अभिज्ञान मनुष्यजाति को दिया उसने इस तथ्य का उद्‌घाटन किया कि मनुष्य की आधारभूत प्रकृति की व्याख्या से ही उसके मानसिक संसार को समझा जा सकता है । फ्रायड पर अपने युग के भौतिकवाद का जबरदस्त प्रभाव था और उसी प्रभाव के परिणाम स्वरूप वह यह प्रतिपादित करता है कि बाह्य प्रकृति के नियमों के समान ही आन्तरिक प्रकृति के नियम भी अनुलंध्य है ।''*[५] फलस्वरूप वर्तमान जीवन–दर्शन अर्थ एवं काम पर ही आधारित है । यहाँ तक कि आज तो हर सम्बन्ध में अर्थ एवं काम केन्द्रिय बन चुका है ।

एक ओर जहाँ वैज्ञानिक चिन्तन ने धार्मिक व्यवस्था में परिवर्तन किया वहीं दूसरी ओर धर्म–निरपेक्ष राज्य घोषित होने के कारण भी धार्मिक स्थिति में बदलाव आया है । धर्म–निरपेक्षता के कारण धार्मिक–कट्टरता में कमी आई है परन्तु उसका पूर्णतः ह्रास नहीं हुआ । धर्म के कर्मकाण्डी रूप का परिसंशोधन वैज्ञानिक चेतना की अमूल्य देन है, इससे धर्म का दुरुपयोग अटका । *''धर्म के दुरुपयोग के कारण हमें बहुत क्षति उठानी पड़ी है, यद्यपि हम उच्च स्वर से घोषित कर रहे हैं कि नर सेवा ही नारायण की सेवा है, लेकिन ऐसे मतों और ऐसी प्रथाओं को वहन करते आ रहे हैं, जो आसामाजिक हैं ।''*[६]

स्पष्ट है कि वैज्ञानिक चिन्तन ने शताब्दियों पुरानी अधिकांश मान्यताओं को तो समाप्त किया परन्तु इससे प्रभावित बौद्धिक–चेतना ने धर्म के नैतिक स्वरूप को भी नकार दिया । अतः व्यक्ति और समाज जीवन में बेईमानी और भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया । आध्यात्मिक मूल्यों की तीव्र आलोचना की जाने लगी । इसका प्रतिगामी प्रभाव हमारे सांस्कृतिक मूल्यों और हमारी आस्था पर पड़ा । स्वार्थ–सिद्धि और स्वहित व्यक्ति का लक्ष्य हो गया । नयी पीढ़ी का नवयुवक पश्चिम का अन्धानुकरण, शिक्षा की उपेक्षा, मुक्त यौनाचार तथा नशे में चकचूर हो अपनी वास्तविक पहचान भूल गया । *''सांस्कृतिक अस्मिता नकल से नहीं बनती, विदेशी मनोवृत्तियों और मनोभाव आयातित करके भी नहीं बनती । अपनी सही पहचान से बनती है ।''*[७] परिवर्तित चिन्तन, धर्म आदि से साहित्य एवं कला भी अछूते नहीं रहे । फलतः एक क्रान्तिकारी परिवर्तन साहित्य एवं कलात्मक क्षेत्र में भी हुआ ।

स्वतन्त्र भारत में व्याप्त विषमताओं से व्यक्ति के स्वप्नभंग हो चुके थे । लेखक एवं कलाकार की चेतना ने व्यक्ति की इस पीड़ा का अनुभव किया जिससे उसकी चेतना में सत्ता के प्रति आक्रोश व विद्रोह उत्पन्न हुआ, इसीकी अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्योत्तर कला एवं साहित्य में मिलती है । स्वातन्त्र्योत्तर कला एवं साहित्य भी जीवन की विषमताओं से जुड़ा हुआ है और जीवन विषमताओं का पुंज बना रहा है । अतः यथार्थ जीवन की ही अभिव्यक्ति कला एवं साहित्य में भी उपलब्ध है और इसी कारण उसमें अनास्था, निराशा, घुटन,

अकेलापन आदि प्रवृत्तियाँ मिलती हैं । निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत की सम्पूर्ण सांस्कृतिक स्थिति स्वतन्त्रता के बाद बदल गई है । सांस्कृतिक स्थिति समाज का ही एक अंग है इसलिए राष्ट्र की विषम परिस्थितियों से समस्त मानव–समुदाय का प्रभावित होना भी सहज है ।

कुल मिलाकर भारतीय समसामयिक सांस्कृतिक परिवेश में आए बदलाव ने डॉ. शेषजी में बैठे सांस्कृतिक पुरुष को विचलित कर दिया है । अतः उनकी नाट्यरचनाओं में समसामयिक सांस्कृतिक परिवेश के प्रति असन्तोष और क्षुब्धता के भाव अभिव्यक्त हुए हैं । तथापि युगजीवन की प्रभावपूर्ण व्यंजना उनके नाटकों में विद्यमान है ।

❀ *धर्म का स्वरूप :*

भारतीय संस्कृति में अतीत काल से ही धर्म का स्थान सर्वोच्च और महत्त्वपूर्ण रहा है । धर्म एक शक्ति भी है और विशवास भी । मनुष्य ने इस सृष्टि पर साँसे लेना शुरू किया, तब से धर्म अंकुरित और पुष्पित हुआ है । धर्म मानव हृदय की एक उच्च और उदात्त, पुनीत और पवित्र भावना है । मानवेतिहास में धर्म अब तक जीवन को नियंत्रित करनेवाली, प्रमुख सत्ता रहा है । जिस वृत्ति से मानव–जगत के लिए कल्याण का अभ्युदय हो, वह धर्म है । सद्वृत्ति को धारण करना तथा मानवीय स्वभाव पर अनुशासन करना धर्म है । धर्म मूलतः एक है इसका उद्देशय मानव–सेवा है । इसका प्रयोजन असत् पर सत् की विजय दर्शाना है । करुणा, क्षमा, परोपकार, अहिंसा, मानव–कल्याण आदि के भाव इसे सिंचित कर विशव में प्रेम और ममता का साम्राज्य स्थापित करने में सहायक बन सकते हैं । धर्म के नाम पर बुरे काम करने पर पतन अवश्य होता है । धीरे–धीरे धर्म के सिद्धान्तों में विकास उत्पन्न होने लगे । साधुओं, महात्माओं और पण्डितों में मिथ्याडम्बर की भावना भर गई । त्याग, सेवा, पथ–प्रदर्शन की भावनाएँ खत्म हो गईं । धीरे–धीरे ईश्वर–पूजा, व्यक्ति–पूजा में परिवर्तित हो गई । इस प्रकार जो धर्म, समाज को उन्नति की ओर ले जा रहा था, वह अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा में

बदलकर पतन का कारण बन गया । धार्मिक संकीर्ण मान्यता ने मानव को चारों ओर से घेर लिया । पण्डित, पुरोहित और धर्मगुरु यजमान को डराने, धमकाने लगे, उनसे धन अर्जित कर स्वर्ग में स्थान सुनिश्चित कराने लगे, जबकि आज के वैज्ञानिक युग में ऐसा नहीं होना चाहिए, परन्तु आज भी ऐसा होता है । धर्म के नाम पर धर्म के ठेकेदारों द्वारा मनुष्यों का क्रूर शोषण किया जाता है, उनके सामने स्वर्ग–नर्क का भयावह चित्र अंकित करके भयभीत किया जाता है । जैसा कि 'पोस्टर' नाटक में चित्रित किया गया है । अखण्डानन्द महाराज स्वामीभक्ति के साथ स्वर्गीय सुख और नरक की यातना को जोड़ते हुए मजदूरों पर धर्म का आतंक जमाते है – *''... स्वामीभक्ति करनेवाले को मिलता है स्वर्ग का सुख''*[८] और *''मालिक की खिलाफत करोगे तो दु:ख पाओगे ।''*[९]

प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति उसकी धार्मिक उदारता एवं न्याय के कारण विश्ववंद्य रही है । हमारे यहाँ ऐसे राजा–महाराजाओं का शासनकाल रहा है जिन्होंने धर्म–साधना और उपासना को लेकर प्रजा पर कभी दमन नहीं गुजारा है । वैश्विकेतिहास में ऐसे धार्मिक स्वायत्तता के उदाहरण मिलना विरल घटना है । संकीर्ण–मानसवाला एवं अनुदार राजा कभी इतिहास पुरुष नहीं बन सकता । नाटककार ने 'खजुराहो का शिल्पी' नाटक में राजा यशोवर्मन के द्वारा उक्त विषयक मन्तव्य प्रस्तुत किया है – *''राजा को इतिहास पुरुष बनाता है प्रजा का सुख... उसकी धार्मिक स्वतन्त्रता... न्याय... ।''*[१०] विभिन्न पंथो और धर्मों के मतावलंबियों के परस्पर के विरोध को समाप्त करने एवं परस्पर सौहार्द्र की भावना को विकसित करनेवाले उनके विचार प्रासंगिक लगते हैं, *''मैं इस धर्मनगरी में सभी पंथों के मन्दिर बनवाना चाहता हूँ ।... शिल्पी, एक ही अहाते में मैं सभी पंथों के मन्दिर बनाकर यह दिखा देना चाहता हूँ कि पंथों और धर्मों में आपसी विरोध नहीं है ।''*[११]

वर्तमान युग में एक ही धर्म की आवशयकता अनुभवित होती है और वह है मानवता का धर्म । जातियों की सीमाएँ कृत्रिम हैं जो हमें दुर्बल बनाने वाली हैं । मनुष्यता के टुकड़े करनेवाली हैं । स्वभावतः प्रत्येक मनुष्य एक ही

जाति का है, मनुष्यता ही उसका धर्म है । जहाँ तक मनुष्यता का सम्बन्ध है – ब्राह्मण, चमार, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी समझें तो यह उसका भ्रामक ख्याल है । 'बाढ़ का पानी' नाटक में बटेसर का नव्य मानवतावादी धर्म का आग्रह दृष्टिगोचर होता है, *''देख गनपत, न मैं बाम्हन हूँ, न मैं चमार; न मैं हिन्दू हूँ, न मुसलमान, न ईसाई हूँ न पारसी । पर मैं सब हूँ और कुछ भी नहीं हूँ । मैं बारी–बारी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई बनकर देख चुका हूँ, पर मुझे तो कोई फरक नहीं लगा रे ! और अब मैं कुछ भी नहीं हूँ ।''*[१२]

भारतीय वैदिक साहित्य में धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है – धर्म वह है जो हम सबको एवं सम्पूर्ण विश्व को धारण करता है । सामाजिक स्थिति के निर्माण में परम्पराएँ विशेष सहायक होने के कारण कलान्तर में परम्पराओं का पालन भी धर्म मान लिया गया । धर्म द्वारा शासित होने के कारण व्यक्ति धर्म एवं आनुषंगिक व्यवस्थाओं की रक्षा के लिए संनद्ध रहता था । उक्त तथ्य का उद्‌घाटन नाटककार ने 'एक और द्रोणाचार्य' में द्रोणाचार्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है । एकलव्य के सत्याग्रह पर गुरुदक्षिणा के रूप में द्रोणाचार्य उसके दाहिने हाथ का अंगूठा माँगते है तब अर्जुन के इस सवाल पर कि – 'एकलव्य से अंगूठा क्यों माँगा ?' द्रोणाचार्य उत्तर देते हैं – *''धर्म की व्यवस्था के लिए । जानते नहीं शूद्रों और वनवासियों को धनुर्विद्या की शिक्षा नहीं दी जा सकती ।''*[१३]

धर्म का सम्बन्ध मानव–कल्याण से है । राजनीति के साथ धर्म को सम्बद्ध कर देने से जन–समाज का व्यापक अहित होता है । धर्म ने राजनीति के साथ जुड़कर सदैव ही जनता का शोषण किया है । वस्तुतः राजनीति द्वारा कभी भी धर्म का हित नहीं हो सकता । धार्मिक अनुशासन का सरेआम उल्लंघन करनेवाला क्रूर शासक राज्य के क्रिया–कलापों से धर्म को जोड़कर, उसे राजनीति की धुरा बनाकर अपना कुत्सित प्रयोजन साधता है । 'कालजयी' में कालजयी (राजा) धर्म का इस्तेमाल निजी राजलिप्सा और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए करता है और भोली–भाली जनता की स्वस्थ मानसिकता को

पड़ोसी महादेश के विरुद्ध धर्मोन्माद से भर देता है, *''अब सोचने के लिए समय कहाँ है – झूठे प्रचार का तूफान उठाओ सेनापति । प्रचार करो कि हमारे देश पर महादेश की आँख है, यहाँ के धर्म और संस्कृति को नष्ट करना चाहता है और इसके लिए प्रचण्ड सैनिक तैयारी कर रहा है ।''*[१४] जनता के साथ छल–प्रपंच कर उन्हें वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ रखनेवाले निरंकुश शासक कालजयी की घृणित राजनीति का पर्दाफाश करते हुए न्यायकेतु का कथन है – *''धर्म के नाम पर आप द्वेष उत्पन्न करते हैं, घृणा उत्पन्न करते हैं । धर्म के नाम पर आप जनता की सामाजिक और आर्थिक आकांक्षाओं को पराजित करते हैं ।''*[१५] आज धार्मिक मान्यताएँ वैज्ञानिक प्रभाव एवं संशोधन के तहत परिवर्तित हो चली हैं । पूजा–पाठ, देवोपासना और ईश्वर विषयक चिन्तन एवं धार्मिक मूल्यों में भी अन्तर आया है । इसका सीधा प्रभाव जातिवाद एवं अस्पृशयता सम्बन्धी संकीर्ण मानसिकता पर भी पड़ा है । परम्परागत रूप से धार्मिक ठेकेदारी करनेवाले पण्डित, पूजारी और पुरोहितों के जात्यादिभेदबन्धन कुछ–कुछ ढीले हुए हैं । इसका तादृश चित्रण नाटककार ने 'बाढ़ का पानी' नाटक में किया है । अछूतों के मन्दिर प्रवेश पर आपत्ति जतानेवाले पण्डित ही उनके लिए मन्दिर के द्वार खुले रखने की घोषणा करता है –*''नहीं बटेसर, यह मन्दिर अब सबके लिए खुला रहेगा । मैं खुद खोलूंगा इस मन्दिर के द्वार सबके लिए... ।''*[१६] धर्म के साथ मन्दिर की संकल्पना और मन्दिर के साथ आध्यात्मिकता की संकल्पना मूलरूप से सम्बन्ध है । मन्दिर भारतीय आर्य संस्कृति की न केवल पहचान है और न केवल आरती पूजा, प्रसाद और कर्मकाण्ड ही हमारे पूर्वजों का इष्ट है, बल्कि उसके साथ मानव के आध्यात्मिक विकास की उज्जवल भावना सन्निहित है । 'खजुराहो का शिल्पी' में राजायशोवर्मन मन्दिर की आवशयकता समझाते है, *''चण्डवर्मा, क्या आप सोचते है कि सारा संसार योगियों और संन्यासियों से भरा पड़ा है ? पूरा संसार यदि इतने दृढ़ चरित्र लोगों का होता, यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य की इतनी ऊँचाई पर होता, तो न किसी धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता होती, न मन्दिरों की ।''*[१७]

परम्परागत मान्यताओं के आधार पर विभिन्न मानव वर्गों में अजीबो–गरीब रूढियाँ धर्म की आड़ लेकर पनपती रहती है, जिन्हें कोई वैज्ञानिक समर्थन प्राप्त नहीं होता । अतः वे अन्धविश्वास कहलाती है । किसी प्राकृतिक तत्त्व के वरदान अथवा अभिशाप पर पूर्ण विशवास रखना अन्धविश्वास का ज्वलन्त प्रमाण है । भोले अन्धविश्वासी ग्रामीण दैवीय प्रकोप अथवा वरदान पर विश्वास रखते हुए वस्तुस्थिति की तह तक नहीं पहुँच पाते । 'बाढ़ का पानी' नाटक में बाढ़ग्रस्त ग्रामीणों की सोच है कि बाढ़ आना दैवी प्रकोप है और यह दैवी प्रकोप बिना भोग लिए कभी शान्त नहीं होता । जैसे गनपत का यह कथन ग्रामीणों के मन में पड़ी अन्धविश्वास की स्थिति को उजागरित करता है *''इसमें घबराने की क्या बात है । ऐसा तो हर साल होता है । बीस–पच्चीस झोंपड़े बह जाते हैं, दस–पाँच ढोर, एक–दो आदमी फिर सब जस का तस । एक दो जीव लिए बिना नर्मदा मैया मानती थोड़ी है ।''*[१८] 'मूर्तिकार' नाटक का करोडीमल अपनी अन्यायार्जित सम्पत्ति को भगवती का आशीष मानता है । इसीलिए वह प्रत्येक पाषाण–प्रतिमाओं के सामने मस्तक झुकाकर उनका कृपा–प्रसाद चाहता है, *''अजी माता भगवती को कैसे नहीं करूँगा । इनके आशीष से ही तो बरकत है ।''*[१९] हालांकि उसका भगवती वन्दन तब हास्यास्पद बन जाता है जब शेखर उसे बताते हैं कि यह कोई देवी की मूर्ति नहीं, अल्हड़ स्त्री की मूर्ति है ।

धर्म निरपेक्ष व्यक्ति की कल्पना मुश्किल है । प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने धर्म से प्रभावित हैं । वह धर्म चाहे ईश्वर विषयक हो, चाहे कर्तव्य विषयक । परन्तु निजधर्म का पालन ही किसी भी प्राणी के लिए श्रेयस्कर होता है । समय, संयोग और परिस्थिति के अनुसार धर्म के प्रति एकनिष्ठ न रहने वाले युवकों को एवं पण्डित को लताड़ते हुए 'चेहरे' नाटक के भवानीजी कहते हैं – *''अगर विपत्ति के समय धर्म बदल जाए तो वह धर्म कैसा ? पण्डितजी, आप तो गीता जानते हैं । उसमें लिखा है – स्वधर्मे निधनं श्रेयः । यानी अपने धर्म में मर जाना उचित है ।''*[२०]

मोर्डन युग में पुराने आदर्शों और धार्मिकता को भी लोग भूलते चले जा रहे हैं ऐसे वक्त किसी व्यक्ति की आदर्श जीवन–प्रणाली जैसे संध्यापूजन, ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाना, शीतलजल से स्नान करना, बैठकें और डण्ड पेलना, गीता का पठन–पाठन करना एवं दिनभर सात्त्विक जीवन जीना आदि दिनचर्या पर किसी को आश्चर्य न हो तो ही शंका ह । 'नयी सभ्यता नये नमूने' में स्मृति कृष्ण के इस धार्मिक एवं आदर्श जीवनचर्या पर महद् आश्चर्य व्यक्त करती है, *''क्या कहा, गीता, पाठ ? आजकल का जमाना और गीता पाठ... विश्वास नहीं होता जी ... ।''*[२१] इस तरह का विस्मय होना धर्म विषयक मान्यताओं में हो रहे निरन्तर परिवर्तन है । कुछ लोग धर्म के नाम पर फायदा भी उठाते हैं । क्योंकि धर्म के नाम पर उल्टा–सीधा, गलत–सलत सबकुछ चलता है । जो भी सुनाया जाए, जो भी दिखाया जाए लोग सुनते हैं, लोग देखते हैं । इसलिए कि धार्मिक आस्था को भूला देना मानव के बस की बात नही । ऊधो सामाजिक, ऐतिहासिक फिल्म की अपेक्षा धार्मिक फिल्म निर्माण करने पर बल देते हुए इसके समर्थन में उचित तर्क प्रस्तुत करता है – *''धार्मिक चित्र बनाने के बहुत से फायदे हैं सर । एक तो फिल्म सस्ते में बनती है । दूसरे भगवान और धर्म के नाम पर खूब पैसा इकट्ठा होता है । इस देश में अभी अन्धश्रद्धा बहुत बाकी है सर । राधा, कृष्ण, हनुमान, रामचन्द्रजी आदि के नाम पर जितना चाहे कमा लीजिए । औरतें तो और मरती हैं, धार्मिक खेल देखने के लिए । उन्हें सिनेमा देखने अकेले नहीं जाने दिया जाता इसलिए घर के लोग भी देखते हैं । पर सामाजिक चित्रों में घर के मर्द औरतों को यह कहकर टाल देते हैं कि खेल औरतों के देखने लायक नहीं है ।''*[२२] ऊधो का यह अभिप्राय वस्तुतः धर्म को व्यापार का केन्द्र समझ पैसे बटोरनेवालों पर व्यंग्य है, जिनके गैर इस्तेमाल से धर्म आज आलोचना का विषय बना है । 'कालजयी' नाटक में नाटककार ने दर्शाया है कि मानव्य को कुचलनेवाला आततायी कालजयी भी धर्म और धर्मशास्त्र की दुहाई देकर अपनी काली करतूतों को ढँकने के साथ आगन्तुक को रीझाने की कैसी कोशिश करता है । – *''यह सच है मृत्युंजय कि मेरे राज्य में अन्याय नहीं है, किन्तु आप*

भूलते हैं, धर्मशास्त्रों में लिखा है कि न्याय करना राजा का कर्तव्य है । धर्मग्रंथों की लाज रखने के लिए ही मुझे न्याय करना होगा । सुन्दरी, तुम्हारा नाम क्या है ?''[२३] वस्तुतः भारतीय समाज में अतीत काल से ही धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । इसलिए इस मानसिकता को वह पूरी तरह नहीं छोड़ पा रहा है । अतः कहीं पर वह अन्धश्रद्धा को ही धर्म समझ कर पूजता रह गया है । परिणामतः चतुर और चालाक लोग धर्म की आड़ में उसका गैरफायदा बराबर उठाते रहे हैं ।

इस प्रकार धर्म का यह रुढ़िवादी रूप स्थायी नहीं रह गया है । इसमें द्रुतगति से परिवर्तन दृष्टिगत होता है । धार्मिक मान्यताएँ परिवर्तित हो चली हैं ।

❀ नैतिकताः परिवर्तन एवं पतन :

नैतिकता आचरण का प्रतिरूप है । *''नैतिकता अथवा आचार–नीति समाज के मानदण्डों या आचरण के नियमों के कुल जोड़ को कहते हैं, जो जनता के न्याय–अन्याय, अच्छाई–बुराई, मान–अपमान आदि सम्बन्धी विचारों को प्रतिबिम्बित करते हैं ।''*[२४] इस दृष्टि से नैतिकता एक सामाजिक आदर्श है । इसका लक्ष्य समाज में सुधारवादी दृष्टिकोण का विकास करना है । प्राचीन समय में धर्म और नीति में विशेष अन्तर नहीं था । लेकिन विज्ञान के विकास के साथ–साथ दोनों में पर्याप्त अन्तर आ गया है । वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास ने नैतिकता को नवीन दिशा प्रदान की फलतः पारम्परिक नैतिक–मूल्य परिवर्तित हुए । वर्तमान युवा पीढ़ी ने इन्हीं परिवर्तित नैतिक मूल्यों को अपने जीवन का आधार बनाया ।

''परम्परागत नैतिकता में संयम, सदाचार, सत्य, अहिंसा, दया, त्याग, पवित्रता आदि प्रमुख मूल्य थे । मानव जीवन पर इनका व्यापक प्रभाव था, परन्तु बदलते वक्त ने मानव के व्यक्तित्व पर इनके असर को कम कर दिया है ।''[२५] आज भी व्यक्ति की चेतना आदर्शों के समर्थन और उनकी रक्षार्थ निरन्तर संघर्ष कर रही है । हालाँकि यह संघर्ष अधुनातन परिवर्तित

जीवन–मूल्यों के युग में व्यक्ति को सिवाय घुटन के कुछ नहीं दे पाता है । और कभी–कभी तो उसे आसपास की दुनिया के दबावतले आकर अपने आदर्शों का गला घोंट देना पड़ता है । उस मर्माहत स्थिति से ऊबर नहीं पाता । 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक का नायक अरविन्द ईमानदार एवं आदर्शवादी प्रोफेसर है । वह अपने व्यवसाय को पवित्र मानता है और पवित्र रहने देने का पक्षधर है । परन्तु उनकी पत्नी लीला और मित्र यदू को उनका नौकरी को दाँव पर लगाकर आदर्श की रक्षा करनेवाला रवैया अच्छा नहीं लगता । वह प्रिन्सिपल के पद और सुख–सुविधा के लिए अरविन्द पर दबाव डालती है । अन्ततोगत्वा अरविन्द को पारिवारिक सुख–सन्तोष का विचार करके अपने नैतिक आदर्शों का बलिदान देना पड़ता है । उनकी आत्मा मर्माहत पीड़ा का अनुभव करती रह जाती है, *''कह तो रहा हूँ, आत्मज्ञान हो गया है मुझे । अपने क्षुद्र होने का आत्मज्ञान । सड़े हुए आटे में बिलबिलानेवाला कीड़ा होने का आत्मज्ञान । प्रेसिडेंट के फोन ने मुझे अपनी तसवीर दिखा दी । समझौते के फन्दे पर अपने आपको पचीसोंबार लटकानेवाला मैं... दूसरों की नकाब उतारने की कोशिश में खुद नंगा हो जानेवाला मैं... मुझ पर थूको... पच से थूको... ।''*[२६]

'मूर्तिकार' नाटक की ललिता के लिए नैतिकता ही सर्वश्रेष्ठ पूंजी है । विषम से विषमतर परिस्थिति से लोहा लेने के पीछे नैतिकबल और निष्कलंक चारित्र्य ही कारणभूत है । इस आधार पर तो वह मुंशी की अपने सेठ के लिए की जानेवाली अभद्र माँग को ठुकराने की दृढ़ता बनाए रख सकती है और उसकी मुस्कान ले जाने क लिए आए मुंशी के गाल पर जमकर एक चाँटा लगाते हुए कहती है – *''तो यह ले, नरक के कीड़े ! जा अपने मालिक से कह दे कि ललिता ने मेरे गाल पर ये निशान भेजे हैं ... नीच ! तू मुझे पैसे से खरीदना चाहता है । तू हमारी गरीबी का फायदा उठाना चाहता है... तो जा अपने मालिक से कह दे... कि दुनियाभर का पूरा सोना इकट्ठा करके भी ललिता के नख को नहीं छुआ जा सकता । जा, अपने सेठ को भेज दे ।... उसके गालों पर भी पाँच उंगलियों के निशान बनाकर उसके*

पापों का इतिहास न लिख दिया, तो मेरा नाम ललिता नहीं ।''[२७] नैतिक मार्ग का अवलम्बन लेकर नैतिक जिन्दगी जीना सचमुच कष्टकर है । एक तो आज की जटिल जिन्दगी और ऊपर से नैतिकता का बोझ आम आदमी की सोच को बदल देता है । वह दुनियाभर की जंजाल से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए सस्ता और आसान रास्ता खोज लेता है । और उस पर चलने लगता है । 'मूर्तिकार' नाटक के अन्य आदर्शवादी पात्रों में अनादि ऐसा यथार्थवादी पात्र हैं, जो आदर्श की ऊँचाई को लाँघने की अपेक्षा समस्या का तात्कालिक निरसन करनेवाला सीधा सपाट रास्ता अपना लेना अधिक श्रेयस्कर समझता है । ललिता के जरिए पूछे जाने पर वह नैतिक मार्ग पर चलने में अपने आप को असमर्थ बताता है, *''इसलिए भाभी कि यह आसान रास्ता है, आसान रास्ते की आदत पड़ने के बाद फिर ऊँचाई पर चढ़ना कठिन हो जाता है ।''*[२८]

नैतिकता का प्रयोजन मानव को सत्यदिशा या सद्वृत्तियों की ओर उन्मुख करना है । भारतीय समाज में त्याग, परोपकारिता और कृतज्ञता आदि आदर्श–मूल्यों की महिमा है और इनसे नैतिकता समाज में परिपुष्ट होती है । 'बिनबाती के दीप' की विशाखा अपने पति शिवराज के प्रति एहसानमन्द है । वह अन्धी होने के कारण पत्नीत्व की सभी जिम्मेवारियों को पूरा नहीं कर सकती । इस बात की उसके मन में ग्लानी है । यद्यपि पत्नी को पति के द्वारा किए गए उपकारों को याद करना जरूरी नहीं लगता फिर भी वह एक आदर्श नारी की भाँति उन उपकारों को याद करके कृतज्ञता ज्ञापित करती है, यह उसकी नैतिकता का ही परिचायक तो है – *''(भावुकता में) शिव, तुमने मुझे जीवित रखा, मेरी आत्मा को जीवित रखा । मेरी वेदना को तुमने हजारों लोगों तक पहुँचाया । तुम मेरे स्वामी, सखा, सभी बने । तुमने अपने कवि को समर्पित किया । तुमने अपने कण्ठ को अवरुद्ध किया । मैं हतभागिनी, तुम्हारे लिए कुछ न कर सकी । तुम्हें एक कप चाय भी बनाकर नहीं पिला सकी । तुम्हारे कोट में बटन तक नहीं टांक सकी । तुम्हारा सुनापन (विराम)... तुम्हारे आँगन का सूनापन भी नहीं दूर कर सकी । (विराम) कभी–कभी लगता है, मैं तुम्हारी पत्नी के रूप में एक निरर्थक जीवन जी रहा*

हूँ । शिव, तुम्हारी तपस्या एक–एक क्षण मेरे ऊपर उपकार का बोझ बनता जा रहा है ।''[२६] जिस प्रकार त्याग, तपस्या, उपकारिता और कृतज्ञता आदि मानवीय गुण नैतिकता की परिधि में आते हैं तो यश प्राप्ति, अर्थप्राप्ति के लिए की जानेवाली बेईमानी, धोखाधडी अनैतिकता है । यश एवं अर्थ प्राप्ति के लिए छटपटाने वाला शिवराज अनैतिक आचरण करते हुए लज्जित नहीं होता । उसने अपनी पत्नी पर एहसान ही सहेतुक किया है क्योंकि वह उसके लिए सोने के अण्डे देनेवाली मुर्गी तुल्य है – *''तुम तो जानती हो मंजू, आदमी जब एक क्षण मोह में फँस जाता है तो फँसता ही चला जाता है । मैं कवि था । तुम जानती हो, मैं कवि के रूप में कभी अखिल भारतीय प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता था । मुझे साहित्यिक यश की भूख थी ।... मेरी इस यश की भूख ने मुझे बेईमान बना दिया । मुझे क्या पता था कि पहले ही उपन्यास का इतना स्वागत होगा । उसकी हजारों प्रतियाँ बिकीं । एक साल में उसके चार संस्करण निकले । पैसा बरस गया, हर कहीं उसकी चर्चा हुई, और मैं रातो–रात हिन्दी का श्रेष्ठ लेखक बन गया ।... अन्धी विशाखा मेरे लिए सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी बन गई ... ।''*[३०]

नैतिक पथ से विचलित होने की कसक कैसी होती है, इसे परिभाषित करना अत्यन्त मुश्किल है । यह कसक किसी शीलवती के शीलभंग के जितनी दारुण होती है । 'एक और द्रोणाचार्य' में नाटककार ने द्रोणाचार्य के नैतिक अधःपतन के बाद की दारुण स्थिति का बड़ा हृदयद्रावक निरूपण किया है । ये राजकीय सम्मान और भौतिक सुविधा उनके आदर्श, स्वाभिमान और तेजस्वीता को वापस लौटा नहीं सकते । वे अपने अधःपतन के लिए कृपी को दोषित मानते हुए भीतर में अकुला रही टीस को वाचा देते है – *''वह दिन था । उस दिन भूख मेरे सिद्धान्त से बड़ी हो गई । प्रतिशोध ने विवेक को जीता । उस दिन तुमने मुझे भड़काया । उस दिन तुमने मुझे राजकीय अन्न की दासता में धकेला । तुम्हें अश्वत्थामा के लिए दूध चाहिए था । अपने लिए वस्त्र, रजकीय सम्मान । उस दिन तुमने रोका क्यों नहीं ? मेरी हिचकिचाती आत्मा को शक्ति क्यों नहीं दी ? क्यों मुझे सुविधाभोगी होने के लिए उसकाया ?*

बोलो, मुझे राजकीय अन्न की दासता से समझौता करने पर किसने विवश किया ?''[३१]

आधुनिक युग में नैतिकता के बन्धन इतने शिथिल हो चुके हैं कि पति अपनी पदोन्नति के लिए पत्नी को साधन के रूप में इस्तेमाल करता है । मध्यवर्ग में पत्नी के आश्रय द्वारा उन्नति की बाते अनेक व्यक्ति सोचते हैं । भौतिक स्वर्थों की पूर्ति हेतु वे पत्नी को दाँव पर लगा देते हैं । परिस्थिति चक्र के विरुद्ध पत्नी पति से कुछ भी नहीं कह सकती । 'रक्तबीज' में यही त्रासदी दिखाई गई है । वस्तुतः नैतिक मूल्य आदर्श व्यवहार के नियामक हैं । ये मूल्य मानव के कर्तव्य व आचरण पक्ष को निर्धारित करते हैं । निस्संग भाव से किसी प्राणी की जिन्दगी से खेल जाना, अन्याय करके भी शान्त चित्त बने रहना अनैतिकता है । 'कोमल गान्धार' में संजय का उक्त प्रश्न भीष्म को मातहत करता है – *''यानी आप... इतना ठण्डापन, इतनी निस्संगता, अन्याय करने के बाद भी इतनी शान्ति ! यह अनीति नहीं है क्या, आर्य ।''*[३२]

वर्तमान युवापीढ़ी परिवर्तित नैतिक मूल्यों को उचित मानती है । परम्परागत नैतिकता के प्रति विद्रोह के मूल में व्यक्ति की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति उतरदायी है । डॉ. पुष्पपाल के शब्दों में, *''आधुनिक युग की जीवन स्थितियों ने हमारे नैतिक प्रतिमानों या बनी बनाई 'इमेज' को निर्ममता से तोड़ा है । 'धर्म' और 'ईश्वर' की धारणा में परिवर्तन आया है ।... जीवन और लोक के पश्चात् दण्डविधान का जो भय था वह समाप्त हो गया है । इसलिए व्यक्ति का कोई भी कृत्य आज पापबोध नहीं जगाता ।''*[३३] 'घरौंदा' नाटक की छाया अपने प्रेमी सुदीप के अलावा किसी और के बारे में सोचना भी अनैतिक और पापकर्म समझती है, किन्तु सुदीप इसे एक धारणा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझते – *''पाप केवल एक धारणा है, छाया । उसकी कभी कोई स्थायी व्याख्या नहीं है । सामर्थ्य और प्रसंग ही उसके होने न होने का फैसला करते हैं । तुम्हारे पापी होने न होने की बात का सम्बन्ध केवल मुझसे है । अगर मैं तुम्हें पापी नहीं समझता तो तुम फिर किसी दूसरे के प्रति जवाबदेह नहीं हो शायद ।''*[३४]

धर्म और नैतिकता में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । नैतिकता का कार्य ही समाज को नैतिक प्रवृत्तियों अर्थात् असत् से सत् की ओर, तिमिर से आलोक की ओर, दुष्प्रवृत्तियों से सद्प्रवृत्तियों की ओर ले जाना है । समाज को स्वस्थ रखने के लिए, उसे सद्प्रवृत्ति की ओर ले जाने के लिए दिशा बोध की आवश्यकता है । यह दिशा नैतिकता प्रदान करती है । अतः नैतिकता का विस्तृत व्यापक रहना बहुत ही जरूरी है । संकीर्णता जन्मानेवाली नैतिकता केवल रूढ़ आचरण में सिमट जाती है । 'खजुराहो का शिल्पी' में कवि माधव धर्म के अवमूल्यन के लिए नैतिकता के अवमूल्यन को कारणभूत ठहराते हैं, *''महाराज, भविष्य में होनेवाले धर्म के अवमूल्न का भय क्यों होना चाहिए ? जब नैतिकता का अवमूल्यन होगा, तभी धर्म का भी अवमूल्यन होगा । महाराज, जब नैतिकता का संकीर्ण अर्थ लगता है, तभी नैतिकता एक रूढ़ आचरण मात्र बनकर रह जाती है ।''*[३५] भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण समाज में से संकोच, मर्यादा, नैतिकता की भावनाएँ तिरोहित हो गई हैं । जबकि समाज में नैतिक मूल्यों की हिफाजत अपेक्षित है । आज नैतिकमूल्यों की चिन्ता और रखवाली करनेवाले मिलते कहाँ हैं ? ऐसे व्यक्ति का अस्तित्व, समाज का सद्भाग्य है । वह आदर एवं सम्मान का पात्र है । लेकिन भ्रष्ट–समाज उनका आदर तो एक ओर उनके मरने के बाद उनकी भूमिका का आकलन भी सही ढंग से नहीं कर पाता । इस परिस्थिति में सामाजिकों की छिछली हरकतों को देख समझदार व्यक्ति की भावनाओं को जोरदार चोट लगती है । 'चेहरे' नाटक में सुखलाल जी भरोसेजी की मृत्यु के अवसर पर सामाजिकों की छिछली हरकतों पर क्षोभ व्यक्त करते हुए उसे दुर्भाग्यपूर्ण मानता है, *''कितना दुर्भाग्यपूर्ण है सब कुछ । जिस आदमी ने नैतिक–मूल्यों की रक्षा के लिए जीवनभर लड़ाई लड़ी, उसी की लाश के आसपास इतनी नीच हरकतें हों ।''*[३६] नैतिकता के सूत्र सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं में आचरण की एकरूपता स्थापित करने में क्रियारत रहते हैं । फलतः नैतिकता की उपादेयता कानून से बढ़ जाती है । इसी नाटक का पात्र परमानन्द कहता है – *''कानून से बड़ी है नैतिकता ।''*[३७]

इस प्रकार समसामयिक युग में नैतिकता के परिवर्तित स्वरूप एवं पुराने आदर्शों के प्रति लोगों की वितृष्णा डॉ. शेषजी के नाटकों में चिन्ता बनकर उभर आई है ।

❀ नियतिवादी दृष्टिकोण :

नियतिवाद का भारतीय समाज के जीवन पर सदियों से गहरा प्रभाव रहा है । इसके केन्द्र में ईश्वर की सर्वोच्चसता विद्यमान है । ईश्वर की सर्वसमर्थता स्वीकारनेवाला मनुष्य संसार के प्रत्येक क्रिया–कलाप में ईश्वर का हाथ मानते हैं । मानव के हिस्से जो कुछ करना और भोगना रहता है उसे भाग्य कहते हैं । भाग्य के पर्याय दैव, विधि, नियति, ईश्वरेच्छा, परिस्थिति और प्रारब्ध है । विधिलेख या ललाटलेख भी भाग्य का भावबोध है । 'करमगति' और 'होनी' पर भारतीय मानस का अटल विश्वास रहा है । पुनर्जन्म का विश्वास भी भाग्य और भाग्यफल के साथ जुड़ा है । संगमलाल पाण्डेय का मत है कि – *''भाग्यवाद के अनुसार जो कुछ भी होता है या हो सकता है वह पुनर्जन्म के कर्मों का फल है ।''*[३८] नाटककार डॉ. शंकरशेष ने अपने नाटकों में नियतिवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है ।

शताब्दियों की पराधीनता की विवशता ने तो भारतीय जनमानस की कर्म शक्ति को अकर्मण्यता में बदल दिया । ऊपर से ईश्वरवादी आन्दोलनों ने मानव जीवन पर ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता स्थापित कर दी । ईश्वर और भाग्य के नाम पर सामाजिक रूढ़ियों ने मानव को भाग्य के हाथ का खिलौना बना दिया । उसकी चेतना से शोषण और दमन का विरोध तत्त्व ही लुप्त हो गया । जैसा कि 'पोस्टर' नाटक में गरीब मजदूरों को अपनी स्थिति में कोई सुधार होने की आशा ही कहीं दिखाई नहीं देती । वे करमगति को अन्तिम मानते हैं – *''करम में जो लिखा है वह कोई नहीं बदल सकता ।''*[३९] भारतीय कर्म सिद्धान्त एक व्यावहारिक सिद्धान्त है । उक्त सिद्धान्त की व्याख्या करनेवालों ने इसे पूर्व जन्म सिद्धान्त के साथ भी जोड़ दिया है । जैसा कि आज हम जिस प्रकार का जीवन जी और भोग रहे हैं, वह सब हम लोग

अपने पिछले जन्म और जीवन में किए कर्मों के अनुसार भोग रहे हैं । इस प्रकार की मान्यता के साथ परोक्षतः भाग्यवाद की बात भी जुड़ जाती है । परिणामतः व्यक्ति जैसा का तैसा बने रहने में सन्तोष मान लेता है । यद्यपि उसकी निरीहता व्यथित कर जाती है । 'बाढ़ का पानी' में गनपत–चमार अपनी जाति की कुण्डली बताते हुए अपने को भाग्य की ठोकरें खानेवाला असमर्थ प्राणी प्रमाणित करता है – *''हमारी कुण्डली में तो बस जूते बनाना और जूते खाना ही लिखा है ।''*[४०] यद्यपि कर्मसिद्धान्त व्यक्ति को सुफल पाने के लिए सद्कर्म करने की प्रेरणा देता है फिर भी इसकी प्रक्रिया और परिणति जटिल अवश्य है । दृष्टव्य है 'पोस्टर' नाटक । जिसमें अखण्डानन्द स्वामी मजदूरों की गरीबी, अबोधता और निरक्षरता का नाजायज फायदा उठाते हुए उन्हें 'जैसा बोया है वैसा काटोगे' वाला करम फल का सिद्धान्त सिखाते हैं इतना ही नहीं मजदूरों के मन में यह दृढ़ कर देते हैं कि पटेल के पूर्वजन्म के संचित फल का यह करिश्मा है जो आज उन्हें ऐय्याशी के रूप में प्राप्त हुआ है, *''जोन है सो तौन, जैसा करोगे वैसा ही भरोगे । अब अपने पटेल साहब को लो । अरे, ये पिछले जनम में का थे । बेचारे एक जिमींदार के घर में नौकर । पर मन लगा के करी चाकरी इनने । और इस जनम में पाया स्वामीभक्ति का फल अब है पटेल । तो भइया, इनके जो ठाट–बाट हैं सो इनके पूर्वजनम की कमाई है ।''*[४१] हर कोई जानता है कि पटेल की कमाई अकिंचन मजदूरों के निर्मम–शोषण का परिणाम है । और मान भी लिया जाए कि पटेल का अभी का ठाठ–बाट उसके पूर्वजन्म के फल का परिणाम है तो वह अगले जन्म में भी वही सुफल पाने के लिए सत्कर्म क्यों नहीं करता ? हालांकि वैज्ञानिक नव–चिन्तन इस मान्यता का खण्डन करता है ।

सफलता–असफलता में निहायत भाग्य या दैव की भूमिका माननेवालों में निरक्षर ग्रामीण का ही समावेश नहीं होता बल्कि यह तो बुद्धिजीवियों में भी उतना ही प्रभावी है । 'फन्दी' नाटक में कानून की अच्छी–खासी जानकारी रखनेवाले किन्तु असफलताओं ने जिनका आत्मविश्वास डगा दिया है ऐसे वकील भगतराम बार–बार भाग्य का उच्चारण करते हैं, *''फन्दी, लगता है भाग्य इस*

बार जरूर मेरे साथ है । तुम जिस प्रकार के सवाल कर रहे हो उससे लगता है कि पहली बार मुझे सूझ–बूझवाले मुजरिम का मुकदमा मिला है ।''[४२]

जिस मूल प्रतिदर्श के आधार पर हजारों सुन्दर शिल्प–कृतियों की सर्जना होती है उसकी क्या स्थिति होती है, यह कौन जानता है ? 'खजुराहो का शिल्पी' में प्रत्येक प्रतिदर्श की एक समान विडम्बना को समझाते हुए शिल्पी कहता है, *''यह प्रतिमा ? ... हाँ, यह रह गई, अलका, अब तुम्हें कैसे बताऊँ ?... हर मूल प्रतिदर्श की यही नियति होती है । उसके आधार पर सहस्रों प्रतिमाएँ बनती हैं, किन्तु मूल प्रतिदर्श वहीं का वहीं रखा रह जाता है, उसे कोई नहीं जानता ।''*[४३]

सुन्दर शरीर, सुबुद्धि आनन्ददायिनी विद्या, स्वास्थ्य, मेरुतुब्य धन एवं रमणीय गात्रोंवाली पत्नी–मनुष्य को पुण्योदय होने पर एकसाथ प्राप्त होते हैं – ऐसी प्रचलित मान्यता हमारे प्राचीन नीतिशास्त्रकारों की रही है । बहुतायत सौन्दर्य को ईश्वर की देन माना जाता है, क्योंकि वह बिना याचना किए मिलता है । इसीलिए तो अकस्मात से किसी का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है तो हम कहते हैं कि नियति ने उसका सौन्दर्य छीन लिया । मतलब कि देने और लेनेवाली स्वतन्त्र सत्ता के रूप में मनुष्य नियति का स्वीकार करता चला आ रहा है । यथा 'रत्नगर्भा' में इला का प्रस्तुत कथन इसकी पुष्टि करता है – *''इला नहीं बदली है सुनील, उसका आकार बदल गया है । नियति के क्रूर हाथों ने उसका सौन्दर्य छीन लिया है ।''*[४४] जिस प्रकार दैव के क्रूर होने पर मानव उसकी क्रूरता का भोग बनता है, ठीक उसी प्रकार दैव जिस पर प्रसन्न होता है उस व्यक्ति को अधःपतन की कगार से बचा भी लेता है । 'मूर्तिकार' का मूर्तिकार शेखर अपनी पत्नी के सामने अधःपतन से बचने के कारण भाग्य को सराहता है – *''तुम्हारा शेखर आज अधःपतन के कगार से वापस आ गया है । भाग्य ने उसे बचा लिया ।''*[४५]

मनुष्य को विवश बनानेवाली परिस्थिति भी दैव या नियति का ही एक रूप है । मनुष्यजाति परिस्थिति के सम–विषम रूप से काफी प्रभावित है । परिस्थिति व्यक्ति के सामने विपरीत संयोग उपस्थित कर उसे लाचार, बौना

और असहाय बनाने का काम करती है । परिस्थिति का मारा आदमी मानसिक ऊहापोहात्मक दशा में गलत कदम उठा लेता है । इसकी सफल अभिव्यंजना नाटककार ने 'फन्दी' नाटक में की है । फन्दी के द्वारा उसके केन्सरग्रस्त पिता की हत्या करने में परिस्थिति कारणभूत है । ऐसे हालात में किसी भी सज्जन आदमी के जरिए ऐसी ही प्रतिक्रिया की सम्भावना रहती है । फन्दी हालात की प्रबलता समझाते हुए वकील भगतराम से कहता है, ''जब मैं अपने बाप का गला घोंट रहा था, उस समय मैं जानता था कि मैं उसका गला घोंट रहा हूँ । मैं केवल यह चाहता था कि वह मर जाए और तकलीफ से उसे हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाए । वे हालात ही ऐसे थे कि मेरी जगह आप होते तो, आप भी वही करते ।''[४६] कभी–कभी विश्वास न करते हुए भी मानना पड़ता है कि मनुष्य परतन्त्र है, परिस्थितियों का दास है, लक्ष्यहीन है । एक अदृष्ट–शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती है । मनुष्य की इच्छा–अनिच्छा का कोई मूल्य ही नहीं है । उसकी पसन्द–नापसन्द का भी कोई बल नहीं पड़ता । तभी तो सुखाकांक्षी कष्ट भुगतता है और सम्पन्नता के स्वप्न में राचनेवाला व्यक्ति घोर दारिद्रय मे छटपटाता है । वर्ना दुनिया का कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से गरीब नहीं बनता । 'आधी रात के बाद' नाटक में चोर (राजकुमार) अपने चौर्य कर्म के पीछे जवाबदार परिस्थितियों का बयान जज के सामने करता है – ''मैं मानता हूँ, मैंने चोरी गरीबी के कारण शुरू की । गरीबी भी मेरी बनाई हुई नहीं है, गरीब अपनी पसन्द से गरीब नहीं होता है ... ।''[४७] परिस्थिति के आश्रय तले वैयक्तिक कमजोरियों को छिपानेवाले को छोड़कर शेष लोग आसन्न विषम परिस्थिति के सामने मजबूर हो जाते हैं । 'नयी सभ्यताः नये नमूने' के कृष्ण को दुनिया की आँखों में धूल झोंकने में किसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता, यह सब तो उन्हें मजबूरन करना पड़ रहा है –''*ऊधो, इन मूर्खों के प्रति मुझे पूरी सहानुभूति है पर क्या करूँ, परिस्थितियों ने मुझे विवश बना दिया है । मैं दुनिया की आँखों में धूल झोंकने में किस प्रकार प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता पर क्या करूँ ऊधो, परिस्थितियों का दास हूँ ।*''[४८]

'आदमी जन्मजात अच्छा या बुरा नहीं होता; परिस्थितियाँ उसे अच्छा या बुरा बनाती है ।' उक्त विधान की उदारवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करती हुई 'रत्नगर्भा' नाटक में माया इला का समर्थन करती है तथा सुनील के नैतिक पतन के लिए अन्य घटकतत्त्वों को उतरदायी ठहराती हुई उसका बचाव करती है, *''मैं भी कहती हूँ दीदी कि सुनील नीच नहीं है । वह नीच बनाया गया है । संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अपने दिमाग से नहीं सोचते । जो केवल दूसरों के इशारे पर नाचते हैं ।''*[४६] मनोवैज्ञानिक तथ्यों के प्रकाश में आने के बाद दोषपूर्ण कृत्यों को समझने की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है । मानसशास्त्रीय अभिगम के कारण मानव ज्यादा से ज्यादा सहानुभूति का पात्र बना है और परिस्थितियाँ ज्यादा से ज्यादा दोषित । क्योंकि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार विषम परिस्थितियाँ और मानसिक विक्षिप्तता ही व्यक्ति को किंकर्तव्यविमूढ़ बनाती है । जहाँ व्यक्ति विवशतावश अपनी खुशियों की बाजी लगाकर जिन्दगी भर पश्चाताप की अग्नि में सुलगता रहता है । 'घरौंदा' नाटक के अन्त में सुदीप पत्र के द्वारा छाया से अपनी गल्तियों का प्रकाशन करते हुए तथा दोनों के बीच चिर वियोग के लिए 'अपराधी कौन ?' के प्रश्न को अनुत्तरीत छोड़ देते हैं । कहीं उसके प्रश्न का आशय परिस्थितियों से ज्यादा है – *''पिछले कुछ महीनों में जो हुआ, उसके बारे में सोचता रहा । अपने आपको तुम्हारी जगह रखकर सोचता रहा । अपराधी कौन है ... मैं ? तुम ? मोदी या परिस्थितियाँ ?''*[४७] भले ही वह सज्जनतावश अपनी गल्तियों की स्वीकारोक्ति करता हो परन्तु उन दोनों के चिर वियोग के लिए वे परिस्थितियाँ ही जिम्मेवार लगती है; जिनके आधार पर उसके हर निर्णय गलत सिद्ध होते रहें ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भाग्यवाद, नियतिवाद, परिस्थितिवाद या ईश्वरेच्छावादी दृष्टिकोण से आम आदमी बुरी तरह से प्रभावित है । विज्ञान उसकी प्रभावकारिता को तोड़ने में पूरी तरह से सफल नहीं हो सका है । अतः आज भी मानव समुदाय उसको एक अज्ञात–सत्ता के रूप मे मान्यता दे रहा है ।

❀ शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण :

भारतीय चिन्तन और व्यवस्था में शिक्षा का आधार गुरु और शिष्य की अवस्थिति और उनका परस्पर आत्मीय त्यागपूर्ण और सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध है । शिक्षा के समुचित विकास, प्रचार, प्रसार और उपादेयता स्वयं सार्थकता हेतु अच्छे एवं योग्य गुरु और शिष्य का होना अनिवार्य है । शिक्षा–गुरु पुराने आचार्य का समतावाची है । 'मनुस्मृति' के अनुसार जो व्यक्ति समस्त शास्त्रार्थों का चयन करके शिष्य को उनका ज्ञान कराता है और स्वयं उस ज्ञान के अनुकूल आचरण करता है और शिष्य से भी कराता है वह आचार्य कहलाता है । गुरुद्रोण के व्यक्तित्व में उपरोक्त समग्र लाक्षणिकताएँ सन्निहित हैं । इसलिए तो अपने युग के ब्रह्मतेज एवं क्षात्रतेज से सम्पन्न भीष्म उनके प्रति अभिभूत हुए । 'एक और द्रोणाचार्य' में भीष्म द्रोणाचार्य की धनुर्विधा के अपूर्व चमत्कार से अभिभूत होकर उनके पास दौड़ आते हैं – *''मैं इस चमत्कार से बहुत अभिभूत हूँ, आचार्य ।''*[५१] परिणाम स्वरूप जगत के ऐसे अनुपम और सर्वकलाओं में निपुण व्यक्ति को आचार्यपद ग्रहण करने की प्रार्थना करने में वे गौरव का अनुभव करते हैं – *''यही कि आप चलकर राजपुत्रों का आचार्य पद ग्रहण कर लें ।''*[५२]

नाटककार का शिक्षा दृष्टिकोण सकारात्मक एवं रचनात्मक रहा है । वे चाहते हैं कि शिक्षा का स्तर ऊँचा उठे इसीलिए वे शिक्षा के आदर्शरूप को प्रस्थापित करने के हमेशा पक्षधर रहे हैं । राजनीति की प्रधानता ने शिक्षा के स्तर को नीचे पटकने का काम किया है । यही तो कारण है कि विद्यापरिसर में आज उन्हीं की तूती बजती है । कलतक जो आचार्य, गुरु व प्रिंसिपल आदर–पात्र रहे थे, आज प्रेसिडेन्ट की गालियों से अपमानित हो रहे हैं – *''मुझे तो सुबह से शाम तक गाली देता है, गधा और उल्लू का पट्ठा कहता है पर क्या करूँ, सुनता हूँ... ।''*[५३] शिक्षा के स्तर को ऊँचा बनाए रखने के लिए योग्यता–प्राप्त एवं विद्याव्यासंगी का उच्चपदों पर आसीन होने की नितान्त आवश्यकता है । अयोग्य या कच्चे–अधूरे व्यक्ति के इस क्षेत्र में पर्दापण से शिक्षा का स्तर गिरते देखा गया है । इसका कारण बिल्कुल सरल है कि जो

व्यक्ति तिकड़मबाजी से, अवसर का लाभ उठाकर शिक्षा क्षेत्र में घूस पैठ कर जाता है, वह हल्केपन और सस्तेपन की राजनीति चलाकर परम्परागत शिक्षा के नैतिक और पवित्र बन्धनों को शिथिल कर देता है । सात्त्विक और विद्यानिष्ठ प्रबुद्ध व्यक्ति को ऐसी घटिया प्रवृत्ति आतंकित कर जाती है । 'बन्धन अपने अपने' में डॉ. शेष ने डॉ. जयन्त के पात्र द्वारा समसामयिक शिक्षा–क्षेत्र में फैल रही भ्रष्ट–प्रवृत्ति के प्रति अपना क्षोभ व्यक्त किया है, *''अनूपशंकर तिकड़मी है, पढ़ने–लिखने से उसका कोई वास्ता नहीं । वह युनिवर्सिटी में आकर राजनीति फैलाएगा । वह डाक्टर मिश्रा के सिर पर बैठना चाहता है और नजराने में मुझे बाइस चांसलरी दी जा रही है ।''*[४४]

गुरु और शिष्य के परस्पर सम्बन्ध, उनकी विशेषताओं, पात्रताओं के बारे में जो मान्यता प्रवर्तमान है तदनुसार शिष्य वह है जो अनुशासित होता है । उनमें गुरु के प्रति श्रद्धा और शास्त्र के प्रति जिज्ञासा होनी चाहिए । उनमें सेवा और विनम्रता का भाव होना चाहिए । इस प्रकामर शिष्य शब्द शासन या अनुशासन के पात्र को सूचित करता है । प्रवर्तमान में यह आदर्शभावना सर्वथा विलुप्त हो चुकी है । गुरुजनों के सामने उद्धताई और अविवेक से भरा वाणी व्यवहार करने में नयी पीढ़ी निःसंकोच है । इस तथ्य की प्रतीति हमें 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में प्रोफेसर अरविन्द और चन्दू नामक छात्र के बीच हुए वार्तालाप से होती है –

''चन्दू : पूरे स्टाफ में केवल आप पर भरोसा है, सर ! कल से हम घरना देंगे, हड़ताल करेंगे । रिपोर्ट नहीं हुई तो परीक्षा का बहिष्कार करेंगे ... । लेकिन आप....

अरविन्द : बोलते क्यों नहीं ?

चन्दू : लेकिन आप बदल गए तो याद रखिए, हम आपको भी नहीं छोडेंगे ।

अरविन्द : इस तरह की भाषा का इस्तेमाल करते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ?''[४५]

शिक्षा–व्यवस्था में शिक्षक की स्थिति आज दयनीय है, जबकि प्राचीन काल में छात्र अपने शिक्षक की आज्ञा को शिरोधार्य मानता था, गुरुभक्ति में भाव–विभोर होकर अपने प्राण तक विसर्जन करने के लिए तत्पर रहता था, जिसका चित्रण उक्त नाटक में दृष्टिगत होता है –

''द्रोणाचार्य : मेरी गुरु–दक्षिणा तुम्हें बहुत दुःख देगी ।
एकलव्य : प्राणों से तो अधिक कुछ नहीं लेगी ।''[४६]

परिवर्तन, विकास अथवा युगानुकूलता और लोक–कल्याणाभिमुखता नयी शिक्षा के मूल्य हैं । इनके बिना शिक्षा की कोई प्रासंगिकता, उपयोगिता और सार्थकता नहीं रह जाती । नयी शिक्षा ने हमारी दृष्टि धीरे–धीरे परलोक से हटाकर इसी मर्त्य–जीवन की ओर केन्द्रित कर दी है । मनुष्य को सुखी बनाना ही प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का कर्तव्य है । इस दृष्टि के प्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप जीवन की प्रत्येक क्रिया और विचारों के मानों में परिवर्तन हुआ है । 'बाढ़ का पानी' में नाटककार ने उच्चस्तरीय शिक्षा के परिणाम स्वरूप जागी हुई चेतना को एवं नवल के द्वारा बाढग्रस्त लोगों की निःस्वार्थ सहायता पहुँचाने के भाव को स्पष्ट किया है । अछूतजाति के इस होनहार युवक के मन में उदात्त मानवीय सेवा भावना है । वह बाढ़ से प्रभावित गाँववालों को बचाने के लिए घर छोड़कर चले जाने के लिए समझाता है परन्तु गाँववालों को उसका बडप्पन पसन्द नहीं, *''लोग कहते – साला गमार होकर हमें अकल सिखाता है । दो क्लास कॉलेज क्या पढ़ आया है, अपने को भारी दिमाग वाला समझता है ।''*[४७] जात्यादिभेद एवं विद्वेषपूर्ण मानसिकता के कारण समाज शिक्षा को उचित सम्मान व आदर देने में असमर्थ रहा है ।

विश्वविद्यालय मनुष्य को अन्धकार से हटाकर ज्योति की ओर ले जाने के संकल्प से चालित हैं । उनका लक्ष्य ज्ञान की साधना है । दीर्घकाल में मनुष्य सत्य की खोज में लगा रह कर जिन महान मानवीय मूल्यों की स्थापना कर सका है, उन्हें लोक गोचर बनाने और अधिकाधिक परिष्कृत करने का काम विश्वविद्यालय करते हैं । इसके लिए प्रखर अभ्यास की आवश्यकता रहती है । अभ्यास शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष का ही दूसरा नाम है । बड़े खेद की

बात है कि हमारे यहाँ वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में व्यक्ति एकबार जो अध्यापक बन जाता है, पढ़ने–लिखने से निवृत्त हो जाता है । अभ्यास से दूर रहना अथवा होना ये सब शिक्षा के लक्ष्यों और मूल्यों का विघटन है । 'बन्धन अपने–अपने' नाटक में डॉ. शेषजी ने शिक्षा के आदर्शों से च्यूत अध्यापक को समाज की अपेक्षाओं पर कुठाराघात करनेवाला बताया है । अध्यापक का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह वेतन की अपेक्षा अपने उत्तरदायित्व को समझे तथा उसके गहन अध्ययन और जागतिक अनुभवों का रसायन पिलाकर अपने छात्रों को सन्तुष्ट करें । जो अध्यापक अपने कर्तव्य से जी चुराता है उसका काम कैसे चल जाता है ? इस बात पर डॉ. जयन्त को आश्चर्य के साथ–साथ व्यधा होती है – *''पर मैं तुम्हें कभी पढ़ता हुआ नहीं देखता, तुम्हें कभी अपना लेक्चर तैयार करता हुआ नहीं देखता । मुझे तो आश्चर्य है कि तुम्हारा काम कैसे चल जाता है । मैं पिछले २५ वर्षों से युनिवर्सिटी में पढ़ा रहा हूँ, पर जिस दिन पढ़कर नहीं जाता, मुझे लगता है मैं चोरों की तरह कक्षा में घुस रहा हूँ । तुम्हारा काम कैसे चल जाता है ।''*[४८]

❀ कला विषयक दृष्टिकोण :

सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और निर्माण का नाम ही कला है । संस्कृति ने ही मानव को सदैव के लिए विनाश के गड्ढ़े में गिरने से बचाया है । यदि संस्कृति की मानवता के प्रति कोई सबसे बड़ी देन है, तो वह है 'कला' । समाज की श्रेष्ठ, विकसित एवं चैतन्य प्रतिभा की कला का सृजन करती है । कला में अभिव्यक्ति ही प्रधान होती है । भगवतीचरण वर्मा कला के प्रमुख दो उद्देश्य प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं, कला का प्रथम उदेश्य *''भावना का व्यक्तिकरण है ।''*[४९] दूसरे उसे *''संवेदना की सृष्टि करनी चाहिए ।''*[५०] कला के माध्यम से पाठक या श्रोता को रसानुभूति होती है, इसीलिए सभी कलाएँ हैं ।

कलाकार की चेतना अपनी सर्जना के प्रति पूर्णतः समर्पित है । यह समर्पण उसे कला के प्रति ईमानदार बनाता है तो उसकी रचना को उदात्त । डॉ. शेषजी कला की अत्यन्त प्रामाणिक अभिव्यक्ति एवं रचना की उदात्तता के

विशेष आग्रही रहे हैं । उनके कला विषयक उच्चतम मान–मूल्यों का दर्शन हमें 'मूर्तिकार' में होता है । *''कलाकार का काम केवल दीये के तेल की तरह जलते जाना है । उसे कला का मोहक प्रकाश फैलाना है ।''*[१] कलाकार का कला के प्रति समर्पणभाव से उसे समस्त बन्धनों से मुक्त करता है । उसके समक्ष सिर्फ कला का ही महत्त्व रहता है । कथा नायक शेखर जो कि कला को अपना जीवन स्वीकारता है, कला प्रेम में अपने आप को समस्त पारिवारिक आवश्यकताओं से मुक्त समझता है । अपनी पत्नी से कहता है – *''(नाराज होकर) सब की जरूरतें हैं तो मैं क्या करूँ ? मेरी तो बस एक आवश्यकता है । मैं रेखा–रेखा में सौन्दर्य का अलौकिक संगीत भर देना चाहता हूँ । कला मेरी आवश्यकता है और कला ही मेरा जीवन है पारो ।''*[२] शिल्प के माध्यम से मानवीय मुद्राओं की नयी व्याख्या करने में दत्तचित्त कलाकार शेखर अपने उच्च कलादर्शों से गिरकर किसी भी परिस्थिति में समझौता नहीं कर सकता । वह अपनी कला को किसी कीमत पर नहीं बेच सकता, क्योंकि वह उसकी आत्मा है और आत्मा की रक्षा करना कलाकार का परमधर्म है । इसी सन्दर्भ शेखर का कथन है – *''कलाकार तभी तक महान है जब तक वह अपनी आत्मा की आवाज की रक्षा करता है । कलाकार की आत्मा मर जाने के बाद वह केवल अपनी जिन्दी लाश से तस्वीरें बनाता है ललिता ।''*[३] यहाँ आत्मा की आवाज के प्रति ईमानदार समर्पण की माँग है । और यह समर्पण कला को जीवन्त बनाता है । कला की साधना का उद्देश्य कलाकृति की रचना करना मात्र नहीं होता । कला–साधक तो उसके रहस्य को पाने और उसकी आत्मा को पहचान ने में कला की पूर्णता समझता है । 'खजुराहो का शिल्पी' में राजकुमारी अलका चित्रकला और मूर्तिकला की शिक्षा–प्राप्ति की उपादेयता समझाते हुए कहती है, *''(बनावटी नाराजगी से) माताजी, मैं स्वयं मूर्तियाँ तो बनाऊँगी नहीं... मैं उस कला के रहस्य को, उसकी आत्मा को पहचानना चाहती हूं । पिताजी, क्या आप नहीं सोचते कि किसी कला का मर्म समझने के लिए संस्कार आवश्यक है ।''*[४]

योग–साधना में जिसप्रकार योगी समस्त इन्द्रियों के व्यापार को बाह्यजगत से निवृत्त करके अपने अन्तस् में केन्द्रित करता है और सिद्धि–लाम करता है, ठीक उसी प्रकार एक कलाकार भी अपने चित्त को कला साधना में तद्रूप करके कलासिद्धि को पाता है । अतः दोनों में स्थित्यन्तर नहीं । शिल्पी अनुभूति के स्तर पर योग और कला के बीच समन्वय स्थापित करते हुए कहता है – *''महाराज, मैंने योग को एक कला की भाँति स्वीकार किया है ।''*[६५]

''कला के स्तर पर आकर कुछ भी अश्लील नहीं रह जाएगा''[६६] में विश्वास करनेवाले डॉ. शेषजी कला एवं सामाजिक स्तर पर कलाकार के स्थिपप्रज्ञ, निर्विकार एवं नैतिक व्यक्तित्व को श्रेयस्कर मानते हैं । इसका कारण है कि भारतीय जन–चेतना केवल कला में ही नहीं कलाकार में भी वह उच्चादर्श देखने की आकांक्षी है । जैसे तथाकथित कला के नाम पर विकृतियों को दोहरानेवाले कलाकारों के बारे में रची–रचाई, भ्रान्तधारणा के सामने एक सच्चे कलाकार की स्वच्छ प्रतिभा का आदर्श प्रस्थापित करनेवाले शिल्पी मेघराज आनन्द की प्रशंसा राजा यशोवर्मन इस प्रकार करते हैं – *''मैं स्वयं कभी विश्वास नहीं कर पाया कि कलाकार इतना तटस्थ और स्थितप्रज्ञ हो सकता है, उसका मन इतना निर्विकार हो सकता है, इस नीरव एकांत में भी वह यौवन की जलती मशाल के सामने इतना विदेह रह सकता है ।''*[६७]

जब तक कलाकार का अपनी कलाकृति से साधारणीकरण नहीं होता तब तक कृति श्रेष्ठ नहीं हो पाती । कृति की श्रेष्ठता के लिए आवश्यक है कि कलाकार स्वयं कला के प्रति पूर्णतः समर्पित हो अन्यथा उसकी कला दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती । इसी सन्दर्भ में 'मूर्तिकार' नाटक के कलाकार शेखर का कथन, *''कला के लिए जब तक कलाकार में पागलपन नहीं तब तक उसकी कला भी देखने–सुननेवालों को पागल नहीं बनाती ।''*[६८] अपनी कला के प्रति कलाकार का यही पागलपन उसकी कला को श्रेष्ठता की चरमसीमा पर पहुँचाता है ।

इस प्रकार नाटककार ने कला और कलाकार के निरालेपन को अभिव्यंजित करते हुए कलाकार के सद्‌गुण, आदर्शवादिता, कला के प्रति देखने का उसका अभिगम इत्यादि की झाँकी प्रस्तुत की है, जो कला के निरालेपन की द्योतक है ।

❀ निष्कर्ष :

'संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है ।' यह मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के स्वरूप का निर्माण, निर्देशन, नियमन तथा नियन्त्रण करती है । संस्कृति वह आधार है, जिसके माध्यम से व्यक्ति ज्ञान, कला, नैतिकता, प्रथाएँ एवं परम्पराएँ सीखता है । वैज्ञानिक आविष्कारों ने संस्कृति के उन आधारों को ही न केवल प्रभावित किया है प्रत्युत् संस्कृति के स्वरूप को भी परिवर्तित कर दिया है । डॉ. शंकर शेष के नाटकों में इसका परिवर्तित रूप लक्षित होता है ।

धर्म का रूढ़िवादी पक्ष अब स्थायी नहीं रह गया है । छुआछूत, जाति–व्यवस्था, रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, धार्मिक–अन्धविश्वास, पाखण्ड–प्रदर्शन इनमें द्रुतगति से परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । जहाँ–जहाँ पर धार्मिकता के नाम पर अमानवीय शोषण होता रहता था वहाँ शनैः शनैः विद्रोह–चेतना जाग उठी है । अब धर्मास्था में भाव के स्थान पर तर्क–बुद्धि ने स्थान ग्रहण कर लिया है । आज धर्म का असली पर्याय मानववाद हो गया है । बुद्धि के बढ़ते महत्त्व के कारण धर्म, ईश्वरादि के प्रति आस्था के स्वर लड़खड़ाने लगे हैं । परिणाम स्वरूप श्रद्धा अभाव और अनास्था की अभिव्यक्ति होने लगी है । भारतीय इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में नैतिकता की भूमिका नितान्त प्रभावकारी रही है । परम्परागत नैतिकता में संयम, सदाचार, सत्य, अहिंसा, दया, त्याग, पवित्रता आदि मूल्य प्रमुख थे । मानव जीवन पर इनका व्यापक प्रभाव था, परन्तु बदलते वक्त ने मानव के व्यक्तित्व पर इनके असर को कम कर दिया है । इसमें वैज्ञानिक प्रगति ने अहम् भूमिका निभायी है । मूल्य–परिवर्तन के कारण आज व्यक्ति की दृष्टि में वही सही है जिसमें उसका

लाभ हो । हालांकि अनेक नीतिसम्मत व्यक्तियों को प्रलोभन विचलित नहीं कर सके हैं । अनैतिक–समाज के बीच ऐसी नैतिक जागृति अपवाद कही जाएगी । नियतिवाद में भारतीय मानस का अटल विश्वास रहा है । डॉ. शेषजी के नाटकों का अध्ययन करने पर ऐसा लक्षित होता है कि वे खुद भी नियति व भाग्य से प्रभावित हैं । भौतिक विज्ञान ने जगत् की वस्तुओं को कार्य–कारण की शृंखला में बाँधकर नियतिवाद का विरोध भले ही किया हो किन्तु लोक मानस आज भी उसकी स्वतन्त्रसत्ता में विश्वास करता है ।

समसामयिक युग में शिक्षा का व्यापक रूप में प्रचार–प्रसार हुआ । शिक्षा को लोक भोग्य बनाने के लिए अभियान चलें । एक ओर शिक्षा की व्यापकता ने सुखद परिणाम लाने की सम्भावना खड़ी की वहाँ दूसरी ओर शिक्षा में दिन–ब–दिन हो रही गिरावट ने सुखदाश्चर्य पर पानी फेर दिया । राजनीतिक हस्तक्षेप ने शिक्षा और शिक्षक के पद को बिकाऊ चीज बना दिया । शिक्षा–संस्थान एक अर्थ में व्यापार का केन्द्र बन गया । गुरु–शिष्य सम्बन्धों के पवित्र मानदण्ड ताक पर रख दिए गए हैं । आदर्श, नैतिकता, पाप–पुण्य के परिवर्तित मान–मूल्यों ने सम्पूर्ण सांस्कृतिक मूलाधारों को झकझोर दिया है । भौतिक प्रलोभनों से आज जब कलाकार, साहित्यकार भी अवमूल्यन का शिकार हो रहा है वहाँ नाटककार इन्हें उदात्त मूल्यों हेतु संघर्षरत देख रहा है । कला–चेतना का यह जुझारू प्रयास उसके सृजन की ईमानदार अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के लिए निरन्तर संघर्षरत है ।

इस प्रकार सांस्कृतिक क्षेत्र में समसामयिक मूल्यों ने संस्कृति के समस्त मूलाधारों को झकझोर दिया है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

१	भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पूर्वाभ्यास, डॉ. प्रसन्नकुमार आचार्य, पृ. १
२	भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. २०
३	साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ. १३५
४	मानववाद और साहित्य, नवलकिशोर, पृ. ५३
५	मानववाद और साहित्य, नवलकिशोर, पृ. ६३
६	***Occasional Speeches and Writing (52-59), Dr. Radhakrishanan, P. 286***
७	'अद्यतन', अज्ञेय, पृ. १३
८	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष १९९०, पृ. २९६
९	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष १९९०, पृ. २९७
१०	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ८८
११	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ११३
१२	'बाढ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ११७
१३	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २९२
१४	'कालजयी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १३०
१५	'कालजयी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १३४
१६	'बाढ़ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १४३
१७	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १०७
१८	'बाढ़ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ११५
१९	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ६८
२०	'चेहरे', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २६८
२१	'नयी सभ्यता : नये नमूने', शंकर शेष रचनावली, खण्डः चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १५
२२	'नयी सभ्यता : नये नमूने', शंकर शेष रचनावली, खण्डः चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २५
२३	'कालजयी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १३१
२४	मार्क्सवादी दर्शन, अफनास्येर, पृ. ३४३
२५	बदलते मूल्य और हिन्दी नाटक, डॉ. ओम प्रकाश, सारस्वत, पृ. १८०
२६	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ३०३
२७	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ७३

२८	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ११०
२९	'बिन बाती के दीप', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १७०
३०	'बिन बाती के दीप', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १७२
३१	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ३०८
३२	'कोमल गान्धार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ४२३
३३	समकालीन कहानी : युगबोध, डॉ. पुष्पपाल सिंह, पृ. ९४
३४	'घरौंदा', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ३४३
३५	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १०५
३६	'चेहरे', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २६२
३७	'चेहरे', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २६४
३८	साहित्य कोश, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य, पृ. ५४०
३९	'पोस्टर', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ३०५
४०	'बाढ़ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ११६
४१	'पोस्टर', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २९६
४२	'फन्दी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १६
४३	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ११७
४४	'रत्नगर्मा', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २०
४५	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ८८
४६	'फन्दी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २७
४७	'आधी रात के बाद', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ३४०
४८	'नयी सभ्यता : नये नमूने', शंकर शेष रचनावली, खण्डः चार, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ३२
४९	'रत्नगर्मा', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ४७
५०	'घरौंदा', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ३६८
५१	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २८९
५२	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २८९

५३	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २७५
५४	'बन्धन अपने–अपने', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २०५
५५	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २७९
५६	'एक और द्रोणाचार्य', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २९२
५७	'बाढ़ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. १२०
५८	'बन्धन अपने–अपने', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. २०३
५९	साहित्य की मान्यताएँ, भगवतीचरण वर्मा, पृ. २२
६०	साहित्य की मान्यताएँ, भगवतीचरण वर्मा, पृ. १३
६१	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ६३
६२	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ६१
६३	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ७०
६४	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ७३
६५	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ८६
६६	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ८८
६७	'खजुराहो का शिल्पी', शंकर शेष रचनावली, खण्डः तीन, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ९७
६८	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्डः दो, सं. डॉ. विनय, प्र. वर्ष : १९९०, पृ. ७१

सप्तम् अध्याय

डॉ. शंकरशेष के नाटकों में समसामयिकता

सप्तम् अध्याय
डॉ. शंकरशेष के नाटकों में समसामयिकता

डॉ. शंकरशेष ने अपने नाटकों में समसामयिकता के विस्तृत आयाम को अत्यन्त प्रभावी रूप से प्रस्तावित किया है । समसामयिकता का स्वरूप उसके पूरे परिवेश के साथ उन्होंने चित्रित किया है । देश की बदलती हुई स्थिति और मूल्यों के परिवर्तन का चित्रण उनके नाटकों में सर्वत्र दिखाई देता है । सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक–परिवर्तित अवस्थाओं के चित्रण के साथ–साथ नाटककार की प्रतिबद्धता समसामयिक बोध को व्यक्त करती है । उन्होंने सदा ही लीक से हटकर समसामयिक समस्याओं और कथ्य को लेकर नाटकों की रचना की । एक अत्यन्त जागरूक एवं संवेदनशील नाटककार के रूप में वे हमारे सामने आते हैं । वैचारिक एवं प्रायोगिक धरातल पर लेखकीय स्वायत्तता में विश्वास करनेवाले डॉ. शेषजी अपनी नाट्य–रचनाओं में समसामयिक बोध की अवतारणा कर मानवजीवन की विविध समस्या का अपने दृष्टिकोण से निरसन करते हुए दिखाई पड़ते हैं । प्रसाद की तरह उन्होंने प्राचीन कथाबीजों के नये अन्वय को एक ओर प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने समसामयिक सन्दर्भों, विषयों एवं विवादों को उठाकर वर्तमान जीवन की व्याख्या भी की है ।

डॉ. शेष जी वर्तमान युग के प्रतिभासम्पन्न, प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध नाटककारों में हैं । उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में अपनी गहन अनुभूति, शिल्प कौशल तथा चिन्तन शक्ति का परिचय दिया है । लेकिन हम देखते हैं कि उनकी प्रतिभा सबसे अधिक नाटकों के माध्यम से मुखरित हुई है । सन् १९५५ से लेकर सन् १९८१ तक उनकी नाट्य–यात्रा अनवरत चलती रही । *''अब तक लिखे गये नाटक एक अच्छे, सार्थक नाटक की तलाश में लिखे गये नाटक हैं''*[१] कहनेवाले डॉ. शेषजी ने भारतीय समाज के

अनेक पहलुओं को और अनेक प्रश्नों को नवीन भाव–बोध के साथ विश्लेषित किया है । ऐतिहासिक तथा मिथकीय कथा–प्रसंगों का प्रयोग उन्होंने समसामयिक समस्याओं के स्पष्टीकरण के लिए किया है । ऐसे वक्त उनकी दृष्टि हमेशा वर्तमान पर केन्द्रित रही है । इसी दृष्टि से डॉ. शंकरशेष का नाट्य–साहित्य सही अर्थों में समसामयिकता लिए हुए है ।

❀ विषय के सन्दर्भ में समसामयिकता :

नाटक का विकास युगीन सामाजिक संरचना के अनुरूप हुआ करता है, क्योंकि सामाजिक परिवर्तन के साथ ही नाट्य–लेखन एवं उसके प्रस्तुततिकरण में भी सामान्यतः परिवर्तन आ जाता है । समाज की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, शिक्षा, कला, जाति, रूढ़ि, धर्म, संस्था एवं सम्प्रदाय आदि प्रथाएँ जन विश्वास, दर्शन, राजनीति एवं अर्थनीति आदि सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण साहित्य द्वारा ही सम्भव हो सका है । इनके माध्यमों से सामाजिक मनुष्यों की आन्तरिक एवं बाह्य क्रियाएँ प्रकट होती हैं । नाट्य–सृजन का मूलाधार जनसमाज है । जीवन के विभिन्न क्रियाकलाप, वेशभूषा, भाषा आदि के आधार पर कथानक, पात्र, रस, संवाद आदि नाट्य–तत्त्वों का समावेश नाट्यकार अपनी कृतियों में करता है । *''सामान्यतया प्रत्येक साहित्यकार का सामाजिक दायित्व होता है, परन्तु दृश्य साहित्य सृजन के कारण नाट्यकार अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक उत्तरदायी होता है । वह अपनी सार्थकता तभी प्रमाणित कर सकता है, जबकि वह सामाजिक चेतना का संस्पर्श करेगा । यही कारण है कि नाटक प्रायः समसामयिक होते हैं ।''*[२]

समसामयिकता अपना अलग–अलग अर्थ रखती है । एक तो सामान्य रूप से जब सन्दर्भ विशेष से जुड़ी किसी बात को समसामयिक कहा जा सकता है दूसरे अर्थ में समसामयिकता कालविशेष से सम्बद्ध होती है । अर्थात् रचना किसी युग विशेष में अथवा कालविशेष में अपनी अर्थवत्ता रखती है तो उसे समसामयिक कहा जाता है । नाटककार लोक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का चयन अतीत काल से ही करता आ रहा है । डॉ. शंकर शेष ने नाटक

को विस्तृत क्षेत्र प्रदान करते हुए सदा नित नवीन विषयों को लेकर नाट्य–सृजन किया है । उन्होंने समसामयिक परिवेश में विशेष नाट्य–कौशल का प्रदर्शन किया है । विषय की दृष्टि से उनकी प्रत्येक रचना अछूते और नवीन विषय को लेकर चलती है । विषयगत समसामयिकता की दृष्टि से उनकी नाट्य–कृतियों में तत्कालीन ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का प्रत्यक्ष चित्रण हुआ है । समसामयिकता उनके नाटकों की सबसे बड़ी शक्ति रही है । डॉ. शेषजी को रचना के भीतर व्याप्त युगबोध के साथ गहरा सरोकार है । जनमानस को प्रभावित व आन्दोलित करनेवाले प्रश्नों को सदा उन्होंने बड़ी सतर्कता से प्रस्तुत किया है । 'मूर्तिकार' से लेकर 'आधीरात के बाद' तक की उनकी नाट्य–रचनाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनकी नाट्य–रचनाओं में युगीन यथार्थ और युगीन संवेदना प्रधानरूप से अभिव्यंजित हुई है, जो अपनेसमय का प्रामाणिक दस्तावेज बनकर समाज और देश के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करती है; जो निम्ननिर्दिष्ट पहलुओं से स्पष्ट होता है ।

(१) सामाजिक–आर्थिक कथ्य–विषय पर आश्रित नाटकों में समसामयिकता ।
(२) ऐतिहासिक–पौराणिक विषय प्रधान नाटकों में समसामयिकता ।
(३) मिथकीय नाटकों में समसामयिकता ।
(४) समस्या प्रधान नाटकों में समसामयिकता ।

इनकी क्रमशः हम विवेचना करते हैं ।

(१) सामाजिक–आर्थिक कथ्य–विषय पर आश्रित नाटकों में समसामयिकता :

डॉ. शंकर शेष की प्रथम नाट्य–रचना है *'मूर्तिकार'* । यह नाटककार के छात्र–जीवन की रचना है जिसमें उन्होंने एक कलाकार, कला के परम उपासक मूर्तिकार व चित्रकार शेखर की अयाचकवृत्ति एवं अस्मिता से उत्पन्न अर्थदंशित विद्रूपता को नाटक का आधार बनाया है । नाटककार स्वयं समसामयिक आदर्श कलाकार व साहित्यकार की सामाजिक–आर्थिक दुर्दशा से प्रभावित हैं । डॉ. शेषजी का यह नाटक मनुष्य–जीवन का सार्थक नाटक माना

जा सकता है, क्योंकि इसमें जीवन की विडम्बना और यथार्थ को विभिन्नकोणों से रेखांकित किया गया है । आदर्श, निष्ठा, श्रेष्ठमूल्य और नैतिकता आदि हमारी प्राचीन संस्कृति के नींव के गुण हैं । हमारे महान कलाकार व साहित्यकार अपनी कला–साधना के साथ उच्चतम कलादर्शों की रक्षा करने में जीवन की सार्थकता अनुभवित करते थे । लेकिन समसामयिक युग के कद्रहीन समाज में ऐसी सार्थक जिन्दगी जीनेवाले कला के उपासकों को या तो अपने आदर्शों से जोड़–तोड़ करना पड़ता है या फिर भूखों मरना पड़ता है । नाटककार घोर यथार्थवादी पात्र अनादि के द्वारा हमारे आज के कद्रहीन समाज और देश की संवेदनहीनता पर तिक्त प्रहार करते हुए कहते हैं – *''यह भारतवर्ष है मेरे दोस्त ! यहाँ लोग साहित्यकार को पहले भूखा मारते हैं, बाद में उसका पुतला बनवाने के लिए हज़ारों रुपऐ चन्दा इकट्ठा करते हैं ।''*[३] मूर्तिकार शेखर का अर्थाभाव में जीवन–संघर्ष आज के आदर्श कलाकार व साहित्यकार का जीवन–संघर्ष है । डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम के शब्दों में – *''मिट्टी को आकार और सौन्दर्य देनेवाला, मिट्टी में कला के प्राण फूँकनेवाला 'मूर्तिकार' अपने परिवार के लिए दो जून का भोजन जुटाने में भी असमर्थ है । भारतीय कला रचना का यह कैसा दुर्दैव है, मरणोपरान्त कलाकार और साहित्यकारों की मज़ारों पर घी के दीये जलाये जाते हैं, लेकिन जीवित रहते उनके परिवारों पर छाये अस्तित्व–संकट को समाज और सत्ता दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करती ।''*[४]

ऐसी विषम परिस्थितियों में दूसरी ओर देश में जो प्रतिभासम्पन्न किन्तु बेरोजगार और गरीब युवा पीढ़ी विकसित हो रही थी, वह विद्रोह से पूर्ण थी, जिसमें न उच्चकलादर्शों के प्रति आदर था और न आनेवाले सुनहरे भविष्य की प्रतीक्षा के लिए धैर्य । वह दिशा–शून्य होकर भटक रही थी । यथार्थ के पदाघातों को सहन करती वह अपना होश–हवास ही खो बैठी थी । वर्तमान को नजर–अन्दाज करते हुए भविष्य की उज्जवल आशाओं को मूर्तिमन्त देखने का उसको धैर्य ही नहीं रहा । अनादि कहता है – *''कल की उम्मीद में हम आज अच्छी तरह नहीं जी पाते । कल फिर अब 'आज' बनकर आता है,*

तब उसी तरह हम आनेवाले कल की आश में एक दिन और खो देते हैं । तब इस तरह एक–एक दिन बीत जाता है और हमारी जिन्दगी में पतझड़ आ जाता है । उस समय यदि प्रतिष्ठा और पैसों की बहार हमारा दरवाज़ा खटखटाएँ तो उसमें फायदा ही क्या है ।''[५]

वर्तमान को मूल्यवान समझनेवाली और भविष्य के प्रति निराशावादी, कला–साहित्य के स्तर पर उदीयमान होनेवाली नवीन पीढ़ी क्षुधा की पीड़ा को दूर करने कलादर्शों से गिरती है तथा मानवमन के सतही संस्कारों का शोषण करने के लिए मजबूर बनती है ।

वर्तमान में व्याप्त संघर्ष, सामाजिक और पारिवारिक जीवन में उत्पन्न निराशा, तनाव के वातावरण से क्षुब्ध नाटककार ने परम्परागत आदर्शों और नैतिक–आचारवादिता के ध्वस्त होने पर चिन्ता प्रकट की है । सतीश और नीलू के प्रेम–प्रसंग के द्वारा नाटककार ने विवाहपूर्व यौन–सम्बन्ध, 'कुँवारी माता' की समस्या और प्रेम की आड़ में पनपनेवाली उन्मुक्त भोगवादी मानसिकता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है । यह आज का यथार्थ है ।

'रत्नगर्भा' का वर्ण्य–विषय परम्परागत होते हुए भी इसमें नाटककार ने प्रेम और सौन्दर्य, तन और मन के सन्दर्भ में समसामयिक प्रश्नों एवं द्वन्द्वों को प्रस्तुत करते हुए रत्नगर्भा, हृदयगर्भा और प्रेमपूर्ण भारतीय नारी के त्याग और बलिदान को नवीन आयाम प्रदान किया है । डॉ. शेषजी समसामयिक युग के एक जागरूक और सांस्कृतिक दृष्टि–सम्पन्न नाटककार होने के नाते उन्होंने युगानुरूप प्रेम और सौन्दर्य के बदलते स्वरूप पर अपनी वैचारिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं ।

वास्तविक प्रेम त्वचा का ग्राहक नहीं होता । और फिर *''चर्म सुन्दरता तो बाह्य है । सुन्दरता मन की चाहिए, विश्वास की चाहिए, विचार व्यवहार की चाहिए, आचरण–उत्सर्ग–बलिदान की चाहिए, जल बिन मछली सी तड़पन की चाहिए ।''*[६]

डॉ. शेषजी ने प्रेम और सौन्दर्य के मूल तत्त्व को समझने के लिए वैचारिक और भावनात्मक दोनों स्तरों पर प्रयत्न किया है । प्रेम और सौन्दर्य

की विवेचना करते समय वे पारम्परिक आदर्शों की दुहाई नहीं देते बल्कि बदलते युग–सन्दर्भों के समानान्तर उसे यथार्थवादी दृष्टि से पहचानने का प्रयत्न करते हैं । विगत शताब्दियों में प्रेम और मन की श्रेष्ठता जरूर रही है; लेकिन आज समाज में प्रायः हर आदमी का मन रुग्ण होता जा रहा है । अब आदमी धीरे–धीरे मन से तन की ओर आगे बढ़ रहा है । कुरूप नारी के भीतर भी एक और नारी है जो सुन्दर है, अगोचर है, इन्द्रियातीत है, रत्नगर्भा है और हृदयगर्भा है । उस नारी का अनुसन्धान पाने की कला में पुरुष की पीछेहठ हुई है । इस परिप्रेक्ष्य में डॉ. सुनीलकुमार लवटे ने लिखा है, *''आदमी समाज में वकील, डॉक्टर, प्राध्यापक बहुत कुछ बनता है । इस प्रकार बनी–बनायी प्रतिष्ठा में वह सहसा यह भूल जाता है कि वह आदमी है । फिर जीवन के घात–प्रत्याघात उसे आदमी होने का एहसास देते हैं । तब जाकर उसके पैर धरती पर चलने लगते हैं । वह दुनिया के आटे दाल का भाव जान जाता है । फिर उसकी प्रतिष्ठा, अमीरी, सौन्दर्यानुभूति जैसी बातें छिछली हो जाती है । ऐसे तथाकथित प्रतिष्ठित लोग पत्नी को अपने अरमानों का साधन बनाते हैं । प्रेम में मन की अपेक्षा तन को अलम् माननेवाले लोगों का चित्रण कर डॉ. शेष ने इस नाटक के माध्यम से समझाया है कि उन्नीसवीं शती प्रेम और मन को अलम् माननेवाले लोगों की थी । बीसवीं शताब्दी में आकर मानवी निरन्तर मन की अपेक्षा तन की ओर अधिक आकृष्ट होने लगा है । उसकी सौन्दर्यानुभूति शारीरिक सौन्दर्य तक ही सीमित हुई है । हृदयगर्भा, रत्नगर्भा नारी उसके लिए मात्र खजुराहो के शिल्प सी बनी है । अपने इस चिन्तन का आविष्कार 'रत्नगर्भा' में कर इस कृति को डॉ. शेष ने विचार के स्तर पर ऊपर उठाने का प्रयास किया है ।''*[७] आज के सन्दर्भ में भी उनकी बातें प्रासंगिक लगती हैं ।

डॉ. शंकरशेष का *'बिन बाती के दीप'* नाटक स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को नये धरातल पर परखने का प्रयत्न करता है । यह नाटक समकालीन परिस्थितियों व घटनाओं को अभिव्यंजित करने में पूर्ण समर्थ हुआ है । इसमें *''डॉ. शेष ने अतिरिक्त महत्त्वाकांक्षा से निर्माण अनैतिक आचरण और बेबस*

स्थिति में प्राप्त सहारे के प्रति कृतज्ञता के भाव में होनेवाले वैचारिक संघर्ष को नाटक का विषय बनाकर यह बात प्रस्थापित करने का प्रयास किया है कि नैतिक–अनैतिक की कल्पना काल–सापेक्ष के साथ व्यक्ति–सापेक्ष भी है ।''[८] 'बिन बाती के दीप' से युगबोध की सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती है । परिवर्तित नवीन जीवन–मूल्यों, विश्वासों, आस्थाओं, दाम्पत्य जीवन में कपटाचरण एवं धोखाघड़ी और नूतन परिवेश को समसामयिक चेतना के संस्पर्श से नवीन विचारविधि के दर्शन होते हैं । अर्थात् 'बिन बाती के दीप' में डॉ. शेषजी ने जीवन में अतिरिक्त महत्त्वाकांक्षा की धुन सवार होनेवाले व्यक्ति के चारित्रिक अधःपतन को युगानुरूप परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है ।

वर्तमान युग स्वार्थ एवं अवसरवाद का युग है । आज देखा जाता है कि हमारी वर्तमान पतनोन्मुख और मूल्यहीन समाज व्यवस्था में सम्बन्ध पूर्णतः चूक गये हैं । मनुष्य जितने क्षण सच्चा, उदार, त्यागी, प्रेमी है उतने ही क्षण वह मनुष्य रहता है । बाकी समय वह जानवर ही रहता है । अखिल भारतीय प्रसिद्धि पाने के मोह से अभिभूत होकर अपनी पत्नी विशाखा से विश्वासघात करके अनैतिक आचरण करनेवाले शिवराज को हम कौन–सी कक्षा में रखेंगे ? यद्यपि नाटककार ने भारतीय नारी और आदर्श पत्नी की उसके पति के उपकारों के प्रति कृतज्ञता एवं उदारता का परिचय विशाखा के जरिए देते हुए स्वार्थान्धता और अविश्वसनीयता से गहराते जाते दाम्पत्य–जीवन में आशा का संचार किया है । डॉ. सुनीलकुमार लवटे का कथन इस परिप्रेक्ष्य में दृष्टव्य है – *''शिवराज और विशाखा के सम्बन्धों को आध्यात्मिक स्तर पर लाकर डॉ. शेष ने स्पष्ट किया है कि आज की मूल्यहीन पतनोन्मुख समाज व्यवस्था में दाम्पत्य में होनेवाले अटूट सम्बन्ध, फिर भले ही वे जुगनू की तरह अल्पजीवी एवं अल्पप्रकाशी क्यों न हो, निःसन्देह आशादायी है । निराशा से घिरी व्यवस्था में उनका महत्त्व असाधारण है ।''*[९]

''मनुष्य जाति के भ्रमों का नाश करना ही तो साहित्यकार का काम है ।''[१०] परन्तु आज ऐसे साहित्यकार जो सृजन के धरातल पर कोई नया कीर्तिमान स्थापित नहीं कर सकते हैं तो किसी अन्य की रचना को अपने नाम

छपवा कब्राह्मणर कीर्ति, यश, धन, प्रतिष्ठा एवं राष्ट्रीय पुरस्कार पाने में रंचमात्र भी लज्जा का अनुभव नहीं करते । जैसा कि इस नाटक में शिवराज अपनी पत्नी विशाखा के उपन्यासों को अपने नाम से छपवा कर साहित्यिक चोरी के जैसे एक नये अध्याय का प्रारम्भ करते हैं । शिवराज की भाँति साहित्य में चोरी से घुसनेवालों का पर्दाफाश करना भी नाटककार का एक उद्देश्य है ।

इस प्रकार नाटक में तत्कालीन सामाजिक व साहित्यिक अवस्थाओं का वर्णन शिवराज और विशाखा के माध्यम से युगीन भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है ।

'बाढ़ का पानी' नाटककार ने 'बाढ़ का पानी' नाट्यकृति में गाँधीवादी दर्शन को प्रस्तुत करने के साथ–साथ जातीयता एवं अस्पृश्यता की समस्या को उठाया है तथा इसका आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत किया है ।

विवेच्य नाटक समसामयिक जीवन के साथ जुड़कर सामयिक स्थितियों, विसंगतियों, विडम्बनाओं को हमारे समक्ष आवरणहीन करके हमें वर्तमान विसंगतियों व स्थितियों पर चिन्तन के लिए प्रेरित करता है ।

देश को स्वाधीन हुए इतने वर्ष हो गए फिर भी हमारी मानसिकता में से छूआछूत, उच्च–निम्न और साम्प्रदायिकता जैसी सामाजिक विकृतियाँ नहीं गईं । यह जात्यादिभेद और व्यवस्था को हमने अपनी अभेद्य दीवार मान लिया है जिसके भीतर हम अपनेको सुरक्षित बनाए रखने का भ्रम पाले हुए हैं । *''जाति–प्रथा भारत के दुर्भाग्य का एक बहुत बड़ा कारण है । स्वभावतः कहो या प्राकृतिक रूप में कहो मनुष्य मात्र एक है । जातियाँ कृत्रिम दीवारें हैं जिन्होंने मानवों से एक–दूसरे से पृथक कर रखा है । ये दीवारें भारत में बहुत मजबूत दिखाई देती है । वास्तव में ये मजबूत नहीं है । इनकी मजबूती का आधार हमारी मूर्खता और अन्धविश्वास है । हमें भारत को सुदृढ़ बनाना है, अजेय बनाना है, तो ये दीवारें तोड़नी होंगी । हमें इसके लिए अपने मूर्ख समाज से संघर्ष करना होगा ।''*[99]

जातिमेद हमारी सुष्ठु समाज रचना के लिए ऐसा व्रण है, जो हमारे समाज और देश की स्वस्थ जलवायु को विषाक्त बना देता है । यह व्रण एक

और संक्रामक रोग में परिवर्तित होकर देश को तार–तार कर देता है तो दूसरी ओर हमारी प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित विकास की गति को अवरोधित करता है । आज *''आदमी चाँद की ओर रवाना हो गया है''*[९२] लेकिन हम आधुनिक शिक्षा–दीक्षा के बावजूद संकीर्णता के कवच को तोड़कर अभी तक बाहर नहीं आ सके हैं । *''क्या विडम्बना है, पहाड़ों को रौंदनेवाला, आकाश की ऊँचाइयों को नापनेवाला, चट्टानों की छाती चीर दूध की नदियाँ बहानेवाला, समुद्र की अतल गहराइयों में मोती चुगनेवाला मानव जात–पाँत के इस संक्रामक रोग का पोस्टमार्टम नहीं कर पा रहा है ।''*[९३]

वस्तुतः नाटककार का उद्देश्य बाढ़ के माध्यम से समसामयिक सामाजिक अस्पृश्यता और साम्प्रदायिकता से हमें परिचित कराना और उसका आदर्श समाधान प्रस्तुत कराना रहा है ।

नवल 'बाढ़ का पानी' नाटक का होनहार युवक पात्र है जो केवल बाढ़ से ही नहीं जूझता बल्कि वर्णावलम्बियों, धर्मावलम्बियों से जुझारू बनकर जूझता है । इतना ही नहीं अलग–अलग प्रकृति, धर्म, जाति के लोगों को बचने का उपाय बताते हुए सबको एकता और मानवता के सूत्र में बाँधने का युगापेक्षित काम करता है, *''इस बाढ़ से बचने का एक ही उपाय है कि हम जिस प्रकार इस टीले पर मृत्यु के भय के कारण धीरे–धीरे एक हो गये, उसी तरह हम सुख में, समृद्धि में, संघर्ष में भी एक रहें । यह टीला चन्दन का दीप बने । इसका सन्देश हमारे जीवन की नई सुगन्ध बने ।''*[९४]

डॉ. शेषजी ने नर्मदा में आयी बाढ़ के साथ–साथ समसामयिक परिवेश को इस ढंग से वर्णित किया है कि उससे युगीन परिस्थितियाँ व परिवेश उद्‌घाटित हो जाते हैं । आज के सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता भी समकालीन परिस्थितियों से साक्षात्कार कराती है ।

डॉ. शेषजी की 'बन्धन अपने–अपने' नाट्य–रचना समकालीन भाव संवेदन को उद्‌घाटित करनेवाली रचना है । इसमें श्विविद्यालय के एक विद्वान के महात्त्वाकांक्षापूर्ण जीवन और उसके तहत पनपनेवाली एकाकीपन की समस्या का करुणदृश्य वर्णित किया गया है । 'बिन बाती के दीप' की अगली कड़ी है

'बन्धन अपने–अपने' । महत्त्वाकांक्षाएँ मृगमरीचिका की तरह इन्सान का पीछा करती है, उसे भटकाती है । सूर्य की गर्मी से इन्सान इतना नहीं जलता जितना महत्त्वाकांक्षा की प्रचण्ड ज्वाला से ।

आज का व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षा के बल पर जीवन के किसी एक पहलू को महत्त्वपूर्ण मानकर उस पर चलकर उसे प्रकाशित तो कर देता है, पर बहुत आगे निकल जाने के पश्चात् जीवन के अन्य अज्ञात किन्तु बुनियादी पहलू पर उसकी दृष्टि जाती है तब वह पश्चाताप की ग्लानि से भर जाता है; जिसे उसने अनावश्यक समझकर यूं ही छोड़ दिया है ।

डॉ. जयन्त प्रखर परिश्रम और गहन अध्ययन करके अनुसन्धान के क्षेत्र में एक नयी मिशाल को कायम कर जाते हैं, सम्मान प्रतिष्ठा सब पाते हैं परन्तु अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बाद उसे अपना एकाकीपन अखरने लगता है । नाटककार आधुनिक भौतिकवादी युग में, जबकि व्यक्ति के मन में परिवार समाज से विरत हो एकाकी जीने की धुन सवार हो चुकी है; विवाह की आवश्यकता पर जोर देते हैं, क्योंकि *''विवाह की असली उपयोगिता बुढ़ापे में है ।''*[१५]

विवाह के प्रति आधुनिक नजरिया भले नकारात्मक हो किन्तु उसे मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता समझकर स्वीकारना चाहिए । विवाह के जरिये शारीरिक एवं मानसिक समस्याओं का निवारण सम्भव है । इसलिए आज भी विवाह की प्रासंगिकता है । आम आदमी भी उसे प्राथमिकता देता है । यथा–

''डॉ. जयन्त : हाँ, तुम... नौकरी और विवाह में तुम किसे प्राथमिकता दोगी ?

चेतना : जी... शायद विवाह को ।''[१६]

शायद एकाकी जीनेवालों की करुणान्तिका इसके पीछे कारणभूत रही हो ।

इसके अतिरिक्त नाटककार ने युगीन विद्रूपताओं के प्रति भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है । जैसे वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था में व्याप्त अनैतिकता, डिग्रियों की खरीद–फरोख्त, अध्यापकों का भ्रष्ट आचरण, उनकी तिकडमी प्रवृत्ति, भ्रष्टाचार तथा छात्रोंकी प्रयत्क्ष–परोक्ष खुशामदी एवं चापलूसी आदि पर

कारारा व्यंग्य किया है । समय, शक्ति और सम्पत्ति का व्यय करनेवाली फालतू प्रतियोगिता, जो कि आधुनिकता के नाम पर चल रही है; नाटककार उसकी खिल्ली उड़ाते हैं – *''बेटा, यह युग स्पेशलाइजेशन का है... आज केवल होठों के सौन्दर्य की प्रतियोगिता हो रही है, कल आँखों के सौन्दर्य की होगी, परसों फिर केवल दाहिनी आँख और नरसों केवल बाईं आँख की ।''*[७७]

आज के व्यक्ति ने नैतिकता को ताक पर रख दिया है या उसका महत्त्व केवल प्रवचनों और उपदेशों तक सीमित कर दिया है, क्योंकि आज के आम आदमी की सोच ही मूल से बदल चुकी है, *''मैं बिल्कुल आज का आदमी हूँ । मैं केवल वर्तमान में जीता हूँ । सामने अवसर की कामधेनु खडी हो, और मैं उस दुहने में देर करुँ – ऐसा नहीं हो सकता ।''*[७८]

इस प्रकार नाटककार का मानना है कि *''समाज में व्यक्ति के अनुसार बन्धन बदलते रहते हैं । हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने–अपने बन्धनों का ख्याल कर आचरण करें । प्रतिष्ठा, समाज, भय, उम्र आदि के बन्धनों के सामने अपनी गृहस्थी, धारणा, निष्ठा आदि के बन्धनों की बलि देना संगत नहीं है ।''*[७९]

'चेहरे' : आज के इस युग में असलियत के साथ जीना असम्भव है । मनुष्य की असली पहचान समाप्त हो चुकी है । वह दोहरी जिन्दगी जीने के लिए विवश है । भाग–दौड भरी इस जिन्दगी में नैतिकता के सारे प्रश्न बहुत पीछे छूट गए हैं और नैतिकता छटते ही विकृत–चेहरा सामने आ गया है । उसे ढंकने के लिए हर एक की कोशिश चल रही है । लेकिन हरेक की इन कोशिशों को नाकाम करने की कोशिश ही 'चेहरे' नाटक है ।

डॉ. शेष जी ने गाँव के लब्धप्रतिष्ठित और सेवाभावी व्यक्ति भरोसेजी की मृत्यु–प्रसंग को प्रतिपाद्य बनाकर तथाकथित प्रतिष्ठितों के चेहरे पर से नकाब उतारकर उनका पर्दाफाश करते हुए उन नकाबपोशियों के असली चेहरे का दर्शन समाज को कराया है । समसामयिकता के सन्दर्भ में जब हम इस नाटक पर दृष्टि डालते हैं तो हमें इसमें वही सच्चाई दृष्टिगत होती है जो कि आज के समाज में भली–भाँति पल रही है । संवेदनशून्यता, अनैतिकता और

भोले–भाले लोगों का क्रूर शोषण इन एक–एक घटनाएँ समसामयिक घटनाएँ हैं । अर्थात् समसामयिकता से यह नाटक परिपूर्ण है ।

भौतिक जगत में पलनेवाला मानव संवेदना और संयम दोनों विसार चुका है । नाटककार ने इसकी प्रतीति श्मशानघाट पर उपस्थित शव यात्रियों की नीच हरकतों से करायी है । शौक प्रकट करने की जगह उनके मन में शौक चर्राता है । मृतक के प्रति किसी के भी मन में कोई संवेदना नहीं जगती । कोई गहनों पर दृष्टि गडाए हुए हैं तो कोई किसी भोले–भाले ग्रामीण की भोजन सामग्री पर लार टपका रहा है । उन्हें शव के पास बैठ पूरी–कचौरी खाने में भी कोई संकोच नहीं है । दुःख की इस घड़ी में युवावर्ग अन्त्याक्षरी खेलते हैं और ट्रान्जिटर और ताश साथ न ले आने पर टाइम–पास की समस्या से छटपटाते हैं । पंचायत के सदस्य एक–दूसरे के चरित्र पर कीचड़ उछालने में और *''एक दूसरे का चेहरा उतारने में हिंसक आनन्द''*[२०] लेने में व्यस्त हैं । आखिर *''धुरीहीन जीवन ने मनुष्य को संवेदनाहीन बना दिया है । उसकी रग–रग में बनावट, अस्वीकार, मौकमापरस्ती के बीज फूटने के लिए सिर उठा रहे हैं । बिना कारण के वह किसी से सहानुभूति नहीं रखता । शायद आज की विडम्बित स्थितियों ने उसे यह सत्य दिया है ।''*[२१]

नाटककार 'चेहरे' में युगीन–यथार्थ का चेहरा प्रस्तुत करते हुए समाज के प्रत्येक वर्ग की शक्ल दिखाते हैं । समाज का प्रत्येक वर्ग अपने आपको श्रेष्ठ साबित करना चाहता है । पराई स्त्री और परायाधन हड़पना उनकी नियति बन चुकी है । आधुनिक जीवन की जटिलता ने मनुष्य–मनुष्य को तो दूर किया ही है लेकिन मनुष्य स्वयं अपने आप से भी दूर हो गया है । एक दोहरी जिन्दगी जीता मनुष्य अपनी ही सच्चाइयों से दूर भागता है । यह पूरा समाज इसी दलदल में दिन–प्रतिदिन घँसता जा रहा है । डॉ. विनय के शब्दों में – *'' 'चेहरे' अर्थात् चेहरे, सबके चेहरे, अन्दर से कुछ बाहर से कुछ दिखनेवाले चेहरे । चोर की खाल में ईमानदार और साह की खाल में चोर.... जो जैसा दिखता है वह वैसा है भी या नहीं ? यह एक बड़ा प्रश्न है जिसे लेखक इस*

नाटक में उठाता है ।... क्रूर यथार्थ से साक्षात्कार करानेवाला यह नाटक डॉ. शेषजी की प्रतिभा की एक और सशक्त अभिव्यक्ति है ।''[२२]

एक चोर को केन्द्र में रखकर जज के सामने समाज के प्रतिष्ठि और सफेदपोशी गुनहगारों की दुष्प्रवृत्ति का कच्चाचिठ्ठा खोलनेवाला *'आधी रात के बाद'* नाटक में नाटककार ने अनैतिकता से धन अर्जित करनेवाले सभ्य समाज की क्रूरता को दिखाया है । समकालीन भौतिकयुग की आवश्यकताओं के बीच मानव–मन में धन–प्राप्ति की इच्छा इतनी प्रबल हो गई है कि वह संस्कृति–स्थापित नैतिक मूल्य एवं मर्यादाओं को तोड़कर सबकुछ करने पर उतारू हो गया है । परम्परागत नैतिक बन्धनों के हनन से समाज में शोषण, बेईमानी, करप्शन जैसी विकृतियाँ मूल्यसीमा को छूने लगी हैं । यह समाजप्रदत्त नैतिक स्थापनाओं के बदलाव की स्थिति है, जहाँ व्यक्ति पापकर्म करते हुए भी नहीं डरता है ।

'खग जाने जग ही की भाषा' की तरह चोर ही समाज के प्रतिष्ठित किन्तु प्रच्छन्न चोरों को जानता है; जज नहीं । नाटककार ने इसीलिए ही एक चोर को अपनी जान पर आ पड़ने पर चोरी के ईरादे से न सही परन्तु हमारी व्यवस्था की पोलम्पोल से जज को अवगत कराने के बहाने घर में घूसते हुए दर्शाया है । चोर की बात पर जज को पहले विश्वास नहीं होता किन्तु वह जो कुछ भी कहता है उसमें सच्चाई है, जो हमारे देश में बेरोकटोक आज भी चल रहा है ।

डॉ. शेष जी का यह नाटक यथार्थ जीवन पर आधारित है । आधुनिक समाज में आज जो कुछ घटित हो रहा है उस वास्तविकता को उन्होंने ईमानदारी से पाठकों के सम्मुख रखा है । इसलिए समसामयिकता के सन्दर्भ में इस नाटक का महत्त्व बढ़ जाता है । स्वाधीनता के बाद हमारे देश में शोषण की स्थिति यथावत् बनी रही, गरीब गरीब ही बने रहे । बूरे हालात से और गरीबी से निपटने के लिए चोरी, डाका जैसी समस्याएँ पैदा होने लगीं । चोर (राजकुमार) अपनी विडम्बित स्थिति का बयान इस प्रकार करता है – *''मैंने चोरी गरीबी के कारण शुरू की । गरीबी भी मेरी बनाई हुई नहीं है, गरीब*

अपनी पसन्द से गरीब नहीं होता है ।''[२३] कानून की नजर में मान लो कि यह चोर गुनहगार है तो समाज का एक और वर्ग भी है जो समाज का शोषण करता है । बंगलों में रहते हैं, शराब पीते हैं, बलात्कार, तस्करी, ब्लैकमेल करते हैं, यहाँ तक कि पैसों के लिए दूसरों का कत्ल करते हैं – उन्हें क्या कहेंगे ? कानून उन्हें कुछ नहीं कर सकता । कानून की नजरों में ये लोग गुनहगार नहीं है । उल्टे मूँछ पर ताव देकर घूमते हैं, मान–सम्मान सब पाते हैं और कानून की कमजोरियों का भरपूर फायदा उठाते हैं । *''लेकिन चोर जनता को धोखा नहीं देता, सर और फिर आदमी दूसरे आदमी के खिलाफ गुनाह करे और दूसरा समाज के साथ गुनाह करे – बताइए न, बड़ा गुनहगार कौन हुआ ।''*[२४]

आज समाज में फैली विडम्बना जिसमें कि प्रत्येक समाजसेवी, वकील, बिल्डर, पुलिस, कालाबाजारी, फिल्म प्रोडयूसर और धनी–नपुंसक सबके सब *''समाज के दुश्मन है''*[२५] जो भौतिक सुख–साधनों की प्राप्ति के लिए बेईमानी और बर्बरकृत्य करते हैं । सच्चाई, ईमानदारी, नैतिकता, मानवता, कर्तव्यनिष्ठा उनके लिए महज एक वायवी कल्पना रह गयी है । सम्पूर्ण समाज पतनावस्था की चरमसीमा पर पहुँच चुका है । यही समसामयिक यथार्थ है । समाज में हर तरफ भ्रष्टाचार फलाफूला है, इस कटुसत्य से हमें विदित कराना ही डॉ. शेषजी का मूल उद्देश्य है ।

(२) ऐतिहासिक–पौराणिक विषय प्रधान नाटकों में समसामयिकता :

'खजुराहो का शिल्पी' नाटक में डॉ. शंकर शेष ने कला, कलाकार और उसके आन्तर्संघर्ष को निरूपित किया है । अपने इस कथ्य की प्रस्तुति के लिए नाटककार ने खजुराहो के मन्दिर से सम्बन्धित कुछ ऐतिहासिक तथ्यों तथा मन्दिर के भीतर छिपे रहस्यों से विनिर्मित नाट्यवस्तु को आधार बनाया है । ईसा की १०वीं – ११वीं शती के मध्य निर्मित हुए मध्यदेश का खजुराहो के मन्दिर, शिल्पस्थापत्य एवं आध्यात्कि दर्शन की दृष्टि से भारतीय कला–जगत् में अद्वितीय है । *''शंकरशेष का 'खजुराहो का शिल्पी' मन्दिर के स्थापत्य के दर्शन*

को नाटक के माध्यम से सम्प्रेषित करता है । जो खजुराहो का मन्दिर कहना चाहता है, वही बात नाटककार भी कहना चाहता है । अन्तर यह है कि खजुराहो का मन्दिर स्थूल प्रस्तर खण्डों में ढाली गई भंगिमाओं से अपनी बात कहता है, चूप रहकर और नाटककार की बात जीवन्त चरित्रों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है ।''[२६]

प्रस्तुत नाटक के कथ्य पर दृष्टिपात करने पर यह तथ्य हाथ लगता है कि नाटककार पर जगप्रसिद्ध व प्रखर चिन्तक ओशो रजनीश जी के विचारों का प्रभाव लक्षित होता है । उन दिनों (सन् २८ अगस्त १९६८) में उनके विवादास्पद विषय 'सम्भोग से समाधि की और' पर हुए प्रवचनों ने पूरे भारत में हलचल मचा दी थी । उन्होंने अपने प्रवचनों में यथावकाश खजुराहो के मन्दिर का शास्त्रीय एवं दार्शनिक विचार तथा सम्भोगरत मिथुन–मूर्तियों के पीछे छिपी रहस्यात्मकता पर प्रकाश डालते हुए खजुराहो के मन्दिर को 'ध्यान केन्द्र' घोषित किया था । इतना ही नहीं मन्दिर से सम्बन्धित धर्म, काम, आध्यात्मिकता, अश्लीलता, तन्त्र, मोक्ष, प्रेम इत्यादि मानवीय पहलुओं की शास्त्रीय समझ प्रस्तुत की थी ।

डॉ. शेषजी ने 'खजुराहो का शिल्पी' की रचना सन् १९७० में की है और इसमें ठीक वही पहलुओं को केन्द्र–बिन्दु बनाया है । नाटक में जो समसामयिक सवाल उठाये गये हैं वह रजनीश जी के विचारों के परिणाम स्वरूप भारतीय समाज में हुई प्रतिक्रिया स्वरूप है । जैसे कि – श्लीलता–अश्लीलता की समस्या, कामजनित मोह के क्षण की समस्या, कलाकार की अखण्ड साधना में विक्षेप डालना तथा उसके अतीत के चरित्र के आधार पर दुष्प्रचार एवं बदनाम करना आदि समस्याओं को ऐतिहासिक कथावस्तु के माध्यम से कला या साहित्य के आधार पर प्रस्तुत किया है ।

डॉ. (श्रीमती) रीताकुमार का कहना है, *''राजा यशोवर्मन की आकांक्षा, कि मनुष्य जीवन की सम्पूर्णता का ऐसा मन्दिर हो, जो मनुष्य को क्षण के मोह के पतन से सचेत कर जागृत कर सके, और शिल्पी के जीवन का कटु अनुभव ही खजुराहो के इन मन्दिरों के निर्माण का कारण बना । सम्पूर्ण*

नाटक मनुष्य के इस पतन और इसके उदात्तीकरण की दार्शनिक व्याख्या है ।''[२७]

नाटककार ने 'खजुराहो का शिल्पी' के माध्यम से रचनाकार की कठिनाई की ओर दर्शकों या पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है । वास्तव में प्रत्येक कलाकार अपने युग की देन होता है और प्रत्येक महान कलाकृति में अपने युग की इतनी गहरी छाप होती है कि उस कृति को उस युग का सबसे अधिक मूल्यवान और प्रामाणिक ऐतिहासिक परिपत्र कहा जा सकता है । श्लील–अश्लील की समस्या रचनाकार की चिरन्तन समस्या है जिसे लेकर प्रत्येक युग में रचनाकार को संघर्ष करना पड़ता है । यद्यपि डॉ. शेष जी का कहना है कि कला के क्षेत्र में दार्शनिक धरातल पर आकर कुछ अश्लील नहीं रह जाता ।

संसार को युग–युग से सतानेवाले 'मोह के क्षण' को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ढालकर अपने युग को सांसारिकता से 'मोक्ष' की ओर अग्रसर कराने की नाटककार की सफल चेष्टा है 'खजुराहो का शिल्पी' ।

इस प्रकार डॉ. शेष जी का 'खजुराहो का शिल्पी' मध्यकालीन ऐतिहासिक तथ्यों और पात्रों को लान्धता हुआ समसामयिक भावबोध से जोड़कर सार्थकता प्रदान करता है ।

'कालजयी' की रचना डॉ. शंकरशेष ने सन् १९७३ में की थी । यह युग राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर विषमताओं से पूर्ण था । विश्वमंच पर प्रजातन्त्र और राजतन्त्र के बीच संघर्ष चल रहा था । प्रजातन्त्र अन्य शासन प्रणाली की अपेक्षा जनचेतना के अधिक सुसंगत मालूम पड़ती होने के कारण उन राज्यों में जहाँ परम्परागत रूप से तानाशाही का प्रचलन था वहाँ जनता ने उसके प्रति विद्रोह शुरू कर दिया था । डॉ. शेष जी ने 'कालजयी' नाटक के लिए पौराणिकता का ही आधार लिया है । *''वस्तुतः यहाँ पौराणिक आधार न होकर उसका आभास मात्र है, जिसके माध्यम से उन्होंने राजतन्त्र और प्रजातन्त्र के संघर्ष को रूपायित किया है ।''*[२८] विवेच्य नाटक के समग्र अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने समसामयिक राजतन्त्र और प्रजातन्त्र

के संघर्ष के लिए हमारे पड़ोसी राष्ट्र पाकिस्तान की शासन प्रणाली को नाटक का विषय बनाया है । हमारे देश में प्रजातन्त्र शुरू से रहा है परन्तु पाकिस्तान में सैनिकशासन और तानाशाही का प्रचलन रहा है । 'कालजयी' पाकिस्तान के तानाशाही की उपज है । और भी बहुत सारे कारण और प्रसंग इस नाटक में वर्णित है जो पाकिस्तानी सैनिक शासन के साथ सन्दर्भ रखते हैं ।

''स्वाधीनता मनुष्य के लिए बहुत मूल्यवान है और इसका मूल्य स्वतन्त्र व्यक्ति के लिए भी उतना ही है जितना मूल्यवान है स्वतन्त्रता का अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध और इसी सम्बन्ध से उपजता है प्रजातन्त्र ।''[२६] अपने निजी स्वार्थ हेतु जनता पर अमानवीय जुल्म गुजारनेवाला सैनिक शासक प्रजातन्त्र की माँग करनेवालों के सामने केवल पाशवी, हत्यारा, बर्बर रूप में ही पेश होता रहा है । क्योंकि ऐसा होने पर उसकी एकछत्रसत्ता अक्षुण्ण बनी रह सकती है ।

धर्म की आड़ लेकर अपनी प्रजा में महादेश (भारत) के प्रति विद्रोह और युद्ध का उन्माद जगाने की कुटिल नीति पाकिस्तानी शासकों की स्वभावगत शाश्वत प्रवृत्ति है । जब–जब भी प्रजातन्त्र की माँग, व्यक्ति स्वातन्त्र्य की माँग वहाँ तीव्र हुई है तब–तब *''धर्म संकट में है''*[३०] कहकर प्रजाजनों का ध्यान युद्ध की ओर मोड़ दिया जाता है । *''उनके मस्तिष्कों में केवल एक बात जमाओ कि महादेश हमारा शत्रु है । घृणा पैदा करो, घृणा केवल युद्ध भावना को जन्म देती है । और युद्ध भावना से पीड़ित जनता कभी अपने विकास की माँग नहीं करती ।''*[३१]

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत देश की उपेक्षा करनेवाले समुद्रपार के समर्थ राष्ट्रों की दो–धारी नीति से समसामयिक समस्याएँ काफी प्रभावित होती रही हैं । 'कालजयी' नाटक उस युगीन सत्य से हमारा साक्षात्कार कराता है । मृत्युंजय का कथन है, *''समुद्रपार गौरांगों का एक बहुत सम्पन्न देश है, वहाँ प्रजातन्त्र है, वही हमें नये–नये हथियार दे रहा है । महाराज वह प्रजातन्त्र का नारा लगाता है, लेकिन पड़ोसी महादेश का प्रजातन्त्र उसे भी हमारी ही तरह*

फूटी आँखों नहीं सुहाता । उनकी बस एक ही शर्त है कि हम उनके सामान से अपना बाजार पाट लें और उनकी जयजयकार करें ।''[३२]

हालांकि नाटककार ने सत्ता में परिवर्तन दिखाकर प्रजाकीय जागृति का परिचय दिया है, जो वर्तमान की माँग है । साथ–साथ यह भी सिद्ध किया है कि कालजयी कभी मरता नहीं, वह किसी न किसी रूप में हर युग में दिखाई देता है । *''प्रत्येक सत्ताधीश मन ही मन अपने आपको कालजयी बनाने की इच्छा रखता है । लेकिन राजनीतिक आबोहवा में सत्ता में परिवर्तन चाहने के कारण आखिर कालजयी की सत्ता पलट जाती है । कालजयी नाटक के कथानक में निहित राजा कालजयी की वृत्ति भी कालजयी ही है । और यह वृत्ति युग–युग में दिखाई देती है ।''*[३३]

इस नाटक की प्रतीकात्मकता उसे पौराणिक या ऐतिहासिक धरातल से उतारकर समसामयिकता के धरातल पर प्रतिष्ठित कर देती है । राजा कालजयी का अजरत्व–अमरत्व उसकी निरंकुश सत्ता के शाश्वत बने रहने का प्रतीक है । उसे सैकड़ों पत्नियाँ होना उसकी बलात्कारी, भोग लम्पट तथा सामन्तीय भोग–विलास प्रवृत्ति का प्रतीक है । वैद्यराज मृत्युंजय चिरयौवन का भ्रम फैलानेवाले राजा के विश्वासु व्यक्ति का प्रतीक है । क्रान्तिकारी दल के सभी सदस्य प्रवर्तमान तानाशाही और आतंकवादी ताकतों के विरुद्ध लड़ने और जन जागृति का अभियान चलानेवाली लोकशक्ति का प्रतीक है । पड़ोसी महादेश, पूर्वांचल, समुद्रपार गौरांगों के सम्पन्न देश यथानुक्रम भारत, बांग्लादेश और अमरिका तथा इंग्लैण्ड का प्रतीक है ।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक विषयों में डॉ. शंकर शेष ने बड़ी रुचि ली है । इस बहाने उन्होंने समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को प्रकट किया है । *'कोमल गान्धार'* नाटक का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह नाटक मात्र पौराणिक कथा प्रस्तुत नहीं करता अपितु समसामयिक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश की अनेकानेक विसंगतियों व विद्रूपताओं को भी सफलतापूर्वक वहन करता है । और फिर पौराणिकता यहाँ केवल गृहित तत्त्व है । डॉ. सुनीलकुमार लवटे के शब्दों में –

'' 'कोमल गान्धार' पौराणिक विषयवस्तु का वहन करनेवाली नाट्यकृति है । ... परन्तु बात ऐसी नहीं है । नाटक का मूल उद्देश्य पुराणकथा को दोहराना न होकर नये आयामों को प्रस्तुत करना रहा है । यहाँ पौराणिकता गृहीत तत्त्व है ।''[३४]

'कोमल गान्धार' में गान्धारी के पात्र को उनकी जीवनगत परिस्थितियों को नाटककार ने मानवीय दृष्टि से देखा है । नाटक की कथा धृतराष्ट्र और गान्धारी के विवाह से लेकर दोनों के मृत्युवरण तक की कथा है । नाटक की केन्द्रीय पात्र गान्धारी है । राजनीतिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह नाटक समसामयिक संवेदना को व्यक्त करता है । नाटक की केन्द्रीय संवेदना राजनीति और व्यक्ति–जीवन पर उसके अनधिकार हस्तक्षेप से जुड़ी है । नाटक में जिन प्रमुख समस्याओं को प्रमुखता दी गई है – नारी की विडम्बनात्मक स्थिति, राजनीति की निर्दयता, समर्थ सत्ता के जरिए छोटे शासकों का शोषण, उत्तराधिकारी में वर्णवाद, व्यक्ति के अस्तित्व विघटन की समस्या जो हमारी आज की समस्याएँ हैं ।

नाटक के आरम्भ में संजय का कथन – ''कर्तव्य की आड़ में पाप करना ही हमारी नियति हो गयी है क्या ?''[३५] बहुत ही सूचक और समसामयिकता को प्रकट कर जाता है ।

पुरुष वर्चस्व–प्रधान समाज में नारी की नियति सदैव से वही है, जो महाभारतकाल में थी और आज भी वही है । प्राचीनकाल से किया जानेवाला नारी का शोषण और षड्यन्त्र ही इस नाटक में चीत्कार बनकर गूँजा है । पुरुषवर्ग पिता, पति और पुत्र के रूप में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के साधन रूप में नारी जाति का उपयोग करता आया है । भीष्म हस्तिनापुर के उत्तराधिकारी की पूर्ति हेतु सुबलराज को धन व शक्ति से दबाकर नवयौवना गान्धारी को प्रवंचना का शिकार बनाकर ले आते हैं, वो भी जन्मान्ध राजकुमार धृतराष्ट्र के लिए । भीष्म और सुबलराज ने गान्धारी के भाग्य का फैसला किया, उसके साथ साजिश की, क्यों ? शायद इसलिए कि वह नारी है । समसामयिक धरातल पर आज भी इसको हम खरी उतरती पाते है, क्योंकि तथाकथित सभ्य

समाज में नारी पराधीन जिन्दगी जी रही है । हालांकि यहाँ गान्धारी नारी की चिरशोषित अवस्था और अन्याय का घोर प्रतिरोध करती है तथा परम्परा को तोड़ने का दृढ़ संकल्प करती है यह नारी के चेतना सम्पन्न होने की निशानी है ।

कौरवों को गान्धारी वंशवृद्धि के लिए चाहिए थी । पुरुषवर्ग ने षड्यन्त्र से गान्धारी के स्वप्नों को तोड़कर अन्धे धृतराष्ट्र की झोली में डाल दिया । क्या स्त्री का अस्तित्व केवल प्रजनन तक ही सीमित है ? स्त्री का स्वाभिमान, अस्मिता क्या कोई अर्थ नहीं रखता ? महान माने जानेवाले इस कुल में उसकी मर्म व्यथा को, उसकी भावनाओं को समझनेवाला कौन है ? *''कौरवों को चाहिए था एक शरीर, जिसमें बहता हो राजरक्त.... ऐसा शरीर जिससे राजरक्तवाले दूसरे शरीर पैदा किए जा सकें... बताइए, इससे ज्यादा क्या मेरे अस्तित्व को स्वीकारा है आपके इस महान कुल ने ?''*[३६] गान्धारी का यह कथन वास्तव में सदियों से पुरुष द्वारा स्त्री–जाति के अस्तित्व के प्रति किए गए क्रूर मजाक की प्रतीति कराता है, जिसे अब स्त्री स्वीकार करने को तेयार नहीं है । गान्धारी द्वारा आँखों पर पट्टी बाँधने की घोषणा वर्तमान नारी की अन्याय के प्रति विद्रोह भावना या जागृति का बोध कराती है ।

वर्तमान राजनीति में मूल्यहीनता अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुकी है । आज की राजनीति में मूल्य व विचारों की बात करना व्यर्थ है । राजनीति के नाम पर घृणित कार्यसिद्धि की जाती है । राजनीति के इस विषैले कीड़े ने मनुष्य की संवेदना, जीवनरस तथा उसके कोमल हृदय को जर्जर, ृविषैला व शिला की भाँति संवेदनशून्य कर दिया है । नाटककार ने महाभारत की गान्धारी के चरित्र को नये आयामों में उपस्थित कर इस कृति को दर्शन एवं चिन्तन के धरातल पर भी सशक्त बनाया है ।

(३) मिथकीय नाटकों में समसामयिकता :

डॉ. शंकरशेष का मिथकीय चिन्तन समसामयिकता और पौराणिक मिथकीय बोध के केन्द्रीय सवालों से जुड़ा हुआ है । उन्होंने इतिहास–पुराण और मिथक

की जटिल प्रक्रिया को युगयथार्थ से सम्पृक्त करके इस रूप में प्रस्तुत किया है कि उन्हें अलगाव की मुद्रा में नहीं देखा जा सकता । उनके आरम्भिक मिथकीय चिन्तन को स्पष्ट करते हुए डॉ. दशरथ ओझा लिखते हैं – *''कृष्ण, ऊधो, धरणी, गगन, द्रोणाचार्य आदि पौराणिक नामों का उपयोग केवल परम्परा से जुड़े रहने का बहाना मात्र है, वास्तव में उन पात्रों का पौराणिक क्रिया–कलापों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं ।''*[३७] इस प्रक्रिया में डॉ. शेष जी ने इतिहास–पुराण और मिथक की जटिल प्रक्रिया को युगयथार्थ से सम्पृक्त करके इस रूप में प्रस्तुत किया है कि उन्हें अलगाव की मुद्रा में नहीं देखा जा सकता ।

'नयी सभ्यता : नये नमूने' नाटक में उन्होंने परम भागवत श्रीकृष्ण से सम्बन्धित किसी पौराणिक कथा को ग्रहण न करते हुए केवल कृष्ण के नाम, क्रियाकलाप या कृष्णनीति को ग्रहण किया है । पापी तथा अन्यायी तत्त्वों के संहारक भगवान श्रीकृष्ण के मिथ का प्रयोग कर नाटककार ने कृष्ण को गलत मार्ग से धनार्जित व कीर्ति अर्जित करनेवाले तत्त्वों का चीरहरण करनेवाला सिद्ध करने का प्रयास किया है । *''कृष्ण यहाँ समाज के तथाकथित ब्लैक मार्किटियों, सफेदपोशों की शल्य चिकित्सा कर समाज संचालन करनेवाले धर्माधिकारियों के घृणित कार्यों पर बन्दिश लगाने के प्रयत्न में जनसामान्य के समक्ष उनकी अन्दरुनी सच्चाई को परखते–निरखते हैं ।''*[३८]

ईमान से या पुरुषार्थ से बड़ा आदमी बनना वर्तमान समय में आसान नहीं है । *''बिना थोड़ी बेईमानी किए कोई भी बड़ा आदमी नहीं बन सकता ।''*[३९] यही नाटक की समसामयिकता है ।

आर्थिक असन्तुलन के परिणाम स्वरूप आज का व्यक्ति बिखरा–बिखरा सा प्रतीत होने लगा है । आर्थिक दृष्टि से हीन लोगों का समाज में कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता । बेकारी की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है । कृष्ण जैसे शिक्षत बेरोजगार नौकरी की तलाश में भटकते फिरते हैं परन्तु चारों ओर छाये भ्रष्टाचार और भाई–भतीजावाद के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर बेईमानों को लूंटना अपना पेशा बना लेते हैं । विवशता के क्षणों में बेईमानों

और बेवकूफों को लूटना उनकी दृष्टि से अपराध नहीं है । सज्जनता के स्वांगको रचनेवाले तथाकथित सज्जन लोगों के सत्य सवरूप का उद्‌घाटन करते हुए नाटककार ने यह भी दिखाया है कि आज के दौर में युवक–युवतियाँ नट–नटियों के व्यामोह में, फैशन एवं प्रेम प्रदर्शन में इस प्रकार अटक गए हैं कि चरित्र निर्माण की घोर उपेक्षा हो रही है ।

इस प्रकार से डॉ. शेष जी ने कृष्ण के मिथक द्वारा न केवल सामयिक प्रश्नों को उठाया है अपितु कृष्ण की अदा में आधुनिक कृष्ण के जरिए प्राणान्ते सत्य और धर्म की दुहाई देनेवाले कर्ण जैसे नैतिकता का आडम्बर रचनेवाले लोगों के चेहरे पर से नकाब उतरवाया है, *''नीति का नाम मत ले भूलवू । इस शब्द से मुझे बेहद नफरत है । संसार में नैतिकता से बढ़कर मीठा छल नहीं । नैतिकता का थोथा आदर्श केवल शब्द–जंजाल है.... दूसरों को उपदेश देने के लिए बहुत अच्छा साधन है । गरीबों को चूसने का एक शस्त्र । और हाँ, तुम्हारे पिता जब घी में मिलावट करते हैं, अनाज में कंकड मिलाते हैं तब कहाँ होती है ये नैतिकता । मेरे पिता को नौकरी से झूठे आरोप लगाकर हटाया गया तब कहाँ थी यह नैतिकता ?... मैंने ग्रेजूएट किया वो भी फर्स्ट क्लास में क्या फायदा हुआ ? किसी ने नौकरी न दी । मैं दर–दर घूमता रहा । हाथ–पैर जोड़े पर मैं किसी सेठ–साहूकार, आला अफसर का भांजा–भतीजा नहीं था । मेरी बीमार माँ ने... दम तोड़ दिया मेरी इकलौती बहन को टीबी हो गई । कितना गिड़–गिड़ाया । सब ने कुत्ते की तरह मुझे दुत्कारा । तब कहाँ थी नैतिकता... अपने पिता से .... रूपए ऐंठते समय कहाँ गई थी तुम्हारी नैतिकता ।''*[४०]

'एक और द्रोणाचार्य' नाटक पूर्णतः प्रासंगिक है । नाटक का शीर्षक मिथकीय है जो प्रतीकात्मक अर्थ द्वारा आज के ईमानदार, आदर्शप्रेमी, कर्तव्यनिष्ठ एवं सत्यप्रिय अध्यापक का महाभारतकालीन द्रोणाचार्य की स्थितियों से साम्य स्थापित कर देता है । नाटककार ने अरविन्द के माध्यम से आाज के अध्यापक की दयनीयता का चित्रण किया है । डॉ. शेष जी ने शिक्षा जगत् की उन करुणान्तिकाओंको बहुत ही नजदीक से देखा–परखा है; क्योंकि वे स्वयं

अध्यापकीय अनुभवों से गुजरे हैं । *''अध्यापक की जिन्दगी की इस शोकान्तिका या त्रासदी की जब कारण मीमांसा या चिकित्सा करने लगते हैं तब उन्हें दिखाई देता है कि व्यवस्था के हाथ बिक जाने, स्वत्व खोने, उपकृत होने की प्रवृत्ति कोई आज की बात नहीं है । इस परम्परा का स्रोत उन्हें महाभारतकाल में मिलता है ।''*[४१]

हमारे देश में शिक्षा, शिक्षा संस्थान और शिक्षक को श्रद्धा एवं पूज्यभाव से देखा जाता था । शिक्षा क्षेत्र में सिवा शिक्षक के और किसी की हुकूमत नहीं चलती थी । छात्र, शिक्षण या गुरु के सामने आज्ञाधारी या अन्तेवासी रूप में सन्नद्ध रहता था । परन्तु आज स्थिति बिल्कुल विपरीत मालूम पड़ती है । इसका कारण शिक्षाजगत् में अनपेक्षित राजनैतिक हस्तक्षेप है । इतिहास साक्षी है कि जब'–जब शिक्षाक्षेत्र में संचालक के रूप में सत्ताधारी ने सत्तासूत्र थामे हैं, शिक्षा क्षेत्र की दशा बिगड़ी है । उक्त समसामयिक कटु सत्य को हम देख रहे हैं । आज शिक्षा–संस्थानों में उनके प्रेसिडेंट सर्वोपरि हो गये हैं, आचार्य, शिक्षक की कीमत दो कौडी की । छात्र उद्धत, अविवेकी और अध्यापक के खून के प्यासे हो गए हैं । शिक्षा–संस्थान उसके नीति–नियमों से नहीं बल्कि प्रेसिडेंट के इशारों पर चलते हैं । प्रेसिडेंट इन्हें व्यापार का केन्द्र बनाने में तनिक लज्जा का अनुभव नहीं करते । वे खिलाफ जानेवाले शिक्षक को डरा सकते हैं, धमका सकते हैं, सुविधाएँ देकर उन्हें पालतू कुत्ता बनवा सकते हैं । रुपयों के गबन का आरोप लगाकर गिरफ्तार करवा सकते हैं और ये सब सम्भव न हुआ तो बीच चौराहे मरवा भी सकते हैं । नाटककार ने तत्कालीन शिक्षा जगत् की इन विभीषिकाओं पर प्रकाश डालते हुए अध्यापक के स्वत्व और सत्त्व को चूर–चूर कर देनेवाली व्यवस्था की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है ।

समसामयिक युग में व्यवस्था के साथ अनुकूलन साधने के लिए उसका सुवर्ण–सूत्र अपनाना अनिवार्य हो गया है ! *''लड़ो मत–झुको । सोचो मत–मानो ।''*[४२] *''कान बन्द कर लो । आँखे मून्द लो । मुँह खुला रखो–बोलने के लिए नहीं, रोटी खाने के लिए ।''*[४३] इसका अनुसरण करने पर

सुविधा और सुरक्षा दोनों मिलती है । शर्त केवल इतनी ही कि अपनी आत्मा को मार देना होगा ।

वर्तमान परिस्थितियों में ईमानदारी, निष्पक्षन्याय, कर्तव्यनिष्ठा, आदर्शवादिता आदि शब्द वायवी या किताबी हो गए हैं । अन्यायी और अत्याचारी ताकतों को चुनौती देनेवाली शक्ति तथाकथित बुद्धिजीवियों व सुविधाभोगी समाज में क्षीण हो गई है । व्यवस्था के हाथ बिके जाने के कारण आदर्श परम्परा नष्ट–भ्रष्ट हो चुकी है । हालाँकि उसे अपनी नपुंसकता पर, अपाहिजपन पर लानत हो रही है, अपनी बुझदिली का ज्ञान हो गया है । अरविन्द का निम्नांकित कथन यही सिद्ध करता है – *''कह तो रहा हूँ, आत्मज्ञान हो गया है मुझे ! अपने क्षुद्र होने का आत्मज्ञान । सड़े हुए आटे में बिलबिलानेवाला कीड़ा होने का आत्मज्ञान ।''*[४४]

मुख्य रूप से सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था में शिक्षक की भूमिका के सन्दर्भ में दोनों युगों में अत्यधिक अन्तराल होने पर भी अत्यधिक साम्य है । सामाजिक जीवन की समस्याएँ प्राचीन युग में हों या आज के युग में, राजनीति महाभारतकालीन हो या आज की व्यक्ति केन्द्रित, आज की व्यवस्था की पीड़ा आज के व्यक्ति को भी बहुत हद तक उस युग के व्यक्ति की भाँति ही झेलनी पड़ती है ।

आज जो व्यक्ति (शिक्षक) सच्चाई और ईमानदारी से जीवनयापन करना चाहता है वही द्रोणाचार्य है । हमारी तत्कालीन सामाजिक, प्रशासनिक व राजनैतिक ताकतें उसे समझौते के लिए मजबूर कर रही हैं । व्यवस्था की चक्की में पिसता हुआ द्रोणाचार्य अपने स्वत्व और सत्त्व की परीक्षा दे रहा है ।

पौराणिक मिथक की पृष्ठभूमि में लिखा गया *'अरे ! मायावी सरोवर'* नाटक नारी–जीवन की सार्थकता पर प्रकाश डालता है । नाटक की मिथकीयता एवं युगीन सन्दर्भ का जिक्र करते हुए डॉ. सुनीलकुमार लवटे ने लिखा है, *''नाटक की कथा में पुराण, इतिहास आदि के साथ वर्तमान का भी समन्वय है । नौटंकी नाटक पौराणिक कथा को लेकर लिखे जाते थे । यहाँ भी कथा*

में पौराणिक स्पर्श अनिवार्य रूप में झलकता है ।... पुराण तथा इतिहासाधारित इस कथा में अधिक से अधिक आधुनिक सन्दर्भ डालकर इसे समकालीन दर्शकों के लिए बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है ।''[३५]

स्वातन्त्र्योत्तरकाल में समाज में भी सभी पार्श्वो में आमूल परिवर्तन आया है । सामयिक परिवेश से नारी–जीवन भी काफी प्रभावित हुआ है । नारी, जो पहले घर की चार दीवारी के भीतर सीमित थी, अब उसका दायरा शिक्षा, समाज, राजनीति, अर्थ आदि क्षेत्र तक विस्तृत हो गया है । पुरुष की भाँति वह भी शक्ति, बुद्धि और स्वतन्त्रनिर्णय शक्ति को लेकर अपनी क्षमता सिद्ध कर रही है । नारी के इस समसामयिक जीवन को कथ्य बनाकर नाटककार ने स्त्री–पुरुष के बीच की वृत्तिगत खाई को पाटने का प्रयास किया है । स्त्री और पुरुष दोनों में किसका जीवन ज्यादा सार्थक लगा ? इस सवाल पर राजा (स्त्री वेश में) इन्द्र से कहता है – *''स्त्री के जीवन को मैंने ज्यादा सार्थक, सृजनशील और समर्पण भरा पाया, देव !... पुरुष की भूमिका ज्यादातर उपभोक्ता की पायी मैंने.... लेकिन स्त्री ... वह रचनाकार है... रचना करना... उसे दूसरों को सौंप देना... जीवन के प्रति जिस अनन्त श्रद्धा और विश्वास का अनुभव मैंने स्त्री के रूप में किया – उसका हिस्सा भी पुरुष रूप में नहीं ।''*[३६]

स्त्री में विद्यमान अनन्त सम्भावनाओं का एहसास केवल स्त्री ही कर सकती है, पुरुष नहीं । चाहे वह गृहकार्य में व्यस्त गृहिणी हो, रतिक्रीडा में सर्वाधिक आनन्दोपलब्धि करनेवाली रमणी हो, बच्चों के लालन–पालन में रुचि लेनेवाली एवं उसके अधिकार के लिए लड़नेवाली माता हो, स्त्री पुरुष से बढ़कर ही है ।वह पुरुष की भाँति जल्दी समाप्त नहीं होती और नहीं अपने आपको जल्दी से दुहराती । शायद, इसकी प्रतीति कराने के लिए ही नाटककार ने राजा इल्वलु का लिंग परिवर्तन करवाया है । रानी का राजा से बार–बार कहना इस बात का सूचक है – *''औरत बनकर देख राजा, एकबार औरत बनकर देख, एक बच्चे की माँ बन... फिर अपने आप सबकुछ समझ में आ जाएगा ।''*[३७]

इसके अलावा 'मातृसत्ता–पद्धति' और 'पितृसत्ता–पद्धति' के समसामयिक द्वन्द्व को उपस्थित कर 'मातृसत्ता–पद्धति' की कुछेक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए नाटककार इन्द्र से इसका परिहार करवाते हैं – *''लेकिन अपवाद नियम नहीं बन सकता । आर्यो की पितृसत्ता–पद्धति को चलाना हम सबका कर्तव्य है ।''*[४८]

''क्या स्त्रियाँ देश नहीं चलातीं ? क्या पुरुषों से अच्छी तरह नहीं चलातीं ? जो पुरुषों से नहीं बन पाया, क्या उन्होंने नहीं कर दिया ?''[४९] तथा *''और लेखक कहा तो थोड़ी बहुत चोरी आ ही गई''*[५०] की अभिव्यक्ति में नाटककार ने समसामयिक राजनैतिक धरातल पर उदीयमान स्त्री–नेतृत्वशक्ति एवं सृजन के धरातल पर उठावगीरी की प्रवृत्ति से हमें अवगत कराया है ।

विवेच्य नाटक का शीर्षक ही प्रतीकात्मक है । 'अरे ! मायावी सरोवर' विचित्र और विपरीत परिवेश का प्रतीक है जिसमें वास्तविक जगत् से विपरीत और ऐन्द्रजालिक अनुभव होता हो । यथा–पेड़ उल्टे लटके हुए हैं, उनकी जड़े आकाश की ओर और डालियाँ जमीन की ओर रहती हैं । आकाश का रंग लाल, बादलों का रंग हरा, बीच में तट और दोनों ओर नदी बह रही है । सफेद कौवे, काले हंस, सूण्डवाले शेर, शेर के जबड़ेवाले हाथी, मूसल के समान घास है । यहाँ का सिंह घास खाता है, गाँय माँस खाती है, जूही से बू आती रहती है और दिन में चाँद उग आता है ।

इसके अतिरिक्त उल्लू का विद्यापीठ का कुलपति होना विद्याधामों में मूर्खशिरोमणियों का प्रभुत्व होने का प्रतीक है । गाय का डेयरी कोर्पोरेशन का मैनेजिंग डायरेक्टर होना तथा हॉट डाग्ज खाना आधुनिक शिक्षा–दीक्षा के प्रभाव स्वरूप स्त्री के रहन–सहन और खान–पान में आये परिवर्तन का सूचक है । कुत्ते का प्रमुख अखबार का सम्पादक होना आज के मीड़िया जगत् में समाचार के नाम पर अनाप–शनाप बकवास करनेवाले एवं सनसनीखेज घटनाओं के जरिए वातावरण तंग करनेवाले पत्रकारों का प्रतीक है तो भेड़िये उन दुष्ट–आततायी शक्तियों का प्रतीक है, जो अपनी सुविधानुसार षड्यन्त्र रच कर हम जो नहीं बनना चाहते, हमें बना देते हैं ।

''नाटक में प्राणियों के बाँधे ये रूपक बेहद सांकेतिक है ।''[५१]

डॉ. शंकरशेष ने पुराणों में वर्णित राक्षस 'रक्तबीज' के मिथ को आधार बनाकर *'रक्तबीज'* नाटक की रचना की है । पौराणिक मिथक रक्तबीज के माध्यम से नाटककारों ने समसामयिक मध्यमवर्गीय जिन्दगी में व्याप्त अतिमहत्त्वाकांक्षाओं के परिणाम स्वरूप विभीषिकाओं के प्रति दर्शक या पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है । साथ ही हत्या–आत्महत्या, पदोन्नति, प्रतिष्ठा और पैसों के लिए आज के मानव के नैतिक अधःपतन से सम्बन्धित प्रश्न उठाएँ हैं ।

यह एक शाश्वत सत्य है कि भौतिक सुखाकारी प्रधान मनोवृत्तिवाले मनुष्य अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए किसी भी व्यक्ति की भावनाओं से खेलने में तनिक भी संकोच नहीं करते । भौतिकवादी युग ने आज के मानव की सुप्त महत्त्वाकांक्षा को केवल उकेरा ही नहीं बल्कि उसे क्रूर भी बनाया है । नाटककार का यह विधान – *''महत्त्वाकांक्षा क्रूरता की सबसे बड़ी रखैल है''*[५३] इस सन्दर्भ में बड़ा सटीक लगता है । भौतिक सुख–सुविधा समसामयिक दौर में प्रधान बन गई है । उसके बिना जैसे आज के व्यक्ति का जीवन निरर्थक, निष्प्राण और अधूरा है । वह उसकी सिद्धि के लिए कोई भी रास्ता अपनाने को तैयार है, चाहे वह रास्ता बेईमानी का, अनैतिकता का या मानवीय गरिमा के अधःपतन का क्यों न हो । मतलब यह कि चिरन्तन मानवीय मूल्यों को कुचलकर आज का व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा और पैसा पाने में कोई भी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करता । डॉ. शेष जी ने इसे दो कथाबीजों के द्वारा अभिव्यक्त किया है । पूर्वार्द्ध की घटना में छोटापुरुष अपने पद और आर्थिक स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है । उसे बड़ा पुरुष बनना है, जिसके लिए उसकी वर्तमान हालत में कोई योग्यता दिखाई नहीं देती । अतः वह अपनी पत्नी का इस्तेमाल करके अपने बॉस का भी इस्तेमाल करना चाहता है । अपने बॉस की गन्दी हरकतों को सहने के लिए वह अपनी पत्नी को उत्साहित करता है । उसकी आत्मा मर चुकी है । पत्नी की भावनाओं की आहुति देकर वह ऊँचा पद, प्रतिष्ठा और पैसा पाता है किन्तु वो नहीं पा सकता जिसकी

आवश्यकता इन सब की प्राप्ति के बाद भी मानवीय जिन्दगी में महसूस होती है । पत्नी खुद जहाँ पति के निर्माल्य व्यक्तित्व की भर्त्सना करती है – *''इसीलिए तो शिकायत है उससे, मानस ! एक रास्ते की तरह इस्तेमाल किया उसने मेरा ।''*[५४] ''आखिर है तो रक्तबीज की सन्तान ।''[५४]

''पहली घटना की सुजाता पति से प्रेरित अपने और उसके बॉस द्वारा इस्तेमाल होते हुए ऐसे बिन्दु तक पहुँचती है जहाँ अपने संस्कारों से मुक्त न हो सकने के कारण वह आत्महत्या ही कर सकती है । और कोई रास्ता उसके पास नहीं बचता है ।''[५५]

दूसरे घटनाक्रम में डॉ. शेष जी ने आज की शहरी जिन्दगी में इस्तेमाल की दुनिया का एक और दृष्टान्त प्रस्तुत करके तथाकथित आधुनिक मानव की नीयत को साफ कर दिया है । आधुनिक मानव के दिमाग में बहुत गहराई तक यह बात पैठ चुकी है कि – *''जो इस्तेमाल होता रहता है वह कभी बड़ा नहीं बन सकता ।''*[५६] इस घटना में डॉ. शन्तनु के महत्त्वपूर्ण संशोधन को अपने नाम छपवाकर डॉ. गोयल प्रसिद्धि के साथ और सबकुछ पा जाता है । डॉ. गोयल (बॉस) जीवनभर परिश्रम करे तो भी ऐसा संशोधन नही कर सकता और प्रसिद्धि नहीं पा सकता है । अतः वह आधुनिक समाज की व्यावहारिकता 'इस्तेमाल' के अस्त्र को अपनाता है । वह बॉस की हैसियत से सब सम्भव–असम्भव सहायता–सुविधाएँ प्रदान करके उसका विश्वास जीत लेता है । बॉस का इस्तेमाल किए जाने की सुखानुभूति पानेवाला डॉ. शन्तनु अपना शोध–प्रबन्ध फॉरवर्ड करने बॉस को दे जाता है । इस्तेमाल की दुनिया का चालाक प्राणी डॉ. गोयल उस शोध–प्रबन्ध को अपने नाम से फॉरवर्ड करके रातोंरात प्रसिद्ध हो जाता है तथा मर कर भी अमर हो जाता है । *''हर आदमी दूसरे आदमी का इस्तेमाल कर रहा है । होड़ लगी है साली इस बात की । शन्तनु ने डॉक्टर गोयल का इस्तेमाल करने की कोशिश की । लेकिन खुद ही इस्तेमाल हो गया । ऑक्टोपस के गर्भ से ऑक्टोपस का ही जन्म होगा ।''*[५७]

कोई भी व्यक्ति क्यों न हो वह जब मानसिक और नैतिक रूप से अपने आपको मार डालता है तभी वह मौलिक रूप से दूसरों को मार सकता है अर्थात् पहले आत्महत्या ही होती है और उसके बाद हत्या । डॉ. शेष जी ने युगीन विसंगतियों को चित्रित करके उसे अनुत्तरित छोड़ दिया है । 'रक्तबीज' नाटक में प्रयुक्त पौराणिक मिथक आज भी पूर्ण प्रासंगिक है ।

'राक्षस' : डॉ. शेष जी ने प्रस्तुत नाटक की समसामयिक परिस्थितियों व घटनाओं को महाभारत के प्रसिद्ध 'बकासुर' राक्षस के मिथ से जोड़कर भविष्य के प्रति अपनी आशा की भावना अभिव्यक्त की है । 'राक्षस' में युगबोध की सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती हे । महाभारतकालीन मिथक की पृष्ठभूमि में आज के परिवेश में व्याप्त राजनैतिक षड्यन्त्र और क्रूर दमन (राक्षस या रणछोडदास), स्वार्थलोलुपता (लाल, नीला, पीला), चाटुकारिता (सेठ कल्लूलाल), शोषण (सुकालू–दुकालू आदि जनता) के प्रति विद्रोही (कवि और स्त्री) की चेतना को ही चित्रित किया है ।

आज का राजनैतिक आततायी वर्ग (राक्षस) अपने निहित स्वार्थो के लिए आम आदमी का जीवन हराम किए हुए है । आखिर यह राक्षस आता कहाँ से है ? शायद हमारी अपेक्षावृत्ति इसके लिए कारणभूत है । स्त्री का कथन इस बात की पुष्टि करता है, *''शायद हमारे हाथों से ही उस राक्षस की रचना होती रही है, लेकिन हम नजरअन्दाज करते रहें । पहले यह समझकर कि वह छोटा है, क्या बिगाड़ लेगा हमारा... जब वह हमारी बराबरी का हुआ तो हमने सोचा, क्या है, कभी भी लड़ लेंगे उससे, जब वह हमसे कुछ बड़ा हो गया तो हम में से कुछ चतुर लोगों ने उसकी शक्ति का अंश पाने के लिए कर ली उसने मित्रता । हमने कभी पता लगाने की कोशिश नहीं की कि उसका आकार बढ़ानेवाले पोषण तत्त्व आते कहाँ से हैं ।... आज हमारी ही रचना हमारी नियति तय कर रही है ।''*[४८]

कवि और स्त्री जनजागृति में जुटे हैं । कवि अपनी कविता द्वारा जनता में संवेदना जगाने और चेतना भरने का काम करता है ताकि जनता राक्षस की आण्विक ताकत के भय से गाँव छोड़कर पलायन न करें । परन्तु उसकी

कविता का किंकर्तव्यमूढ़ जनता पर कोई प्रभाव नहीं होता । वे सभी राक्षस के प्रतिनिधि और शान्तिदूत रणछोडदास की समझौतावादी नीति में विश्वास कर लेते हैं । कवि इस बार भी लोगों को कायरता त्यागकर प्रतिकार करने के लिए चीखता है, *''समझौता मत करो भाइयो । मैं फिर कहता हूँ । समझौता मत करो ।... हर समझौता तुम्हें नालायक, कमजोर, नपुंसक और बौना बनाता जाएगा ।''*[४६] *''एबकार लड़ लो साथियों...केवल एकबार... वरना शताब्दियों तक फिर लड़ सकने की हालत में कभी नहीं आ पाओगे । समझौते से राक्षस की ताक बढ़ेगी । सिर्फ राक्षस की ।''*[४७] लेकिन हमारे देश का यह दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ हमेशा हर दीर्घदृष्टा की, जागृत, स्वाभिमानी एवं क्रान्तिकारी व्यक्ति की उपेक्षा ही हुई है । मौजूदा हालात को समझौते की नीति से हल करने का प्रयास कितना आत्मघाती सिद्ध होता है यह हमने देख लिया है । 'राक्षस' में नाटककार ने समझौतावादी नीति के प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है । राक्षस जब ताकतवर होता है तो वह हमारे मर्म पर आघात करता है । आज राक्षस ने मानव की समस्त संवेदनाओं पर हमला कर दिया है । जागृति नगर, विश्वासनगर, आजादनगर, दया नगर, श्रद्धानगर, करुणानगर आदि मानवीय आस्थास्थानों, भावों को ध्वस्त कर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है । यह राक्षस हर जगह बैठा है – *''राक्षस आपकी आत्मा में बैठा राक्षस । आपकी साँसों में जहर की तरह घुला हुआ राक्षस, आपकी धमनियों में खून में तैर रहा राक्षस, आपकी किताबों में मोर पंख की तरह दबा राक्षस, आपकी आँखों की पुतलियों में फैला हुआ राक्षस, आपकी जेब में बैठा हुआ राक्षस, आपकी खाल पर आपके ख्याल पर, आपके शब्दों की आवाज में सन्नाटे की तरह लेटा हुआ राक्षस... ।''*[४९]

आज का स्वार्थी सत्ताधारी वर्ग अपने स्वार्थ हेतु निरर्थक विध्वंस, रक्तपात, कत्लेआम से भी पीछे नहीं हटता और अपने कुकृत्य में स्थानिक प्रवंचक, निर्लज्ज व बिकाऊ प्रतिष्ठित डॉक्टर, धर्मगुरु एवं विद्वान जैसे सहयोगी वर्ग को भी शामिल किए रहता है । सहयोगी वर्ग सत्तावर्ग के काले कारनामों पर निन्दा के स्थान पर प्रशंसा की मोहर लगा देता है । सत्ता व सहयोगी की

साँठ–गाँठ से वास्तविकता पर पर्दा डालकर उसे अनुरूप किसी भी रंग में रंग लेते हैं । व्यक्ति–२ (पीलाराम) के इस कथन से तादृश होता है, *''भाई रणछोडदास ने साक्षात् मौत का सामना किया... । भाई रणछोडदास का व्यक्तित्व तो एक पारस पत्थर की तरह है ।.. तो रणछोडभाई एक व्यक्ति नहीं एक दर्शन हैं । केवल बुद्धि और भावना नहीं एक व्यवहार भी हैं ... ।*[६२]

वर्तमान युग में सत्ताधारी वर्ग अपने प्रतिकूल जाती हुई परिस्थितियों और घटना को अपने अनुकूल बना लेता है । और अपनी नीति का वध करनेवालों को अपने शिकंजे में जकड़ लेता है । रणछोडदास की नीति का विरोध करनेवाली स्त्री (श्वेता) को जबर्दस्ती हत्यारी पंचायत की अध्यक्ष बना देना इस बात का द्योतक है । लोकतन्त्र की दुर्दशा के पीछे भी प्रभुत्ववर्ग का ही हाथ रहा है । रणछोडदास की उक्ति जिसमें वह कानून की जड़ता का पूरा लाभ उठाता है, दृष्टव्य है – *''बहुमत के खिलाफ जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।... उसके निर्णय को न मानना अब एक अपराध होगा । जनभावना का अपमान करना होगा ... ।''*[६३]

जनमन को भयाक्रान्त करनेवाली दमनकारी प्रभुसत्ता का प्रभुत्व समाप्त करने के लिए नयी पीढ़ी के जीवन के प्रत्येक स्तर एवं मुकाम पर जागृति, निर्भयता, सर्जनात्मकता और प्रतिकारक्षमता का होना जरूरी है । राक्षस एवं राक्षस की रची विध्वंसक सृष्टि पर रोक लगायी जा सकती है । किन्तु *''अभी तो यात्रा शुरू हुई है श्वेता, अभी तो केवल एक राक्षस के एक प्रतिनिधि को मारा है हमने... पर राक्षस अभी भी जीवित है । वह नये–नये अमूर्त रूपों में हमेशा आता रहेगा ... लड़ाइयाँ कभी खत्म नहीं होती । उन्हें जारी रखना होगा ... ।''*[६४]

इस प्रकार नाटक में समस्त तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक अवस्थाओं का वर्णन महाभारतकालीन मिथक के माध्यम से युगीन भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करना है ।

(४) समस्या प्रधान नाटकों में समसामयिकता :

डॉ. शेष जी का साहित्य समसामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप जीवन के महत्त्वपूर्ण अंश की सशक्त अभिव्यक्ति है । नाटकार युगजीवन की विभीषिका से स्वयं जूझता है तथा उसके प्रति सामाजिक को अवगत कराता है । व्यक्ति की विडम्बना, निराशा, अभाव, भौतिक द्वन्द्व और निरुपायावस्था, समाज और राजनीति की दुर्व्यवस्था एवं वैषम्य, नैतिक अधःपतन से उद्‌बुद्ध अमानवीयता आदि का नग्न चित्रण कर पाठकों की चेतना को झकझोर देता है । उनके नाटक 'तिल का ताड़', 'फन्दी', 'घरौंदा', 'पोस्टर' को विषय की सुविधा की दृष्टि से समस्याप्रधान नाटक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं । नाटककार ने इन नाटकों में वर्णित समस्याओं का समाधान प्रस्तुत न करके उनको यथावत् छोड़ दिया है । कदाचित् उनका समाधान हो पाना समसामयिक युग में सम्भव नहीं लगता । ये समस्याएँ सामाजिकों को न केवल प्रभावित करती हैं बल्कि उनकी हृदयतन्त्री के तार को झनझना देने में भी सफल रही हैं ।

स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में आजीविका की तलाश में नगर या महानगर में आयी नयी पीढ़ी ने महानगरीय परिवेश को अपने लिए बहुत नया और विचित्र पाया । उसे वह वातावरण आदमी–प्रकृति के अनुकूल नहीं लगा । यदि वर्तमान पीढ़ी ने जैसे–तैसे भी अपने को इस नगरीय परिवेश में ढाल लिया या न ढालते हुए भी बर्दाश्त कर लिया । समसामयिक युग में बड़े–बड़े महानगरों की भीड़ भरी जिन्दगी और उसमें सर छिपाने के लिए आवास की समस्या सबसे बड़ी गम्भीर समस्या है । डॉ. शेष जी ने उक्त समस्या को *'तिल का ताड़'* में उठाई है । यद्यपि यह समस्या इस नाटक में प्रहसन शैली में प्रस्तुत होने के कारण इतनी गम्भीर नहीं बन सकी है जितनी कि 'घरौंदा' में दिख पड़ती है । 'तिल का ताड़' नाटक में अविवाहित प्राणनाथ को महानगर की भीड भरी जिन्दगी शोर–शराबा, आवासादि समस्याओं से जूझते हुए दिखाया गया है । हर बेसहारा युवक महानगरों में आकर आवास की समस्या से जूझते हैं । मकान मालिक की शर्तों व संकीर्ण मानसिकता की

सन्तुष्टि के लिए उसे प्रत्येक क्षण मानसिक दबाव में रहना पड़ता है और न चाहते हुए भी झूठ का सहारा लेकर 'तिल का ताड़' जैसी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है । जैसे मकान मालिक सेठ धन्नामल की चेतावनी प्राणनाथ के रक्तचाप को बढ़ा ही नहीं देती, बीस रुपए का व्यर्थ का खर्च भी करवाती है, *''कुँवारे और रण्डवों को घर देना आस्तीन में साँप पालना है । आप मुझे पिछले साल से बना रहे हैं, कल शाम तक आपकी बीबी नहीं आयी तो परसों आप मकान छोड़िए... ।''*[६५]

वर्तमान समय में वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति तथा बढ़ते औद्योगीकरण के फलस्वरूप गाँव का व्यक्ति शहरी पर्यावरण से जुड़ने लगा है । व्यक्ति विक्षिप्त होकर रोजगार की तलाश में शहर आने लगा है परन्तु वहाँ के परिवेश से यद्यपि उसकी अकुलाहट बढ़ी है । महानगरों में रहनेवाले सन्त्रास की जिन्दगी जी रहे हैं । वहाँ की जिन्दगी उसे रास नहीं आती है लेकिन क्या करें ? नौकरी से लेकर खान–पान सब में उसे विवशता का सामना करना पड़ता है, *''नौकरी ठीक चल रही है, हाँ बॉस को कभी–कभी पोलसन लगाना पड़ता है । होटल का खाना खाते खाते तंग आ गया है दाल इतनी पतली बनाता है कि कटोरी में डुबकी लगा लो तो एक दाना हाथ न आए । रोटियों में तो जैसे ग्रहण लगा रहता है । और मठा, उसकी तो बात ही न पूछो माँ, ऐसा लगता है मानो घड़े भर पानी को दहीं सुंघाया गया हो ।''*[६६]

इसके अतिरिक्त 'तिल का ताड़' में नाटककार ने आधुनिक समाज में स्थित फिजूल के प्रश्नों और मान्यताओं पर करारा व्यंग्य भी किया है । जैसे नौकरी में टुच्चे स्वार्थों को साधने अनशन का प्रयोग करना, अविवाहित स्त्री की छाया को छूने से ब्रह्मचर्य खण्डित हो जानेवाली भ्रामक मान्यता में विश्वास करना, अछूतोद्धार के नाम पर अछूत युवतियों को छेड़ना, दहेज के मामले में दोनों पक्षों का उदार दृष्टिकोण रखना तथा ऊपरी आमदनी को ही सच्ची आमदनी बताकर उसके लिए प्रोत्साहित करना इत्यादि । आज के दौर में ऊपरी आमदनी के बारे में आम आदमी की राय यहाँ दृष्टव्य है – *''अरे साहब, आजकल ऊपरी आमदनी ही तो असली भीतरी आमदनी है । तनख्वाह*

तो लोटाभर पानी है, प्यास बुझाने के लिए भी काफी नहीं, पर यह ऊपरी आमदनी ? इसे तो त्रिवेणी संगम समजिए... अथाह पानी – बहता हुआ पानी । आजकल की दुनिया में तनख्वाह नहीं देखी जाती; देखी जाती है ऊपरी आमदनी... मैं खुद प्राणनाथ से कहूँगा, बेटा ऊपरी आमदनी को ठुकराना अच्छा नहीं... हमेशा दुनिया के साथ चलो । दुनिया बेईमानी करे और तुम थोड़ी ईमानदारी करो तो तुम्हें कोई ईसा या गाँधी कहकर पूजनेवाला नहीं है ।''[७]

'फन्दी' नाटक की संवेदना तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित हैं । समसामयिक कानूनी पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह नाटक एक ओर मानवीय करुणा, समाज एवं कानून के संघर्ष को प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर हमारी प्रवर्तमान न्याय व्यवस्था और उसमें विद्यमान जड़ता तथा कमियों के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा करता है । *''इस कथ्य के माध्यम से नाटककार वर्तमान युग में निम्नवर्ग की शोषित व दयनीय जिन्दगी पर प्रकाश डालने के साथ–साथ वकीलों, कम्पनियों और सरकारी कार्यालयों की भ्रष्टनीति पर व्यंग्यात्मक प्रहार कर जाता है ।''*[८]

कानून उस घटना को हत्या मानता है जहाँ एक व्यक्ति के जरिये दूसरे व्यक्ति को मार दिया जाता है । कानून की नजर में हत्या करनेवाला व्यक्ति अपराधी है तथा उसे कड़ी से कड़ी सजा दी जाती है । लेकिन उसे क्या कहें गे, जहाँ कोई कैन्सर जैसी असाध्य व्याधि से पीड़ित व्यक्ति सामने से ही मृत्यु की याचना करता है और उसको दारुण कष्टदशा से मुक्ति दिलाई जाती है ? नितान्त मानवीय दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह हत्या एक व्यक्ति की पीड़ा से मुक्ति है । एक निरुपाय पुत्र अपने व्याधिग्रस्त पिता की मृत्यु–याचना को उसका गला घोंटकर पूरी करता है । परन्तु बड़े खेद की बात है कि आज का *''हमारा न्याय इसे हत्या मानता है पर क्या यह हत्या है ?''*[७]

''निरसन्देहरूप से व्यवस्था के नियमों के अनुसार हत्या एक जघन्य अपराध है । लेकिन क्या यही एक मात्र अनुभूत जीवन सत्य है ? या यह अनिश्चित रूप से मानवीय मूल्यों के विरोध में स्थापित नियम है ? यदि ऐसा

है ही तो फिर वह कौन–सी परिस्थितियाँ और अपवादीय स्थितियाँ थीं जिसने सरकारी वकील को अपने कुत्ते को गोली मार देने या फन्दी को अपने पिता की हत्या कर देने के लिए विवश किया ? मानव मूल्यों की इस व्यवस्था में इन अपवादीय स्थितियों का प्रावधान क्यों नहीं है ? क्या सिर्फ इसलिए नहीं कि मनुष्य एक बँधी–बँधाई व्यवस्था का दास बनकर रहे और मृत्यु के लिए गिड़गिड़ाते हुए व्यक्ति को जीवन–दान देने की अपनी असमर्थताओं के बावजूद पीड़ा सहने, घुट–घुटकर, तिल–तिलभर, गल–गलकर मरने के लिए विवश करे ।''[७०] और फिर हत्या–हत्या में भी क्या फर्क नहीं होता ? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हत्या के पीछे हत्या करनेवाले का इरादा भी बहुत ही अहमियत रखता है । वास्तविक रूप से देखा जाए तो मानवीय मूल्यों से बढ़कर और कोई चीज इस दुनिया में है ही नहीं । लेकिन हमारे आज के सामान्य जीवन को देखा जाए तो हमारा अनुभव बिल्कुल उल्टा है । कानून मनुष्य पर हावी हो गया है, मनुष्य उसके सामने लाचार, निरुपाय और बौना बन गया है । क्योंकि, *''कानून तो दाहक मरुस्थल है जो मानवीयता की सरस्वती को नहीं पहचानता ।''*[७१]

हमारी वर्तमान न्याय–व्यवस्था तथा उसकी जड़ता और क्षतियों के पुनर्मूल्यांकन पर जोर देते हुए डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम लिखते हैं – *''समय के मूल्यांकन के साथ–साथ नियमों–उपनियमों, व्यवस्था, समाज सभी का उसीके अनुरूप पुनर्मूल्यांकन भी होता रहना चाहिए जिससे व्यवस्था में जड़ता न आने पाये । कानून कोई वेदवाक्य नहीं है जो बदला नहीं जा सकता । हत्या–हत्या में भी फर्क होता है । युद्ध के मैदान में एक सैनिक अपने भाई–बान्धवों की हत्या करते हुए कोई संकोच नहीं करता, पुलिस मुठभेड़ में आतंकवादी अराजक तत्त्वों की हत्या हो जाने पर पुलिसकर्मियों को पुरस्कृत किया जाता है । पालित कुत्ते की मर्मान्तक पीड़ा न देख पाने के कारण मानव पसीज उठता है और उसकी मौत की कोई कीमत नहीं आंकता । लेकिन पिता के बार–बार कहने पर – 'मैं मरना चाहता हूँ, मुझे जहर दो, कुल्हाडी से मेरे टुकड़े कर दो' ऐसी स्थिति में क्या हो ? यही प्रश्न है जिसका उत्तर*

खोजा जा रहा है । इसलिए बदलते युग–सन्दर्भों में हर पीड़ित आदमी की माँग पर मृत्यु की आवश्यकता अनिवार्य होती जा रही है ।''[७२]

वर्तमान स्थिति में चारों ओर भ्रष्टाचार, बेईमानी, लूट–खसोट, शोषण, रिश्वतखोरी और राष्ट्रद्रोह करनेवाले तत्त्वों के जरिए ट्रान्सपोर्ट के बहाने स्मगलिंग का यह बाजार आज भी यथावत् गर्म है । उक्त नाटक का फन्दी सरकारी अस्पताल की बदतर हालत और भ्रष्ट व्यवस्था का पर्दाफाश करते हुए कहता है, *''वैसे तो अस्पताल फोकट का था साब... पर भरती कराने में पैसा लगता था... डाक्टर–नर्स का चा–पानी और साब... औषध भी बाजार से लाके देना पड़ता था... उधर बेमार लोग तो रहते साब... पर दवाई नहीं रहती ।*[७३] उपरोक्त विवरण को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह एकदम समसामयिक प्रसंग है, न कि विगतकालीन ।

नाटककार ने *'घरौंदा'* में मध्यमवर्गीय युवक–युवती की दारुणस्थिति, अर्थाभाव, मजबूरी और छोटे से घर के स्वप्न को पूरा करने के लिए अन्तहीन संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है । डॉ. शेष जी का 'घरौंदा' नाटक समसामयिकता से प्रभावित है । श्रीमती सुधाशेष ने अपने संस्मरण 'एक साथ की गाथा' में मुम्बई महानगर की समस्याएँ एवं 'घरौंदा' की प्रेरणा रूप अविवाहित प्रेमी–युगल की सत्य घटना का जिक्र करते हुए लिखा है, *''इसके अलावा हम देख रहे थे इस महानगरकी समस्याएँ... चर्च गेट पर भीड़ घटने की प्रतीक्षा में वे अक्सर किसी रेस्तरां में चाय पीने बैठते । वहाँ उन्हें दिखाई देता था एक अधेड उम्र का जोड़ा जो बर्षों से वहाँ आता था । घर न होने के कारण विवाह नहीं कर सका था । एक कमरे में रहनेवाले परिवार ।... घर के अभाव में विवाह असम्भव था ।... शंकर का संवेदनशील मन इस समस्या से द्रवित हुआ और 'अनिकेत' नाटक का जन्म हुआ ।''*[७४]

आवास समस्या वर्तमान महानगरों में रहनेवाले मध्यमवर्गीय परिवारों के लिए अन्यन्त दुष्कर बनी हुई है । उनकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ भी एक अलग कमरे के अभाव में दम तोड़ती दिखाई देती है । महानगरों में एक घर में सब रहने को विवश हैं । यह विवशता कभी–कभी सम्बन्धों को इतना

अधिक मार देती है कि सारी संवेदनाएँ खत्म हो जाती हैं । *''हमारे यहाँ न कोई किसी को विदा देता है और न कोई किसी का इन्तजार ही करता है ।... एक कमरे का घर । छह लोग । हर आदमी यही चाहता है कि दूसरा बाहर रहे ।''*[७५]

आज के जीवन की बहुत बड़ी विडम्बना है कि व्यक्ति आर्थिक विवशताओं के नीचे पिसता जा रहा है । बढ़ती महँगाई और जीवन जीने की भौतिक सुख की अदम्य इच्छाएँ उसके जीवन को विषम से विषमतर बना रही है । पूँजीवादी सभ्यता ने मध्यमवर्गीय समाज को सबसे अधिक प्रभावित किया है । गरीबी के रेगिस्तान में महत्त्वाकांक्षाओं का कमल खिलाने की उसकी जिद ने उसे उस रास्ते पर लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ से नैतिकता के प्रश्न बहुत बौने लगते हैं । अर्थाभाव में छटपटाता मध्यमवर्गीय युवक विवश होकर शोर्टकट अपना लेने से हिचकिचाता नहीं, *''आखिर दूर रहना ही हमारी नियति है तो मैं सोचता हूँ... तो हम भी उसी रास्ते पर क्यों न चलें जिसे शोर्टकट कहते हैं । मैं तुम्हें कभी मकान नहीं दे सकूँगा । मोदी तुम्हें सबकुछ दे सकता है । केवल हाँ कहने की देर है । हम दोनों क्यों यातना भोगें ।''*[७६] *''अर्थतन्त्र की लपेट में सुदीप और छाया की घुटन वस्तुतः आज के प्रत्येक मध्यमवर्गीय युवा मानस की है, परिवार की है, समाज की है ।*[७७]

समसामयिक सामाजिक परिदृश्य में मध्यमवर्गीय नारी की स्थिति में आये परिवर्तन सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह पुरुष के समान ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत है । घर की चार दीवारी छोड़कर पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने की प्रवृत्ति से नारी की मानसिक स्थिति, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, प्रेम आदि के सम्बन्ध में, दृष्टि में आमूल चूल परिवर्तन तो हुआ ही है किन्तु इन सबके लिए उसे भीतर और बाहर से बहुत–बहुत टूटना भी पड़ा है । प्रेम और विवाह के पक्ष में उसकी कुरबानी नगण्य नहीं है । घोर विवशता के क्षणों में भी मध्यमवर्गीय नारी का नैतिकता युक्त व्यवहार मन में आदर भावना पैदा करता है । सुदीप छाया की इसी नैतिकता के सामने नतशिर हो अपना अपराध स्वीकार करता है – *''तुमने मुझसे प्रेम*

करने में कभी कसर नहीं की, पर तुमने अपने मूल्यों को कभी नहीं छोड़ा । मैं मध्यमवर्गीय नैतिकता को लगातार तुम्हारे सामने ढोंग कहता रहा, पर तुम अपनी जगह से नहीं हिली । उस समय मुझे क्रोध आता था तुम पर, पर आज उसी बात के लिए इज्जत हो रही है तुम्हारी । आखिर कहीं तो एक धुरी है तुम्हारे जीवन में ।[७८]

बड़े–बड़े नगरों में आये दिन होने वाले धोखा–फरेब आम बात बन चुकी है । और सम्भवतः उसका निशाना ज्यादातर गरीब, बेसहारा बनते हैं, जो अपने आशियाने के सपने को साकारित करने पाई–पाई जोतते हैं । आधुनिक समाज में त्याग और बलिदान नहीं लोग अपनी जरूरतें पूरी करते हैं । आज भी इस माया नगरी में हररोज सपने बनते हैं और टूटते हैं । जिन प्रश्नों पर आमने–सामने आकर लड़ाई करना जरूरी है, जिनके फैसले सड़कों पर किए जाने चाहिए, उन्हें व्यक्तिगत साजिशों से नहीं सुलझाया जा सकता । निष्कर्षतः घरौंदा बनाने की समस्या महानगरों में रहनेवाले मध्यमवर्गीय व्यक्ति के लिए बहुत ही गम्भीर समस्या है जिससे हर युग के व्यक्ति को जूझना अनिवार्य बन गया है ।

डॉ. शेष जी का *'पोस्टर'* नाटक आदिकाल से चले आ रहे शोषक और शोषित के उस रूप को उद्‌घाटित करता है, जो किसी कथा का नहीं, हकीकत का एक हिस्सा है । वर्तमान समय में पूंजीवादी ताकतों के जरिये विपन्न, निरक्षर और विवश मजदूरों के शोषण में दिनों–दिन वृद्धि होती जा रही है । आज के जमींदार, दरोगा, पटवारी, हवालदार, फोरेस्ट अफसर और धर्म के ठेकेदार सब शोषण को बढ़ावा दे रहे हैं । 'पोस्टर' में उस अत्याचारी सत्ता के खिलाफ नाटककार ने विरोध और विद्रोह की चिनगारी जलायी है । आज के समसामयिक समाज में जहाँ शोषण का दमनचक्र इस गति से चल रहा है कि उसे रोकने के लिए उसमें जाना ही पड़ेगा । युगों से चली आ रही अत्याचार की इस परम्परा को जड़मूल से उखाड़कर फेंक देना होगा । यह सच है कि अधिकार माँगने से नहीं मिलता तो उसे छीन लेना पाप कर्म नहीं है । *''चुप्पी से हम बच भले ही जाएँलेकिन इससे अत्याचारी ताकत बढ़ती*

जाती है । हमारे अन्याय सहने के संस्कार बढ़ते जाते हैं और अत्याचार करने का उसका साहस ।... एक दिन ऐसा आता है कि हारी आत्माओं में ढेर सारी बर्फ इकट्ठी होती जाती है । हम इतने अपाहिज होते जाते हैं कि विरोध करना भी हमें पाप लगता है ।''[१९६] परन्तु याद रहे कि अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध जंग छेड़नेवाला यदि बीच में लड़ाई का अन्त कर देता है तो वह मझधार में ही डूब जाता है ।

'पोस्टर' शोषण के खिलाफ शोषितों की आवाज है । आज जागृत शोषितों में, पीड़ितों में अपने अधिकारों को प्राप्त करने की जो लालसा जग गयी है, यही नाटक की समसामयिकता है । उस शोषण के खिलाफ जागृतबोध ही नाटककार की अनुभूति है । आज शोषितवर्ग पूँजीवादी सत्ता को चुनौती देने के लिए तैयार है –

''कल्लू : तो मालिक डर गया !
मजदूर–३ : यानी वह डर भी सकता है ।
कल्लू : यानी उससे चार रुपया तक माँगा जा सकता है ।
मजदूर–२ : यानी उसको इतना फायदा होता है ।''[१९८]

हमेशा निम्नवर्ग ही शोषण की चक्की में पिसता रहा है । विश्व में मजदूर क्रान्तियाँ भी हुई लेकिन क्रान्ति की चिनगारियाँ कुछ हिस्सों तक ही पहुँच पाई । इसका कारण कहीं–कहीं पर शोषितवर्ग की अधिकारों के प्रति घोर उदासीनता, धर्मभीरुता, अत्याचारी ताकतों के आतंक का भय, करमगति या वैयक्तिक स्वार्थ रहा है । परिणाम स्वरूप चाहते हुए भी क्रान्तियाँ सफल नहीं हो पातीं । एक तरफ हमारे देश के शोषणतन्त्र की प्रबलता, जो कि संगठित से संगठित विरोध को भी तोड़ डालती है, तो दूसरी तरफ शोषितों की शिथिलता, अधिकार पाने की निष्क्रियता शोषण का पोषण किया करती है । नाटककार ने सदियों पुरानी हमारी दाम्भिक मानसिकता एवं मनोदोर्बल्य पर व्यंग्य प्रहार करते हुए युगीन सन्दर्भ को तादृश किया है – *''दो रोटी... एक लंगोटी... और मुख में हरिनाम... इसके अलावा क्या चाहिए इस पुण्यभूमि । भारत के वासी को !''*[१९९]

सत्ता और धर्म की सांठ–गांठ से जहाँ प्रभुतासम्पन्नवर्ग अपने स्वार्थों की पूर्ति करता है वहीं समाज पर इसका कुप्रभाव पड़ता है । नाटककार ने तत्कालीन समाज में शोषकवर्ग और अधिकारी वर्ग के गठबन्धन से त्रस्त समाज की पीड़ा को भी अभिव्यक्त किया है ।

पटेल द्वारा कल्लू के मार–पीटकर उसकी पत्नी को पकड़कर ले जाने की घटना भी आज समाज में यत्र–तत्र देखने को मिलती रहती है । आज भी पूंजीपतिवर्ग एवं अधिकारीवर्ग द्वारा निम्नवर्ग की स्त्रियों का शोषण किया जा रहा है । आज तक इसमें कोई खास अन्तर नहीं आया है । शोषकों के नाम, पद और चेहरे बदल गए हैं पर चरित्र वही पटेल का दरोगा का, महात्मा का, फोरेस्ट अफसर का आज भी विद्यमान है ।

❀ संवेदना के सन्दर्भ में समसामयिकता :

डॉ. शंकरशेष के सभी नाटक समसामयिक जीवनबोध के धरातल पर खड़े हैं । यही कारण है कि उनके नाटकोंमें मानव–संवेदनाओं की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है । सच तो यह है कि उनके नाटक अपने कलात्मक परिदृश्य में लेखकीय नजरिये के साथ तथ्यों और मूल्यों का सही चित्र प्रस्तुत करते हैं । इनमें समय के परिवर्तित सन्दर्भों, मानव रूपों और अवधारणाओं को सहजता से देखा परखा जा सकता है । स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद हमारी जीवन गतिविधि और पद्धति में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए । उस समय एक ओर राजनीति की विजय–शक्ति से पूरे राष्ट्र में नई चेतना का स्फुरण हो रहा था, तो दूसरी और अंग्रेजी शिक्षा के भौतिकवादी सुखानुभव के प्रवाह में कई संवेदनाएँ आहत हो रही थीं । इस अवधि में विज्ञान के द्रुतगामी प्रसार ने मानवमन और स्थितियों में परिवर्तन की पहल की । इससे समाज में नई वास्तविकताएँ मूल्यपद पर प्रतिष्ठित होने लगीं । भारतीय पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ एवं संवेदनाओं में परिवर्तन हुए ।

डॉ. शेष जी के नाटकों में युगानुकूल पारिवारिक अन्तर्विरोध, तनाव, कलह और यातना के विषम चित्र अंकित है । 'कोमल गान्धार' में पौराणिक

पात्र गान्धारी के माध्यम से समसामयिक वैयक्तिक एवं पारिवारिक असद्भावना को उजागर किया है । गान्धारी का यह कथन, *''आखिर ! जीतते तो हैं कुन्ती के ही बेटे !''*[२] पारिवारिक सम्बन्धों की कडुआहट और भीषण तनाव का बयान करता है । 'आधी रात के बाद' नाटक में स्त्री–पुरुष के बीच फैली यौन–असंगति की संवेदना द्वारा नये पारिवारिक मूल्यों की छवि उतारी है । इस नाटक में चोर जज से नपुंसक पति की मर्दानी औरत का परपुरुष से यौन–सम्बन्ध का अजीबो–गरीब किस्सा सुनाकर उन्हें स्तब्ध कर देता है । इस किस्से में नपुंसक पति प्रत्यक्षदर्शी चोर के सामने गिड़गिड़ाता है, *''तुम मेरी औरत और उस आदमी के रिश्ते के बारे में कुछ मत बोलना... मेरी बड़ी बदनामी होगी । मैं समाज की निगाह में गिर जाऊँगा । मेरी कमजोरी जगजाहिर हो जाएगी । भैया, मेरी इज्जत बचाओ ।''*[३] आज समाज में आधुनिक शिक्षा, नारी जागरण, नई यौनदृष्टि जैसी कतिपय अनुभूतियाँ हैं, जिनके कारण पारिवारिक प्रेम, त्याग, आदर्श, सद्भावना, सहअस्तित्व आदि के भाव विलुप्त हो रहे हैं । अब इनकी जगह नई मान्यताएँ, नये विचार और नये मूल्य अवतीर्ण होने लगे हैं । 'रत्नगर्भा' नाटक में स्त्री–पुरुष के आदर्शवादी रिश्तों पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए नाटककार ने समसामयिक अनुभूति की पहचान करायी है । उनकी दृष्टि में अब न पति देवता है और न पत्नी दासी । कुछ ऐसे ही विचार माया के यहाँ प्रस्तुत है, *''पतिव्रता बने रहने का मतलब यह तो नहीं कि तुम अत्याचार सहती रहो ।''*[४] ''अब सती और पतिव्रता का अर्थ पति के साथ जिन्दा जल जाने में नहीं है, उसे सही राह पर लाने में है ।''[५] जीवन यथार्थ की समतलभूमि पर पति–पत्नी का सम्बन्ध यौनदृष्टि तक ही सीमित है । यही कारण है कि आज प्राचीन अर्थों से, जो दाम्पत्य बन्धन के प्रतीक थे, वे सहज होते जा रहे हैं । दाम्पत्य रिश्तों में परम्परागत मर्यादा का अन्त एवं स्वतन्त्रता का प्रादुर्भाव हो चुका है । अब पति अपनी उन्नति के लिए पत्नी का इस्तेमाल कर उसे परपुरुष की वासना तुष्टि का साधन बनाता है तो कोई आश्चर्य नहीं । पत्नी को हर उचित–अनुचित आदेश पालने के लिए विवश और मूढ़ बनाया जाता है । 'रक्तबीज' में

सुजाता का पति उसे बॉस से मिलते समय दकियानूसीपन छोड़ देने की सीख देता है, *''...स्त्री की तरह बिहेव करना ।... दो–घूंट व्हिस्की पी लेने से तुम्हारी संस्कृति नष्ट नहीं हो जाएगी ।''*[६]

एक ओर आधुनिक शिक्षा के प्रचार–प्रसार तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव ने परपरागत दम्पतियों के जीवन–मूल्यों के प्रति जिस अस्वीकृति एवं उदासीनता के स्वर मुखरित किए हैं तो दूसरी ओर भारतीय नारी के अपूर्व त्याग एवं समर्पित जीवन ने टूटते हुए दाम्पत्य जीवन को नई जान दी है तथा नई संवेदना जगायी है । 'बिन बाती के दीप' की विशाखा अपना साहित्यिक यश पति के चरणों में समर्पित करके अपना दाम्पत्य जीवन सुरक्षित कर लेती है । इस सम्बन्ध में अपने हितेच्छु से कहा गया उसका कथन दृष्टव्य है – *''आनन्द, आखिर ये उपन्यास तो मेरे ही हैं । इन पर केवल शिव का नाम ही तो छपा है न... ।''*[७]

सामाजिक सन्दर्भों में मूल्यों का विशिष्ट स्थान है । डॉ. शेष जी के नाटकों में जीवन–परिवेश के धरातल पर सामाजिक प्रवृत्ति से अनुप्राणित संवेदना की छवि अंकित की गई है । सामाजिक जीवन की गतिविधियों के अवलोकन क्रम में नाटककार ने मानव सत्यों, उसकी रुचि, आकांक्षाओं, रीति–रिवाज, प्रथाओं, परम्पराओं आदि के प्रति स्वस्थ चिन्तन का परिचय दिया है । वर्णव्यवस्था, विवाहसंस्कार, प्रेम एवं यौन के नूतन सन्दर्भों की अकुलाहट, नारी जागरण आदि संवेदना के विचारणीय पहलू रहे हैं । 'बाढ़ का पानी' में डॉ. शेष जी ने जातीयता की संकीर्णता पर कुठाराघात किया है तथा उसे सदियों पुरानी मानसिक गुलामी करार दिया है । बटेसर कहता है – *''पण्डित, सदियों की मानसिक गुलामी तोड़ने में बहुत तकलीफ होती है । एकबार अन्धविश्वास से आगे सत्य का अनुभव होने पर ये जंजीरें एकदम टूट जाती हैं ।''*[८]

समसामयिक समाज की इकाईरूप परिवार के गठन में परिवर्तन होने से तथा व्यक्ति–स्वातन्त्र्य से विवाह–संस्कार विषयक मान्यताओं में बदलाव की स्थिति निर्मित हुई है । 'घरौंदा' में छाया विवाह की तह में विद्यमान परम्परागत

त्याग करने की धारणा को झूठलाती हुई कहती है, *''लोग शादी करते हैं तो त्याग नहीं करते, अपनी जरूरत पूरी करते हैं ।''*[६९] स्वतन्त्रता के बाद प्रगतिशील विचारों के प्रादुर्भाव से भारतीय समाज के प्रचलित विवाह–क्षेत्र में क्रान्तिकारी मान्यताओं की सर्जना हुई है । महानगरों में प्रेमविवाह, पुनर्विवाह, विधवाविवाह, कुँआरी माता से विवाह आदि की संख्या बढ़ती जा रही है । इनके अधिकांश जोड़े सभ्य एवं शिक्षित घराने के हैं । 'मूर्तिकार' में कुँवारी माता नीलू को गर्भस्थ अवस्था में अनादि के द्वारा सबकुछ जानते हुए भी स्वीकार करना तथा 'तिल का ताड़' में बाल विधवा मंजू से अजय का विवाह आदि नयी मूल्य–चेतना से जुड़े ऐसे तथ्य हैं जो समाज की उन्नति के लिए अनिवार्य हैं ।

पहले प्रेम और यौन की सामाजिक मान्यता पति–पत्नी के सम्बन्ध तक ही सीमित थी । नयी प्रगतिशील समझ और चिन्तन के प्रथम चरण में प्रेम के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठा के कारण विवाहपूर्व प्रेम को मान्यता मिली । कुछ युवतियाँ अपने बॉस को खुश रखने तथा अपने निहित स्वार्थों की अभिपूर्ति के लिए मजबूरीवश या खुशी–खुशी विवाह से पूर्व प्रेम सम्बन्धों में उलझ जाती है । 'बिन बाती के दीप' में मंजू अपनी विवशता प्रकट करती है, *''पिछले दो महीनों में मैंने तुम्हारे साथ जो जीवन बिताया है, उससे मुझे घृणा हो गयी है । मैं सोचती थी कि तुम किसी से प्रेम कर सकते हो, पर नहीं, तुम केवल स्वयं से प्रेम करते हो ।... आर्थिक विवशता में मैं गिरी । परिवार को उठाने के लिए मैंने यह सब किया जो सामान्यतः कोई स्त्री नहीं करती ।''*[७०] वैज्ञानिक विकास के साथ जीवन की यांत्रिकता और मूल्यहीनता में इधर जो वृद्धि हुई है उसके परिणाम स्वरूप पति–पत्नी, बॉस–कर्मचारी, प्रेमी–प्रेमिका के सम्बन्धों को डॉ. शेष जी ने एक नवीन दृष्टिकोण से परिभाषित किया है । 'नयी सभ्यताः नये नमूने', 'घरौंदा', 'चेहरे', 'आधी रात के बाद' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है ।

आजादी से पहले जो समाज था, उसमें संघर्ष किसानों और जमींदारों या कर्जदारों और महाजनों के बीच था । वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के बाद

जो पूँजीवादी सभ्यता का विकास हुआ और किसान शहरों में जाकर मजदूरी करने लगे तब से सम्बन्धों में एक ऐसा बदलाव आया है, जो पहले से भी अधिक अमानवीय है । मजदूरों का दैहिक एवं मानसिक दोनों रूपों में शोषण होने लगा । नाटककार ने 'पोस्टर' एवं 'राक्षस' में पूंजीपतियों का मजदूरों, निम्नवर्गीय दरिद्रों के प्रति व्यवहार ऐसा ही नितान्त क्रूर और अमानवीय रहा है । 'पोस्टर' के पटेल के इन शब्दों से पूंजीपतिवर्ग की ताकत की, क्रूरता की, अत्याचार और राजसत्ता तक उसकी पहुँच की प्रतीति यूं ही हो जाती है, *''देख कल्लू... हाथ रोक... वरना मैं पूरी सरकार को हिला दूँगा... गोली चलवा दूँगा... साले सबको भुनवा दूँगा... ।''*[९] आम जनता का रक्तप्राशन करनेवाले राक्षस की पहचान समसामयिक युग में आम आदमी के लिए गुप्त नहीं रह सकी है । अब उसने उस भेडिये को पहचान लिया है । 'राक्षस' नाटक के दुकालू की राक्षस विषयक धारणा कितनी सटीक है – *''अरे होंगा ऐसा च, पीलाराम, नीलाराम का माफक... ये साला लोग अक्खा जिंनगी हमारा थोड़ा–थोड़ा करकेनाश्ता किया... वो साला खायेंगा अक्खा चिकन का माफक... अपन लोगों का वास्ते कोई फरक नईं पड़ता राजा... ।''*[२] आज के आर्थिक युग में बढ़ती हुई बेरोजगारी को देखते हुए मनुष्य जीवन की विविध जटिलताओं का बोध होता है । आज का शहरी–ग्रामीण व्यक्ति अपनी दैनिक कार्यप्रणाली में आर्थिक मुद्दों से सर्वाधिक प्रभावित है । बेकारी और भूखमरी की यातना में जी रहे और मजदूरी तथा आवास के लिए एक जगह से दूसरी जगह भटक रहे गरीब, मध्यमवर्गीय परिवारों के दुःखों को नाटककार ने पहचाना है ।

पूंजीवाद के तेजी से फैलने के साथ ही मजदूरों के हकों के लिए ट्रेड–यूनियन भी बने । सरकार और पूंजीपतियों ने मिलकर आज तक इन ट्रेड–युनियनों को तोड़ने या इनके नेताओं के खरीदने, धमकाने जेल में ठूँस देने की निरन्तर कोशिशें की है । जिस किसी ने सिर उठाया, उसे कुचल दिया या कुचलवा दिया । जिन मजदूर नेताओं ने बिकने से इन्कार कर दिया, उन्हें जेल की सीखचों के पीछे धकेल दिया । 'पोस्टर', 'तिल का ताड़'

आदि नाटकों में नाटककार ने बड़े यथार्थ और संवेदनशील समसामयिक चित्र उभारे हैं ।

समसामयिक अर्थ–व्यवस्था ने व्यक्ति के जीवन को व्यर्थ, असहाय और अजनबी बना दिया है, जिससे पारिवारिक, सामाजिक और व्ययिक्तगत सम्बन्ध टूट–फूट रहे हैं । आज के जीवन का केन्द्र अर्थ हो गया है, आर्थिक विवशता ! उसके कारण जीवन में तनाव बढ़ते जा रहे हैं । *''धन के माध्यम को जीवन में इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया है कि मानवता–मूलक तत्त्व बुरी तरह से दबते जा रहे हैं नष्ट होते जा रहे हैं और यातनाओं की यन्त्रणाओं में दम घोंट रहे हैं । वैभव का बाह्याडम्बर भी इसीका दुष्परिणाम है । अर्थलोलुपता, आर्थिक शोषण, आर्थिक समस्याओं की जटिलता, मूल्यवृद्धि और जीवन–निर्वाह की चिन्ता, बेकारी की यन्त्रणा आदि वर्तमान जीवन की नियति बनती जा रही है । वर्तमान जीवन की प्रत्येक भागदौड के मूल में अर्थभूख है ।''*[१३] यही कारण है कि व्यक्ति दोहरी–तिहरी जिन्दगी को ओढ़कर लाचार होकर जी रहा है । आजीविका के लिए व्यक्ति भटक रहा है, स्वाभिमान की पूंजी लाचार होकर गँवा रहा है । धनाभाव के कारण अशान्ति, संघर्ष, विवशता एवं दूषण बढ़ते जा रहे हैं । आर्थिक संवेदना का युग–यथार्थ चित्रण डॉ. शेषजी के 'नई सभ्यता : नये नमूने', 'घरौंदा' 'रक्तबीज', 'आधी रात के बाद' आदि नाटकों मे स्वतः देखा जा सकता है । 'नयी सभ्यताः नये नमूने' का कृष्ण बेकारी और आर्थिक संकट से निपटने के लिए भ्रष्ट और बेईमानों को ठगता है । *''ईमानदारी से कमाने की हर नाकाम्याब कोशिश करने के बाद''*[१४] उसने यह रूप अपनाया है । 'घरौंदा' की छाया परिवार की आवश्यकताओं और अपने 'घर' के स्वप्न को साकार करने के लिए नौकरी करती है, गहने बेचती है । 'बिन बाती के दीप' की मंजू अपने भाइयों की पढ़ाई के खर्च को वहन करने के लिए नौकरी करती है । 'एक ओर द्रोणाचार्य' के विमलेन्दु की विधवा पत्नी नौकरी के लिए दर–दर भटकती है । आखिर छोटी सी नौकरी कर अपना और बच्ची का पेट पालती है । 'आधी रात के बाद' में भी सभी पात्र आर्थिकसंकट झेल रहे हैं । 'फन्दी' नाटक का

फन्दी आर्थिक विवशता से तंग आकर पिता को गला घोंटकर मार डालता है । *''मेरे पास पैसा होता तो मेरा बाप क्यों मरता'*[६५] पिता की हत्या करके वह अपने जीवन को अभिशप्त बना डालता है । नाटककार ने आर्थिक विपन्नता से उपजी युगीन संवेदना को बड़े मार्मिक ढंग से उभारा है ।

वर्तमान नगर व महानगर का जीवन चूँकि बहुत तेज है, यहाँ गति ही जीवन है, स्थिरता मृत्यु है । इस प्रकार के वर्तमान महानगरीय सभ्यता में अपरिचय, अकेलापन, खुदगर्जी, अनात्मीयता का स्वर सुनाई देता है । सर्वत्र तनाव, घुटन, भागदौड़ मची हुई है जिससे नगर में रहनेवाला व्यक्ति अकेलापन, अजनबीपन, सन्त्रास एवं आत्मनिर्वासन जैसी स्थितियों में जीता है । यहाँ हररोज स्वप्न बुनते हैं और टूट भी जाते हैं, व्यक्ति टूटते हुए स्वप्नों को असहाय बनकर देखता, रह जाता है । नाटककार ने महानगरीय जीवन की विभीषिका को 'घरौंदा', 'आधी रात के बाद', 'तिल का ताड़' और 'नयी सभ्यता : नये नमूने' नाटकों में रूपायित करके दर्शकों, पाठकों के हृदय को झकझोरा है ।

स्वतन्त्र भारत में न्यायिक व्यवस्था, पुलिस की भूमिका, सरकारी तन्त्रों, शिक्षा संस्थानों में व्याप्त भ्रष्टाचार, अवसरवाद, रिश्वतखोरी, भाई–भतीजावाद, अन्याय एवं शोषण को नाटककार ने गहराई से पहचाना है । 'एक और द्रोणाचार्य' में सत्ताधारी संचालक की शिक्षा संस्थानों में अनैतिक भूमिका और मनमानी, निजी व्यवसाय में शिक्षा संस्थानों के रुपयों का निवेश करना तथा उसे इच्छावर्ती न होने पर अधिकारियों को किसी साजिश में फँसाने की धमकी देना तथा विमलेन्दु और अनुराधा जैसे न्यायाकांक्षी की बीच राह हत्या करवाकर न्यायतन्त्र और पुलिसतन्त्र से बेफिकर रहना आदि स्थितियाँ किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को शल्य की भाँति चुभती है । न्यायतन्त्र की दृष्टि से *''कानून तोड़ना पाप है ।''*[६६] किन्तु अवैध–धन्धा करनेवाले, गुण्डे, बदमाश, चोर, हत्यारे, स्मगलर, सट्टाबाज और यहाँ तक कि वकील, पुलिस सब कानून तोड़ते हैं । 'आधी रात के बाद' और 'फन्दी' नाटक न्याय–प्रशासन की धज्जियाँ उड़ानेवाले तत्त्वों एवं राष्ट्रीय हितों की खुल्लेआम अवहेलना करनेवालों की शक्ल

दिखाते हैं । कानून तोड़नेवालों के साथ पुलिस और बड़े–बड़े अधिकारियों की सांठ–गांठ होना यह सूचित करता है कि देश में कानून और पुलिस उनकी रक्षा करती है, जिनकी मुट्ठी में दौलत और सत्ता दोनों हैं । निरीह जनता लाचार और विवश आँखों से इसे बस देखती है, जो हमारे अन्तस् में टीस जन्माता है ।

देश की समसामयिक राजनीतिक संवेदना का प्रामाणिक विश्लेषण और तथ्यगत मूलयांकन डॉ. शेष जी के नाटकों का कथ्य है । इसमें राजनीति का संसार के समस्त क्षेत्रों में वर्चस्व, तथाकथित विचारों, निष्ठा, क्षुद्र–स्वार्थपरता, पारस्परिक कलह षड्यन्त्रों एवं अत्याचारों का जीता जागता रूप उजागर हुआ है । 'कालजयी' में प्रजातन्त्र की प्रस्थापना के लिए राजतन्त्र के विरुद्ध संघर्ष दिखाया गया है । नाटक में समसामयिक राजनीति की व्यावहारिकता और सिद्धान्तहीनता सामने आयी है और वह है सत्ता और शक्ति । इसके सम्बन्ध में कालजयी का कथन दृष्टव्य है – *''हमें केवल हथियारों से मतलब है, सिद्धान्तों से नहीं । हमारा केवल एक ही सिद्धान्त है – सत्ता में बने रहो .... ।''*[६७] आज आम आदमी इस 'राजनीति' शब्द से घृणा करने लगा है, क्योंकि जहाँ भी राजनीतिक कटिबद्धता होती है, वहीं जनजीवन डोलने लगता है । परिणामतः सारा परिवेश असन्तोष और भय से आक्रान्त हो जाता है । राजनीति में पड़कर व्यक्ति समस्त मानवीय सम्बन्धों से निर्लेप हो जाता है । फिर उसके लिए न कोइ अपना रहता है न कोई पराया । अतः अपनी सन्तान के खिलाफ भी षड्यन्त्र न रचा जाय तो ही आश्चर्य ! 'कोमल गान्धार' में कुमार शकुनि का खेद एवं क्षोभ–मिश्रित स्वर इस तथ्य की प्रतीति कराता है – *''... लेकिन हमारा पिता क्यों शामिल हुआ अपनी ही सन्तान के खिलाफ रचे इस षड्यन्त्र में ? ... राजनीति इतना पतित बना सकती है व्यक्ति को... ।''*[६८] राजनीति स्वस्थ हो या दूषित, प्रत्येक नागरिक को चाहे–अनचाहे उसे झेलनी पड़ती है । राजनीति का लक्ष्य तो जनकल्याण ही होता है, परमार्थ होता है, लेकिन वर्तमान राजनीति में जनकल्याण की जगह आत्मकल्याण और परमार्थ की जगह स्वार्थ ने ले ली है । 'एक और

द्रोणाचार्य' में कॉलेज का प्रेसिडेन्ट अरविन्द से निस्संकोच कहता है, *''परमार्थ की राजनीति के दिन लद गए, मिस्टर अरविन्द !''*[९९] स्पष्ट है कि हमारे बीच ऐसे नेताओं, अफसरों, जमाखोरो एवं दलालों की भीड़ जमा हो गई है, जो दलगत स्वार्थों और आर्थिक प्रलोभनों में फँसकर सामाजिक राजनैतिक प्रणाली को दूषित कर रहे हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल से आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष के परिणाम स्वरूप सांस्कृतिक मूल्यों में जो संकट के क्षण उपस्थित हुए और उनकी त्वरा में जो बदलाव आया उसकी मार्मिक संवेदना नाट्य–साहित्य में उपलब्ध है । सांस्कृतिक दृष्टि से शाश्वत आस्थाओं और आदर्शें का प्रश्न, धर्म, अनास्था, नैतिकता, दृष्टिभेद और साम्प्रदायिक संघर्षों की अभिव्यक्ति नाट्य–चिन्तन के विचारणीय पहलू हैं । डॉ. शेष जी के नाटक युगीन पृष्ठभूमि के बीच उठे शाश्वत आस्थाओं और आदर्शों के प्रश्न की हिमायत करते हैं । 'मूर्तिकार' में कलाकार शेखर आर्थिक दारुण परिस्थिति में भी अपने उच्चकलादर्शों से कतई गिरना और जोड़–तोड़ करना पसन्द नहीं करता । वह ललिता से कहता है, *''मैं समझौता नहीं कर सकता, ललिता । समझौते से सुविधाएँ मिल सकती हैं, ऊँचाईयाँ नहीं ।''*[१००] शेखर परम्परागत आदर्श स्थापनाओं के प्रति आस्थावान है । 'एक और द्रोणाचार्य' में नाटककार ने आदर्श और यथार्थ के बीच द्वन्द्व को उभारा है । अरविन्द के लिए प्रोफेशनल एथिक्स का सवाल अहम् सवाल है । वह अपने मित्र यदू से कहता है, *''दूसरों के लिए यह सवाल छोटा हो सकता है, यदू । पर हमारे लिए तो यह जीवन–मरण का सवाल है । प्रोफेशन एथिक्स का सवाल है ।''*[१०१]

प्राचीन उज्जवल सांस्कृतिक मूल्यों में विश्वास करनेवाली पीढ़ी के लिए समसामयिक मूल्य विघटन की स्थिति गजग्राह बन चुकी है । डॉ. शेष जी के प्रायः सभी नाटक सनातन मूल्यों और सांस्कृतिक आदर्शों की प्रस्थापना पर बल देते हैं । 'घरौंदा', 'रत्नगर्भा', 'मूर्तिकार', 'बिन बाती के दीप' आदि नाटकों में क्रमशः छाया, इला, ललिता और विशाखा का चरित्र भारतीय नारी के त्याग,

कर्तव्यपरायण और सहिष्णुता का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर उन्हीं आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा देता है ।

प्राचीनकाल में धर्म, ईश्वर, जाति, संस्कार, स्वर्ग–नरक, पाप–पुण्य की मान्यताएँ टिकने का सहारा थीं, आश्रय थीं, पर वैज्ञानिक परिवेश में इनकी संवेदनाओं को नकारा जा रहा है । धर्म के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति समसामयिक नाटकों के सांस्कृतिक सन्दर्भों की व्याख्या करती है । इनमें कतिपय संवेदनाओं को वाणी मिली है । 'पोस्टर' में धार्मिक अन्ध–विश्वास और कर्मफल के नाम पर भोले–भाले लोगों को भ्रमित करनेवाले धर्माधिकारियों के आडम्बर को प्रस्तुत किया है । पटेल के कहने पर स्वामी अखन्डानन्द महाराज मजदूरों को स्वामीभक्ति की महिमा सुनाते हैं, *''अरे, ये पिछले जनम में का थे । बेचारे एक जिमींदार के घर में नौकर । पर मन लगा के करी चाकरी इनने । और इस जनम में पाया स्वामीभक्ति का फल । अब हैं पटेल । तो भइया, इनके जो ठाट–बाट हैं सो इनके पूर्व जनम की कमाई है ।''*[१०२] 'बाढ़ का पानी' में जातिभेद और छुआछूत को धर्म समझनेवाले पण्डित की संकीर्ण दृष्टि धर्म के कल्याणकारी रूप को विकृत बना देती है । उसकी भ्रान्ति को दूर करते हुए ठाकुर कहता है, *''तुम जिसे धरम कहते हो, वह ढोंग है, सिर्फ ढोंग ।''*[१०३] इस प्रकार प्रस्तुत घटनाओं के द्वारा नाटककार ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि आज समाज के धर्माधिकारियों पण्डितों आदि के आडम्बरों एवं छलनेवाली प्रवृत्ति के कारण धर्म का सनातन रूप विकृत हो चला है ।

'रत्नगर्भा' में नाटककार ने प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी संवेदना को उजागरित किया है । इसमें उन्होंने स्थूल–सौन्दर्य को सर्वस्व समझनेवाले और भाव सौन्दर्य की उपेक्षा करनेवाली स्थूल और सतही मानसिकता की आलोचना की है, साथ ही प्रेम की सही व्याख्या प्रस्तुत की है । माया अपनी दीदी इला से कहती है, *''प्रेम त्वचा का ग्राहक नहीं होता ।''*[१०४] *''प्रेम विश्वास का सहारा लेकर चलता है । विश्वास का ,पवित्र जल सदैव से प्रेम की गहरी जड़ों को सींचता आया है । इसीलिए फूल खिलते हैं, इसलिए तो उनमें सुगन्ध है*

दीदी ।[१०५] "प्रेम मनुष्य को शरीर–सौन्दर्य के उस पार देखने की शक्ति देता है ।[१०६]

डॉ. शंकरशेष ने जिस विघटन और संकट के कुहासे को झेला है तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सभी स्तरों पर जिस संवेदना को आत्मसात् किया है, उस सत्य की जीवन्त और सार्थक अभिव्यंजना उनके नाटकों में मौजूद है । मूल्याभिव्यक्ति एवं तथ्यान्वेषण के द्वारा उन्होंने जीवन और जगत् की गतिविधियों के बदलाव और उसमें अन्तर्निहित सच्चाइयों की अभिव्यक्ति की है । आजादी के बाद मनुष्य की हालत की बेहतर तस्वीर उनके नाटकों में मूर्तिमन्त हुई है । यह तस्वीर समसामय्कि संवेदना के विविध तथ्यों का उद्घाटन करती है ।

❀ शिल्प के सन्दर्भ में समसामयिकता :

डॉ. शंकरशेष ने अपनी तीन दशकीय नाट्य–यात्रा के दौरान शिल्प की दृष्टि से तरह–तरह के नव्य प्रयोग किए हैं । डॉ. विनय का यह कथन इसकी पुष्टि करता है । *"मोहन राकेश के बाद कथ्य और शिल्प की दृष्टि से इस युग में अनेक नाट्यकारों के नाम लिए जा सकते हैं । शंकरशेष, सुरेन्द्रवर्मा, दयाप्रकाश सिन्हा, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, लक्ष्मीनारायण लाल आदि ने नाट्य–शिल्प के नए प्रयोग किए ।*[१०७] अलग–अलग रूपों में, अलग–अलग प्रयोगों में, अलग–अलग दृष्टियों से, अलग–अलग कोणों से डॉ. शेष जी ने नाट्य परिवेश को सजाया है । उनके अन्दर की अधीर बेचैन ऊर्जा लगातार कला के सीमित दायरों को तोड़ती रही है, इसलिए उनके हर नाटक ने नयी जिज्ञासाओं को जन्म दिया है । वे कुशल नाट्य–शिल्पी के साथ रंग–शिल्पी भी प्रमाणित हुए हैं । *"डॉ. शंकर शेष का नाट्य–शिल्प जहाँ तक परम्परागत भारतीय नाट्य–शिल्प के साथ अन्तः स्थूल है, वहाँ उन्होंने आधुनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उसे सर्वथा नया स्वरूप, नया आयाम और नयारंग भी प्रदान कर दिया है । उनका नाट्य–शिल्प आधुनिक रंगबोधों से संयत एवं आप्लावित है ।"*[१०८]

डॉ. शेष जी समसामयिक शिल्प–विधान का बहुधा अनुसरण करते हैं । नाट्य–रचयिता विश्व स्तर पर उभरनेवाली शैली एवं शिल्प से प्रभावित और अनुप्रेरित होकर लिख रहे थे । इसीलिए समसामयिक नाटकों, उनके रचना विधान, रंगसज्जा के व्यवहारों और रंगमंच रूढ़ियों में एक विश्वव्यापी एकरूपता पायी जाती है । *''आज दुनियाभर की अनेक भाषाओं में लिखनेवाले नाटककारों के रचना व्यवहारों और शिल्प–विधान में जिस प्रकार की एकरूपता पायी जाती है वैसी विश्व के नाटक साहित्य के इतिहास में पहले कभी नहीं रही ।''*[७०७] कलाकार जो कुछ कहना चाहता है उसका वास्तविक और अन्तिम रूप तब तक उसके मन में ही रहता है, जब तक वह अनुकूल माध्यम की तलाश कर उसे अभिव्यक्त नहीं कर देता । सामान्य रूप से इस अभिव्यक्ति के लिए वह किसी घटना, किसी ऐसे विशेष पात्र या किसी ऐसे दृश्य के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करता है । डॉ. शेष जी के नाटकों में समसामयिक शिल्प–विधान की पर्याप्त सम्भावनाएँ देखी जा सकती है । जिन्हें निम्नरूप से क्रमशः निरूपित किया गया है ।

(१) ऐतिहासिक पौराणिक कथानकों में नये प्रयोग :

वैसे तो ऐतिहासिक पौराणिक कथाओं का आधार ग्रहण कर नाटक लिखने की प्रवृत्ति सर्वाधिक प्राचीन है । समसामयिक नाटकों में इस प्रकार के कथानक का उपयोग नये ढंग से किया गया है । इसका प्रयोजन इतिहास एवं पुराण की घटनाओं की नयी व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ–साथ समसामयिक जीवन की विभिन्न समस्याओं को रूपायित एवं व्याख्यायित करना रहा है । *''नया नाटककार अतीत के माध्यम से वर्तमान संघर्ष विशेषकर पात्रों के तीव्र मानसिक द्वन्द्व और युग सापेक्ष भंगिमाओं को प्रस्तुत करता है ।''*[७१०] डॉ. शेष जी का 'खजुराहो का शिल्पी' ऐतिहासिक नाटक है पर जीवन की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है । 'कालजयी' ऐतिहासिक परिवेश पर आधारित काल्पनिक नाटक है और यह समसामयिक राजनीतिक विद्रूपता तथा राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र के अन्तर्विरोध को, सत्ता लोलुपता, प्रपंच एवं संघर्ष को उजागर

करता है । 'कोमल गान्धार' वस्तुतः गान्धारी के चरित्र को नये अन्दाज में प्रस्तुत करने की कोशिश है । 'अरे ! मायावी सरोवर' में पौराणिक स्पर्श के साथ–साथ ऐतिहासिक आधार पर निर्मित कथा के माध्यम से नाटककार ने हमारे वर्तमान परिवेश और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छाई हुई अव्यवस्था को गहराई से व्यंजित करने का प्रयास किया गया है । 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक, मिथकीय कथाबीजों के जरिए समसामयिक जीवन के समस्या–प्रधान रूप की यथार्थवादी अभिव्यक्ति करता है ।

ऐतिहासिक–पौराणिक कथानक के प्रयोग की यह सर्वथा नवीन तकनीक है, जो समसामयिक नाटकों में और समसामयिक नाटकों के साथ विकसित हुई ।

(२) वस्तुविधान में सुदृढ़ कथानक का अभाव :

पश्चिम के असंगत नाटकों के प्रभाव के फलस्वरूप अब ऐसे नाटक सामने आए हैं जिनमें सुदृढ़ कथानक का अभाव होता है । ऐसे नाटकों में या तो कथातत्व विश्रृंखल होते हैं या होते ही नहीं । नाटककार केवल एक स्थिति का चुनाव करता है और विभिन्न संकेतों के माध्यम से अपनी बात कहने की कोशिश करता है । पारम्परिक नाटकों से सर्वथा पृथक् पड़नेवाली यह नाट्य–प्रवृत्ति नाटकों में वस्तुचयन की यह सर्वथा नयी प्रवृत्ति सिद्ध होती है । डॉ. शेष जी के 'चेहरे', 'आधी रात के बाद', 'अरे ! मायावी सरोवर' आदि इस नाट्य–प्रवृत्ति के अन्यतम उदाहरण है ।

(३) समानान्तर कथानकों की योजना :

एक साथ दो समानान्तर कथाबीजों का प्रयोग करने का शिल्पगत कौशल्य समसामयिक नाट्यकारों की विशिष्ट प्रवृत्ति रही है । *''स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित है । उसमें नित्य नये–नये प्रयोग होते रहते हैं । आधुनिक नाटकों में एक दृश्य प्रयोग दोहरे आयामों में व्यक्त करने के तन्त्र का प्रयोग किया जाता है । अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ने की ललक से निर्माण हुआ यह तन्त्र नाटककारों के आकर्षण का केन्द्र बना था ।''*[१११] डॉ.

शेष जी कृत 'एक और द्रोणाचार्य' और 'रक्तबीज' नाटकों में दो–दो कथा बीजों वाले शिल्प–विधान का प्रयोग हुआ है । 'एक और द्रोणाचार्य' में दो कथाबीज हैं, एक द्रोणाचार्य से सम्बन्धित है तो दूसरा अरविन्द की त्रासदी से । नाटककार ने इसमें आधुनिक जीवन से प्राचीन कथाबीजों का अन्वय जोड़ने का सफल प्रयास किया है । अर्थात् अरविन्द की कथा के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि बिकनेवाले द्रोणाचार्य भी थे, अरविन्द ने नया कुछ नहीं किया, वह बस एक और द्रोणाचार्य है । दर्शक दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखता है ।

'' 'रक्तबीज' नाटक में 'दो कथाबीजों के माध्यम से नाटककमार ने समाज को धिरे रक्तबीजों का परिचय कराया है ।''[१९२] हालाँकि इसमें दो कथानक है परन्तु दोनों में परस्पर विरोधी तथ्यों का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है । इसकी दो कथा दुनिया की नजरों में क्रमशः हत्या और आत्महत्या की कथा है, जो यह साबित करती है कि हत्या एक स्तर पर आत्महत्या और आत्महत्या एक स्तर पर हत्या भी हो सकती है ।

(४) वस्तु विभाजन की पारम्परिक शिल्प–योजना का परित्याग एवं नये शिल्प का प्रयोग :

समसामयिक युग में वस्तुविभाजन की दृष्टि से पारम्परिक रीति में परिवर्तन आया है । वह परिवर्तन पश्चिमी यथार्थवादी शिल्प–विधान के प्रभाव स्वरूप हुआ है । पारम्परिक शास्त्रीय आधार पर निर्मित नाटकों में वस्तु का विकास उत्कर्ष और समापन क्रमशः होता था, तथा पंचसन्धि, पंचअर्थप्रकृति एवं पंच अंकों में नाट्य–वस्तु का विभाजन किया जाता था । परन्तु समसामयिक युग में एक अंकवाले, दो अंकवाले, तीन अंकवाले, बिना अंकवाले और केवल दृश्य संख्यावाले, पूर्वार्द्ध–उत्तरार्द्ध में विभाजित नाटक लिखे गये । डॉ. शेष जी की नाट्य–रचनाएँ, चूँ कि समसामयिकता का उसकी समग्रता में निर्वाह करती चलती है । इन्हें क्रम से देखा जा सकता है ।

(अ)	एक अंकवाले नाटक	–	'आधी रात के बाद' ।
(आ)	दो अंकवाले नाटक	–	'घरौंदा' ।
(इ)	तीन अंकवाले नाटक	–	'मूर्तिकार', 'रत्नगर्भा', 'नयी सभ्यता : नये नमूने',' तिल का ताड़', 'बाढ का पानी', 'बन्धन अपने–अपने, 'फन्दी' ।
(ई)	बिना अंकवाले और केवल दृश्य संख्यावाले नाटक	–	'खजुराहो का शिल्पी' ।
(उ)	अंक–दृश्य विधान का अस्वीककार करनेवाले नाटक	–	'पोस्टर', 'चेहरे' ।
(ऊ)	पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित नाटक	–	'एक और द्रोणाचार्य', 'अरे ! मायावी सरोवर', 'रक्तबीज', 'राक्षस', 'कोमल गान्धार' ।

(५) चरित्रों की बदलती भूमिका :

समसामयिक नाटकों के वस्तुविधान में चरित्र निरूपण के धरातल पर भी नाटककारों ने अनेक प्रयोग किये हैं । इन प्रयोगो में चरित्र होता है व्यक्ति, जिसे किंचित् अलग अन्दाज में प्रस्तुत किया जाता है । इससे कोई प्रचलित चरित्र पारम्परिक मान्यताओं से बिल्कुल अलग आयाम के साथ पेश होता है । इतना ही नहीं पारम्परिक मान्यताओंवाले नाटकों के चरित्र इकहरे और एकायामी तथा नायक, नायिका, खलनायक, विदूषक आदि के कतिपय निश्चित रूपों से बन्धे हुए होते थे । समसामयिक नाटकों में चरित्रगत ऐसी सारी सीमाएँ अस्वीकृत हैं । डॉ. शेषजी के कतिपय नाटकों में इसी नव्य प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । *''डॉ. शेष ने गान्धारी के चरित्र को नये आयामों में उपस्थित कर''*[१९३] उसे प्रतिशोधकामी नारी के रूप में, भीष्म को कुटिल राजनीतिज्ञ के रूप में और शकुनि को कुमारावस्था में घृणित राजनीति पर फिटकार बरसाने वाले दर्शाए गए हैं । 'नई सभ्यताः नये नमूने' में कृष्ण के मिथ के रूप में आधुनिक कृष्ण की अवतारणा की है । *''कृष्ण यहाँ समाज के तथाकथित ब्लैक मार्किटियों, सफेदपोशों की शल्य चिकित्सा कर समाज–संचालन करनेवाले*

धर्माधिकारियों के घृणित कार्यों पर बन्दिश लगाने के प्रयत्न के जनसामान्य के समक्ष उनकी अन्दरूनी सच्चाई को परखते–निरखते हैं ।''[१९१४] 'एक और द्रोणाचार्य' में द्रोणाचार्य को संकुचित दृष्टिवाले लघुचेतस मानव के रूप में चित्रित किया गया है ।

डॉ. शेष जी के अनेक नाटक ऐसे हैं जिनमें नायक, नायिका, खलनायक, विदूषक आदि की भूमिका स्पष्ट नहीं होती है । 'मूर्तिकार', 'तिल का ताड़', 'बाढ़ का पानी', 'बन्धन अपने–अपने', 'फन्दी', 'कालजयी', 'घरौंदा', 'अरे ! मायावी सरोवर', 'राक्षस', 'पोस्टर', 'चेहरे', 'आधी रात के बाद' आदि नाटकों में पारम्परिक नाटक के नायक का लक्षण ढूँढना मुश्किल काम है ।

(६) एक ही पात्र द्वारा अनेक भूमिकाओं की योजना :

वस्तुविधान के शिल्प में यह भी एक नयी प्रयोगात्मक प्रवृत्ति है जो धीरे–धीरे विभिन्न रूपों में विकसित होती जा रही है । नाटककार कुशलतापूर्वक ऐसे संयोग की सृष्टि करता है कि एक पात्र अनेक चरित्रों की भूमिकाओं निर्विघ्न करता दिखाई देता है । इससे नाट्य रचना में नयापन, आकर्षण और चमत्कार बढ़ता है ।

डॉ. शेष जी के 'फन्दी' नाटक में फन्दी मुकदमे से सम्बद्ध सभी लोगों की भूमिकाओं का यथाक्रम अभिनटन प्रस्तुत करता है । 'अरे ! मायावी सरोवर' में नाटकीय युक्ति से राजा इल्वलु एक स्त्री के रूप में बदल जाता है और पूरे नाटक में पुरुष होता हुआ भी बदली हुई भूमिका निभाता है । 'रक्तबीज' की दो कथाओं के भिन्न चरित्रों की भूमिका एक ही अभिनेता निभाते हैं ।

(७) नामहीन पात्रों की सृष्टि की प्रवृत्ति :

नामहीन पात्रों की सृष्टि की प्रवृत्ति समसामयिक शिल्प–विधि की दृष्टि से एक नया प्रयोग है । प्रयोगधर्मी नाटकों में ऐसे प्रयोग किसी–न–किसी रूप में मिलते ही हैं । पारम्परिक चरित्रों के व्यक्तिवाचक नाम के स्थान पर वर्गगत

या जातिगत चरित्रों का प्रयोग नाटकों में होने लगा । शायद इसका कारण यह हो सकता है कि नाटककार जो कुछ कहना–दिखाना चाहता है वह एक व्यक्ति की बात न होकर मानव समुदाय की बात है । यही कारण है कि ऐसे स्थलों पर उसने चरित्रों को नामहीन रखा है । डॉ. शेष जी के 'चेहरे', 'पोस्टर', 'आधी रात के बाद', 'रक्तबीज', 'राक्षस' आदि नाटकों में चरित्रों के नाम के स्थान पर पदवाचक, जातिवाचक नामों का प्रयोग किया है । यथा–युवा, व्यक्ति, मजदूर, साथी, कीर्तनकार, दर्शक, कवि, अध्यापिका, प्रेसरिपोर्टर, फोरेस्ट ऑफिसर, सदस्य, मुखिया, ग्रामीण, ढोलवाला, परचावाला, स्त्री, पुरुष, बड़ा पुरुष, छोटापुरुष आदि । इतना ही नहीं जिन नाटकों में पात्रों के नाम पदवाचक एवं जातिवाचक संज्ञा के रूप में दिये गये हैं वहाँ एक से अधिक पात्रों की पहचान के लिए संख्याओं का प्रयोग किया गया है । जैसे प्रेसरिपोर्टर :१, प्रेसरिपोर्टर : २, मजदूर : १, मजदूर : २, मजदूर : ३, मजदूर : ४, मजदूर : ५, साथी : १, साथी : २, साथी : ३, साथी : ४, साथी : ५, कोरसदल का मुखिया, कोरसदल का दूसरा सदस्य, कोरसदल का तीसरा सदस्य, कोरसदल का चौथा सदस्य, अखबारवाला : १, अबखारवाला : २, ग्रामीण, १, ग्रामीण : २, ग्रामीण, ३, व्यक्ति : १, व्यक्ति : २, व्यक्ति : ३, युवा : १ से युवा : ७, दर्शक : १ एवं दशर्क : २ आदि । इसके अतिरिक्त दर्शक समुदाय में से उठनेवाली आवाज भी नामहीन पात्रों का ही प्रतिनिधित्व करती है । जैसे–एक आवाज, दूसरी आवाज, पहली आवाज, अनेक आवाजें आदि ।

(८) मानवेतर चरित्रों की अवतारणा :

वास्तव में नाटककार अपनी नाट्य–कृतियों में मानवीय पात्रों का ही रूपायन करता है । परन्तु हमें याद रहे कि दैवी, राक्षसी जैसे अतिमानवीय या पशु–प्राणी–पक्षी जैसे मानवेतर सृष्टि के पात्र या चरित्र के रूप में रूपायित करने की परम्परा आद्याजतक चली आ रही प्रवृत्ति है । समसामयिक नाटककारों ने आंशिक रूप में यह परम्परा अपने नाटकों में यदा–कदा अपनायी है । डॉ. शेष जी ने भी अपने नाटकों में मानवेतर चरित्र की सृष्टि करके

समसामयिकता का निर्वाह किया है । हालांकि उन्होंने मानवेतर चरित्रों को गौण या प्रासंगिक पात्र के रूप में ही अवतरित किया है । 'अरे ! मायावी सरोवर' में 'गाय' को डेयरी कोर्पोरेशन की मैनेजिंग डायरेक्टर के रूप में, 'उल्लू' को रात्रिकालीन विद्यापीठ के कुलपति एवं कुत्ते को प्रमुख अखबार के सम्पादक के रूप में उपस्थित किया है । नाटक के अन्त में इन्द्र का अवतरण आदि सब मिलकर मनुष्य के जीवन के क्रिया–कलापों की ही प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त करते हैं । 'एक और द्रोणाचार्य' में विमलेन्दु की आत्मा को छाया रूप में उतारकर उससे पात्र के जैसी भूमिका अदा करवायी है । 'रक्तबीज' में मानसपात्रों को मूलपात्र – मानस, गुंजन और कीर्ति नाम से उतारा गया है । 'मानस' मस्तिष्कगत भाव है । 'गुंजन' अन्तःकरण में गुँजती हुई आवाज है और कीर्ति जीवन में नाम कमाने का भाव है । इनके अलावा 'राक्षस' में भेड़–भेड़िया, बन्दर, बिल्ली–१, एवं बिल्ली–२ आदि को मानवेतर पात्रों की भूमिकाएँ दी हैं । यद्यपि वे प्रतीकात्मक हैं और मनुष्यों द्वारा मुखौटे पहनकर ही निभाए जायेंगे ।

(६) कम–से–कम पात्रों की योजना :

समसामयिक नाटकों में पात्रों की सीमित संख्या उसकी ध्यानाकर्षक बात है । पारम्परिक नाटकों में जहाँ पात्रों की भरमार लगी रहती थी; समसामयिक नाटकों में पात्रों की संख्या में भारी कटौती हुई है । अनावश्यक पात्र–सृष्टि नाटक की मंचनकला में भारी असुविधा पैदा करती है । किसी भी मंचीय नाटक के लिए पात्रों की संख्या न्यून होनी चाहिए जिसे दर्शकवर्ग को उन्हें पहचानने में असुविधा न हो । इस विचार से प्रेरित होकर डॉ. शेष जी ने अपने अधिकतर नाटकों में तो पात्र संख्या दो–तीन की ही है । उदाहरण स्वरूप 'रक्तबीज', 'आधी रात के बाद' नाटकों को लिया जा सकता है । 'रक्तबीज' में केवल तीन पात्र हैं – बड़ा आदमी, छोटा आदमी और स्त्री । इन तीनों के द्वारा दो भिन्न–भिन्न घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है । 'आधी रात के बाद' में भी केवल तीन पात्र हैं – चोर, न्यायाधीश और पत्रकार ।

'फन्दी' में तो मूलतः दो ही पात्र हैं परन्तु इसमें फन्दी के पात्र के जरिए नाटककार ने अलग–अलग नौ भूमिकाएँ करवायी गयी हैं ।

इस प्रकार कम–से–कम पात्रों की योजना और समसामयिक शिल्प प्रयोग का निर्वाह डॉ. शेष जी सचेष्ट रूप से करते नजर आते हैं ।

(१०) दर्शक को मंच से जोड़ने की योजना :

दर्शकों को चरित्र के रूप में मंच से जोड़नेवाली नाट्यकला–योजना समसामयिक शिल्प–विधान की विशिष्ट प्रवृत्ति का द्योतक है । यह बिल्कुल नवीन प्रवृत्ति ही मालूम पड़ती है । दर्शक दीर्घा में पहले से स्थित पात्र नाटक के शुरू होते ही मंच पर चढ़कर मंचीय पात्रों में समरस हो जाता है । दर्शक को रंगमंच के प्रति आकर्षित करनेवाला यह प्रयोग दर्शकगण में क्षणभर के लिए तो भारी कौतुक पैदा कर देता है ।

डॉ. शेष जी ने इस तकनीक का प्रयोग बड़ी कुशलता से अपने बहुमंचित नाटक 'पोस्टर' में किया है । 'पोस्टर' नाटक के प्रारम्भ में दर्शक दीर्घा में से श्रोता : १ उठकर रंगमंच पर आकर पात्र के रूप में अभिनय प्रदर्शित करता है । इस प्रकार की स्थिति के निर्माण द्वारा दर्शकों के अहं की तृष्टि की जाती है और उनका महत्त्व समझाकर उन्हें मंच की ओर आकर्षित किया जाता है ।

(११) विभिन्न नाट्य–शैलियों का प्रयोग :

नाटक सर्वाधिक प्रयोगशील विधा है और इसमें अनौचित्य भी नहीं है कि नाटकों में प्रयोगों की गुँजाइश भी सर्वाधिक है, आवश्यकता भी । पिछले दौर में नाटकों में नये प्रयोग के साथ–साथ विभिन्न नाट्य–शैलियों का प्रारम्भ हुआ है और नाट्य–रचना के परम्परित ढाँचे में पर्याप्त परिवर्तन भी महसूस किया गया है । पाश्चात्य नाटक, रंगमंच, प्रस्तुति शैली से प्रभावित नाट्यकला स्वातन्त्र्योतर काल में रामलीला, भवाई, तमाशा, कीर्तन, नौटंकी जैसी लोकनाट्य–शैलियों तथा एक से अधिक शैलियों के मिश्रण की ओर उन्मुख हो

रही है । *''प्राचीन परिवेश एवं नाट्य–शैली तथा आधुनिक–कथा गत दशा की विशेषता रही है ।''*[११५] यद्यपि ये शैलियाँ पहले से चली आ रही शैलियाँ हैं तथापि इनका प्रयोग नया है ।

डॉ. शेष जी के नाटकों में समसामयिक गृहीत विभिन्न नाट्य–शैलियों का सफल प्रयोग दिखाई देता है । उन्होंने पारम्परिक यथार्थवादी, प्रहसन, पूर्वदीप्ति, विसंगत नाट्य–शैलियों के अतिरिक्त लोकनाट्य शैलियों–तमाशा, कीर्तन एवं नौटंकी खास ध्यानाकर्षक है । 'राक्षस' नाटक लोकनाट्य महाराष्ट्रीयन शैली 'तमाशा' का नया प्रयोग है । 'पोस्टर' महाराष्ट्र की कीर्तन शैली एवं किस्सा शैली का हिन्दी रंगमंच का एक प्रयोग है, जो समन्वित रंगमंच का एक सफल प्रयोग कहा जा सकता है । *''डॉ. शेष ने 'अरे ! मायावी सरोवर' की रचना नौटंकी शैली में ही की है ।''*[११६]

निष्कर्षतः नाटककार का लक्ष्य समसामयिकता को वर्ण्य–विषय, संवेदना और शिल्प के सन्दर्भ में प्रस्तुत करना रहा है । वर्ण्य–विषय की दृष्टि से डॉ. शेष जी का नाट्य–साहित्य समसामयिकता के परिप्रेक्ष्य में जीवन के विविध पक्षों की सार्थक तथा सशक्त अभिव्यक्ति करता है जिसमें मानव–मूल्यों की नवीन स्थापनाएँ मिलती हैं । उन्होंने अपने सामाजिक–आर्थिक विषय प्रधान नाटकों में मनुष्य और समाज की त्रासदी की अभिव्यक्ति तो की ही है; ऐतिहासिक–पौराणिक आख्यानों तथा चरित्रों द्वारा भी समसामयिक भावबोध और सामाजिक यथार्थ को व्यंजित किया है । इन नाटकों का आधार तो ऐतिहासिक–पौराणिक होता था पर उनकी व्याख्या समसामयिक होती थी । डॉ. लाल की भाँति शायद वे भी मिथक को समसामयिकता की अभिव्यक्ति के लिए बहुत सार्थक मानते थे । फलतः उनकी कई नाट्यकृतियों में उन्होंने मिथक का सुन्दर प्रयोग किया है । समस्यात्मक नाटकों के जरिए उन्होंने मानव जीवन की अन्तहीन घोर विडम्बनाओं विसंगतताओं को विषय बनाकर नाटकों में समसामयिकता को न केवल स्थान दिया है, बल्कि समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओं का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है ।

डॉ. शंकर शेष ने अपने समस्त नाटकों में संवेदना और शिल्प आदि की इतनी विविधता प्रदर्शित की है कि लगता है कि नाटककार के लिए प्रयोग बहुत बड़ा मूल्य है । ध्यानाकर्षक बात तो यह है कि शिल्प के धरातल पर अपने समय की प्रचलित विशेषताओं का अनुसरण कर के उन्होंने इन्हें प्रायोगिक रूप प्रदान किया है । निःसन्देह कथ्य–विषय, संवेदना और शिल्प की दृष्टि से डॉ. शेष जी समसामयिक प्रयोगशील सक्रिय नाटककार हैं ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

१	सारिका, अंक–३०१, पृ. २७
२	ट्रेन्डस इन नाइन्टीन्थ सेंचुरी ड्रामा, फैडरिल ल्यूमले, पृ. २७७
३	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ६३
४	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. ५३
५	'मूर्तिकार', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ६३
६	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. ६६
७	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३०
८	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३५
६	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३६
१०	'बिन बाती के दीप', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १६२
११	नई राह, हरिकृष्ण प्रेमी, पृ. १६
१२	'बाढ़ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ११५
१३	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. ८८
१४	'बाढ़ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १५०
१५	'बन्धन अपने–अपने', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २२१
१६	'बन्धन अपने–अपने', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २३८
१७	'बन्धन अपने–अपने', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २११
१८	'बन्धन अपने–अपने', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २३०

१६	नाटककार, शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ३८
२०	'चेहरे', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २७७
२१	शंकर शेष का नाट्य कर्म एवं रंगदृष्टि, डॉ. वीणा गौतम, पृ. ३२०
२२	'चेहरे', (प्रस्तावना – 'स्मृति के बहाने'), डॉ. शंकर शेष, पृ. ८
२३	'आधी रात के बाद', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३४०
२४	'आधी रात के बाद', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३५१
२५	'आधी रात के बाद', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३३६
२६	आधुनिक हिन्दी नाटक : एक यात्रा दशक, डॉ. नरनारायण राय, पृ. १०२
२७	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक, डॉ. रीताकुमार, पृ. १०६
२८	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. ११६
२६	नरसिंह कथा, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, पृ. ५
३०	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १२६
३१	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १२६
३२	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १२६
३३	डॉ. शंकरशेष का नाटक साहित्य, डॉ. प्रकाश, जाधव, पृ. १४७
३४	नाटककार शंकरशेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ७६
३५	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ४१६
३६	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ४४०
३७	आज का हिन्दी नाटक : प्रगति और प्रभाव, डॉ. दशरथ ओझा, पृ. ६५
३८	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. ७३

३६	'नयी सभ्यता : नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २०
४०	'नयी सभ्यता : नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ६७
४१	नाटककार शंकरशेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ४८
४२	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २७५
४३	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २७४
४४	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३०३
४५	नाटककार शंकरशेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ६०
४६	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २३०
४७	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १६३
४८	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २३१
४६	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २०७
५०	'अरे ! मायावी सरोवर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १८३
५१	नाटककार शंकरशेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ६१
५२	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३७७
५३	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३६५
५४	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३६५

५५	दीर्घा, अंक–३३४ पृ. ३२
५६	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. ४०५
५७	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. ४१५
५८	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १५६
५९	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १३२
६०	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १३२
६१	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १२३
६२	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १४७
६३	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १४९
६४	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १८४
६५	'तिल का ताड़', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. ७३
६६	'तिल का ताड़', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. ७०
६७	'तिल का ताड़', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १०५
६८	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक, डॉ. रीता कुमार, पृ. १०४
६९	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक, डॉ. रीता कुमार, पृ. १०४
७०	डॉ. शंकरशेष का नाट्य साहित्य, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ. ६०–६१
७१	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. १०५

७२	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. १०६
७३	'फन्दी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३८
७४	'एक साथ की गाथा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : एक, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ५६
७५	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३२५
७६	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३४५
७७	शंकरशेष का नाट्यकर्म एवं रंगदृष्टि, डॉ. वीणा गौतम, पृ. २७३
७८	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३६८
७६	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २८६
८०	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३०४
८१	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २६४
८२	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ४५३
८३	'आधी रात के बाद', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३३८
८४	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २६
८५	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३१
८६	'रक्तबीज', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३७८
८७	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १६२

८८	'बाढ़ का पानी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १३५
८६	'घरौंदा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३६३
६०	'बिन बाती के दीप', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १८८
६१	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३१६
६२	'राक्षस', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १६६
६३	मोहन राकेश : व्यक्तित्व एव कृतित्व, डॉ. घनानन्द एम. शर्मा, 'अदली', पृ. ३०
६४	'नयी सभ्यता : नये नमूने', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : चार, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ.३२
६५	'फन्दी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १४
६६	'आधी रात के बाद', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ३४६
६७	'कालजयी', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. १२६
६८	'कोमल गान्धार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ४३४
६६	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २६८
१००	'मूर्तिकार', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. ६२
१०१	'एक और द्रोणाचार्य', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २७२
१०२	'पोस्टर', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : तीन, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १६६०, पृ. २६६

१०३	'बाढ़ का पानी', शंकर शेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १३७
१०४	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १६
१०५	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. १७
१०६	'रत्नगर्भा', शंकरशेष रचनावली, खण्ड : दो, सं. डॉ. विनय, प्रकाशन वर्ष – १९९०, पृ. ५१
१०७	प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य–शिल्प और संवेदना : नए रंगमंच की खोज (आलेख), डॉ. विनय, पृ. ४
१०८	डॉ. शंकरशेष का नाट्य साहित्य, डॉ. प्रकाश जाधव, पृ. १११
१०९	नाटक साहित्य का अध्ययन (ब्रैन्डर मैथ्यूज), भूमिका, अनु. इन्दुजा अवस्थी, पृ. २१
११०	हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन, डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृ. ३०
१११	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ४९
११२	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. ६५
११३	नाटककार शंकर शेष, डॉ. सुनीलकुमार लवटे, पृ. १६
११४	राजपथ से जनपथ : नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ. सुरेश एवं डॉ. वीणा गौतम, पृ. ७३
११५	नटरंग (त्रैमासिक) अंक : ३७ – सं. नैमिचन्द्र जैन, पृ. ३६
११६	नाटककार शंकरशेष, डॉ. सुनीकुमार लवटे, पृ. ५८

उपसंहार

उपसंहार

डॉ. शंकरशेष स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों में सशक्त हस्ताक्षर माने जाते हैं । उनकी समूची जिन्दगी नाटक की बुनियाद पर खड़ी है । उनकी जीवनी, व्यक्तित्व एवं कृतित्व सब में, नाटक एक अभिन्न तत्त्व के रूप में उपस्थित होता है । कला, संगीत, नाट्य और स्वाभिमान से सम्पन्न हिन्दू संयुक्त परिवार की कर्मठता और रूढ़ियों के बीच उनके व्यक्तित्व का संस्कार हुआ । पिताजी के संगीत और नाटक के संस्कार और माता की धार्मिक एवं सांस्कृतिक निष्ठा जहाँ उन्हें विरासत में मिली, तो डॉ. विनयमोहन शर्मा जैसे गुरु के मार्गदर्शन से साहित्य सृजन की प्रेरणा मिली । इसके साथ ही धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों में गहन निष्ठा और मानव प्रेम ने भी उनकी रचनाशीलता को गहरे सरोकार से मण्डित किया । विभिन्न भाषाओं के ज्ञान और व्यापक अध्ययन से उनके साहित्य सृजन को बहुआयामी बल मिला ।

डॉ. शेष जी सरकारी नौकरी के कारण किसी एक जगह स्थित नहीं रहे हैं और सम्भवतः यही कारण है कि स्वातन्त्र्य प्राप्ति के बाद देश के दूर–दराज के गाँवों को और आदिम जाति की दुर्दशा को वे निकट से देख सकें । एक संवेदनशील रचनाकार होने के नाते वे उसे बड़ी गहराई से अनुभव भी करते रहे । यही गहन अनुभूतियाँ बार–बार उनके साहित्य का उपजीव्य बनकर अभिव्यक्त होती रही । डॉ. शंकरशेष वर्तमानयुग के प्रतिभा सम्पन्न, प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध नाटककारों में से हैं । उन्होंने प्रारम्भ में भले ही कविता तथा कहानी आदि का लेखन किया हो, पर उनकी साहित्य–सरिता का स्रोत हमें उनके नाटकों के रूप में ही प्राप्त होता है । सन् १९५५ से लेकर सन् १९८१ तक की साहित्ययात्रा में २२ नाटक, ७ एकांकी नाटक, २ बालनाटक, ४ अनूदित नाटक, ४ उपन्यास, ३ अनुसन्धानात्मक प्रबन्ध, १ संकीर्ण, २ पटकथा, १ पटकथा संवाद आदि साहित्य–सर्जन अपने गुणात्मक और परिमाणात्मक वैशिष्ट्य से उनके रचनाकर्म का कीर्तिमान स्थापित करते हैं ।

साहित्यिक उपलब्धियों के लिए उन्हें 'फिल्मफेयर', 'आशीर्वाद', मध्यप्रदेश शासन से 'बाढ़ का पानी' और 'बन्धन अपने–अपने' पर क्रमशः 'सात हजार रुपए' तथा 'ग्यारह सौ रुपए' के पुरस्कारो से सम्मानित किया गया है । इस प्रकार डॉ. शंकरशेष का व्यक्तित्व और उनका साहित्यिक कृतित्व हमारे सामने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

'समसामयिकता' अपने मूल में कालवाचक एवं प्रवृत्तिबोधक अवधारणा है । पहले रूप में वह कोशगत अर्थ का संवाहन किए हुए है, जैसे 'समसामयिकता' अर्थात् – इस समय का बोध, वर्तमान का बोध; जिसमें हम जी रहे हैं । दूसरे रूप में वह किसी कालखण्ड में व्याप्त स्थितियों, समस्याओं को ऐतिहासिक अर्थ में समझने तथा उनके मूल रूप में पहुँचने की प्रक्रिया है ।

'समसामयिकता' के समकक्ष साहित्यिक क्षितिज पर उभरनेवाली अन्य भी कालवाचक संज्ञाएँ हैं, जैसे आधुनिकता, युगबोध, समकालीनता, तात्कालिकता, नवीनता आदि । इसमें 'समसामयिकता' के साथ इन संज्ञाओं का अन्तर स्पष्ट होता है । आधुनिकता की दृष्टि केवल वर्तमान पर ही केन्द्रित रहती है तथा समय की सीमाओं से परे रहनेवाली व्यापक चेतना है तो समसामयिकता युगीन परिस्थितियों एवं परिवर्तित मूल्यों आदि के प्रति प्रतिबद्ध रहनेवाली सीमित दृष्टि है । 'तात्कालिकता' तुरन्त और शीघ्रता का बोध कराती है । यह कालांश अपने से पूर्व के कालांश से निरन्तरता का आभास नहीं देता, जबकि समसामयिकता में यह निरन्तरता विलुप्त नहीं होती । युगबोध में पूरे युग का प्रतिबिम्ब उभरता है जबकि समसामयिकता एक ही युग में अनेक रूप में दृष्टिगोचर होती है । नवीनता वर्तमान से श्लिष्ट अलंकरण या साधन है । समसामयिकता के साथ उसका अवश्य सम्बन्ध है । किन्तु नवीनता में जहाँ विगत के प्रति विरोध है, समसामयिकता में विगत और आगत दोनों का साहचर्य स्वीकार है । समकालीनता और समसामयिकता दोनों पर्यायवाची है । दोनों से समान अर्थ का ही बोध होता है । इन्हें परस्पर भिन्न नहीं समझा जाना चाहिए । 'समसामयिक' आधुनिक कहे जानेवाले कालखण्ड का एक अंग

होते हुए भी वर्तमान समय में संचरित प्रवृत्तियों का द्योतक है । किसी भी देश अथवा समाज की ज्वलन्त समस्याओं का निरूपण, वहाँ के लोगों का उन समस्याओं से जूझना तथा उनके उत्थान–पतन की क्रियाएँ, प्रक्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ, उनकी गतिविधियाँ तथा संवेदनाएँ आदि सब मिलकर समसामयिकता का बोध कराते हैं । समसामयिकता का सम्बन्ध किसी कालखण्ड विशेष से ही न रहकर उस कालखण्ड में विद्यमान विभिन्न परिस्थितियों, विशेषताओं से अनिवार्यतः जुड़ जाता है । जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करनेवाली इन विचारधाराओं के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आदि विविध आयाम समसामयिकता के स्वरूप को निर्माण करने में सहायक होते हैं ।

स्वतन्त्रता पश्चात् भारतीय समाज व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन होने लगा था । प्राचीन एवं संकीर्ण मान्यताएँ ध्वस्त होने लगीं । नयी सामाजिक धारणाओं के साथ समाज विकसित होने लगा । समाज के सुष्ठु स्वरूप की कल्पना घूमिल ही बनी रही । डॉ. शंकरशेष का सामाजिक बोध उनके व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है । उन्होंने उच्चवर्ग, मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग सभी के जन–जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया । किन्तु यह भी उल्लेख्य है कि स्वयं मध्यमवर्गीय परिवार का सदस्य होने के कारण उनकी रचनाओं में मध्यमवर्गीय समाज के आन्तर्बाह्य रूपों का बड़ा जीवन्त और प्रामाणिक चित्रण हुआ है । नाटककार संयुक्त परिवार के पारम्परिक विघटन की स्थितियों के प्रति असन्तुष्ट थे । संयुक्त परिवार के अन्तर्गत रहनेवाले सभी मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों को उन्होंने चित्रित किया है । जिसमें माता–पुत्र–पुत्री सम्बन्ध, भाई–बहन सम्बन्ध, पति–पत्नी सम्बन्ध, प्रेमी–प्रेमिका सम्बन्ध आदि तमाम रूपों को दर्शाया गया है ।

नारी की विविध समस्याओं और उसकी जीवनगत विडम्बनाओं का भी मार्मिक अंकन डॉ. शेष जी के नाटकों में हुआ है । झूठी सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं के कारण किस प्रकामर नारी का शोषण होता है इसका चित्रण 'कोमल गान्धार' में हुआ है । पहले माता–पिता की इच्छा से लड़कियों का विवाह किया जाता था, परन्तु अब समय बदलने के साथ–साथ युवतियों

की मानसिकता में परिवर्तन आया और वे अपनी इच्छा से विवाह करना अधिक पसन्द करती हैं । इसके अतिरिक्त पुनर्विवाह, गान्धर्वविवाह, विधवा विवाह, प्रौढ़ या अनमेल विवाह आदि के प्रति मध्यमवर्गीय एवं उच्चवर्गीय लोगों की रुचि को चित्रित किया गया है । उनकी नाट्य रचनाओं में परम्परावादी नारियाँ हैं जो अपनी पतिपरायणता को एवं सच्चरित्रता को जीवन का सर्वस्व मानकर अनेक प्रकार की विपत्तियों का शिकार बनती हैं । नौकरी पेशा युवतियों को आगे बढ़ने के लिए किन–किन कठिनाईयों का सामाना करना पड़ता है, इसका भी चित्रण हुआ है । नाटककार ने युग–युग से पीड़ित नारी की विडम्बना को 'एक और द्रोणाचार्य', 'पोस्टर', 'राक्षस', 'चेहरे', 'बाढ़ का पानी' आदि नाटकों में उभारा है । वर्ण–व्यवस्था, जाति–पाँति, छुआ–छूत जाति के कारण साम्प्रदायिक वैमनस्य की समस्याओं की पुष्टि सप्रमाण की गई है । इसके साथ ही समसामयिक युग में भी हमारे समाज में फैले हुए अन्धविश्वास तथा लोगों की संकीर्ण मानसिकता को भी रूपायित किया गया है । नाटककार ने 'पोस्टर', 'बिन बाती के दीप', 'बाढ़ का पानी' आदि नाटकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए अन्धविश्वास में आस्था रखनेवाले एवं उसको बढ़ावा देने वाले तत्त्वों की भर्त्सना करवाई है ।

अर्थ हमारे जीवन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, क्योंकि इसके न रहने पर मानव–जीवन अव्यवस्थित हो जाएगा । डॉ. शंकर शेष के नाटकों में भी आर्थिक परिवेश उजागरित हुआ है । स्वाधीनता के बाद औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रवृत्तियों ने गति पकड़ी । परन्तु गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी और शोषण के शिकंजे में फंसा भारतीय समाज इन सब से जूझता रहा । संसार का प्रत्येक मानव अर्थ के लिए प्रयत्नशील रहता है । अर्थ के लिए वर्तमान युग का मानव अनर्थ के रास्ते पर चलने के लिए भी तैयार है । अर्थ के कारण होनेवाले सभी दुष्परिणामों पर गम्भीरता से दृष्टिपात करनेवाले डॉ. शेष जी ने कुछेक नाटकों में ऐसी अस्मिता का भी दर्शन कराया है, जो समसामयिक युग में विरल घटना मानी जा सकती है । 'मूर्तिकार', 'एक और द्रोणाचार्य', 'घरौंदा', 'पोस्टर', 'फन्दी' आदि नाटकों में अनेक ऐसे विरल पात्र

हैं जो अपनी घोर विपन्नता में भी अपने उच्चादर्शों से चलित नहीं होते, वरन् अपने स्वाभिमान एवं अस्मिता को बरकरार रखते हैं ।

चूंकि डॉ. शेष जी कोरे आदर्शवाद में विश्वास नहीं रखते । उदात्त जीवनमूल्यों पर आधारित अव्यावहारिक आदर्शवादिता उन्हें खोखली लगती है । उन्होंने समाज के उस रूप को निकट से देखा है जिसमें आर्थिक विषमता के कारण मानवीय सम्बन्ध सार हीन हो गए हैं । पेट की भूख आदमी को विवश बना देती है । बेरोजगारी की समस्या, नौकरी की परेशानियाँ, उच्चाधिकारीयों के नीचे कार्य करनेवाले कर्मचारियों की स्थिति का प्रभावपूर्ण वर्णन किया गया है तथा पूंजीपति वर्ग किस प्रकार शोषण करके गरीब जनता को बेवकूफ बनाते हैं, इसको भी नाटककार ने दर्शाया है । समसामयिक युग की राजनीतिक–सामाजिक व्यवस्था भी आर्थिक क्रियाओं से प्रभावित हो रही है । अब अर्थ सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार है, जिसकी प्राप्ति हेतु रिश्वत, कालाबाजारी, मिलावट, करचोरी, राजस्व की चोरी इत्यादि अनैतिक माध्यमों का प्रयोग किया जाता है । इसका कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति आसान, अनैतिक और अवैध तरीके से अधिकतम धन कमाना चाहता है । अर्थोपार्जन हेतु उसने साधनशुचिता का त्याग कर दिया है । अधिकांशतः मध्यमवर्गीय इन्सान बेघर ही है । महानगरों में आवास की समस्या बड़ी जटिल समस्या है । रोजगार की तलाश में देहात से आए युवकों को आवास के लिए इधर–उधर भटकना पड़ता है । शादीशुदा युवक आर्थिक संकट के कारण अपने बीवी–बच्चों के साथ रह नहीं पाता और अविवाहित युवक को किराए पर भी घर नहीं मिलता । इस करुणान्तिका से जूझते हुए भी वह अपने छोटे से घर का सपना जीवन–पर्यंत साकार होते देख नहीं सकता । 'घरौंदा' एवं 'तिल का ताड़' में उक्त विभीषिका को नाटककार ने लिपिबद्ध किया है ।

हमारे देश का राजनैतिक जीवन बहुत विविधता लिए हुए है । अंग्रेजों के शासन के समय तथा स्वतन्त्रता के बाद अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं । डॉ. शंकर शेष ने अपने नाटकों में राजनैतिक नियमों तथा आदर्शों, उनकी गतिविधियों को बड़ी बारीकी से परखने का सफल प्रयास किया है ।

स्वातन्त्र्योत्तर सत्ताधारी की मनोवृत्ति लोक–कल्याण हेतु न रहकर आत्मकल्याण में केन्द्रिभूत हुई है । सत्ताधारियों की निरंकुश व स्वेच्छाचारिता के परिणामस्वरूप सामान्य जन पर अमानवीय अत्याचार किए जाते हैं । सत्ता का लालच व्यक्ति को अपराधी बना देता है । सत्ता की प्राप्ति एवं उसकी सुरक्षा के लिए वह नित नई चालें चलता है । कभी–कभी वह जातिवाद और साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाकर, कभी धमकी या प्रलोभन देकर अपनी सत्ता, पद सुरक्षित कर लेता है । समसामयिक राजनैतिक स्वरूप का चित्रण 'कालजयी', 'कोमल गान्धार', 'एक और द्रोणाचार्य' में देखा जा सकता है । समसामयिक राजनीतिक परिवेश पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि येन–केन–प्रकारेण सत्ता पाना ही राजनीतिक व्यक्ति का एकमेव प्रयोजन बन चुका है । निरीह जनता को स्वप्निल दुनिया में सैर करानेवालों के ये वायदे केवल जीत के लिए होते हैं । चूं कि जागृत जनता इनसे भली–भाँति परिचित हो चुकी है इसलिए वह राजनीतिक सम्मोहन से निष्प्रभावी रहती है । भ्रष्टाचार के दल–दल में गहरे तक घँसे हुए भू–स्वामी, ग्राम–प्रमुख इत्यादि सरकारी अफसर, दारोगा, इंस्पेक्टर आदि गरीब जनता का अमानवीय शोषण करने में पीछे नहीं है । नाटककार ने समसामयिक राजनीति के इस विद्रूप रूप को बड़ी सूक्ष्मता से 'पोस्टर' और 'राक्षस' में उभारा है । इन सब स्थितियों के प्रति भुक्तभोगी के मन में आक्रोश है, विरोध है । लेकिन उसे अपनी स्थिति की विषमता भी ज्ञात है तो क्षमताओं की सीमा–रेखा भी । सत्ताधारी वर्ग की स्थिति उसके आक्रोश की पहुँच से बहुत दूर है । इसलिए वह बार–बार परिस्थितियों के हाथों विवश है और हताशा के स्वरों से भरपूर भी । 'कोमल गान्धार', 'एक और द्रोणाचार्य' और 'फन्दी' आदि में उक्त स्थिति का सफल अंकन हुआ है ।

वैसे युद्ध को हीनकृत्य और मानव विरोधी माना गया है किन्तु डॉ. शेष जी अधिकार, न्याय, स्वत्व एवं अस्तित्व की रक्षार्थ युद्ध को अनिवार्य मानने के पक्ष में हैं । आक्रान्ता के सामने न्यस्तशस्त्र बनकर समझौता कर लेने से शान्ति और सुव्यवस्था की आशा रखना केवल भ्रमणा हो सकती है । उनका

'राक्षस' नाटक इस बात की घोषणा करता है । राजनीति का प्रभुत्व आज हर जगह लक्षित होता है । वर्तमान शिक्षण संस्थाएँ राजनीतिक हस्तक्षेप से लड़खड़ा गई हैं । भाई–भतीजावाद और व्यापक भ्रष्टाचार के कारण योग्य व्यक्ति योग्य स्थान से वंचित रह जाते हैं । तरक्की, पदोन्नति और ऊँचा स्थान पानेके लिए मेहनत, ईमानदारी और निष्ठा की अब कोई कीमत नहीं रह गई है । प्रशासन व न्यायव्यवस्था में भी दिन–प्रतिदिन भ्रष्टाचार अन्याय व अत्याचार का बोलबाला हो गया है । गरीब जनता न्याय पाने के लिए भटकती है और अन्त में उसे निराशा ही हाथ लगती है । हमारे कायदे कानून दोषग्रस्त हैं इनमें अपेक्षित सुधार की नितान्त आवश्कयता है, तमी वास्तविक अपराधी को सजा और निरपराधी को मुक्ति मिल सकती है । ऐसे हालात को बयान देनेवाले नाटको में से 'एक और द्रोणाचार्य', 'बन्धन अपने–अपने', 'आधी रात के बाद', 'फन्दी', 'पोस्टर' आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय है ।

स्वाधीनता प्राप्ति के साथ–साथ देश के सांस्कृतिक परिवेश में अनेकानेक परिवर्तन की सम्भावना खड़ी हो गई । वैज्ञानिक चिन्तन ने शताब्दियगों पुरानी अधिकांश मान्यताओं को नकार दिया । समाज में से त्याग, सेवा, कर्तव्य भावना लुप्त होने लगीं । इनके स्थान पर बेईमानी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता और अधिकार भावना का बोलबाला बढ़ गया । आध्यात्मिक मूल्यों की तीव्र आलोचना होने लगी । भारतीय समसामयिक सांस्कृतिक परिवेश में आए बदलाव ने डॉ. शेष जी में बैठे सांस्कृतिक पुरुष को विचलित कर दिया । अतः उनके नाटकों में समसामयिक सांस्कृतिक परिवेश के प्रति असन्तोष और क्षुब्धता के भाव अभिव्यक्त हुए हैं । ईश्वर–धर्मादि के स्थान पर अब व्यक्तिगत हित प्रमुख हो गए । नवीन सभ्यता के आलोक से परे आस्थालु व धर्मभीरूवर्ग अब भी पाप–पुण्य, स्वर्ग–नर्क, पुनर्जन्म, दैवी प्रकोप इत्यादि मान्यताओं के आदिम घेरे में अपना शोषण सहने हेतु विवश रहा । धर्म के नाम पर पड़ोसी राष्ट्र के प्रति जनता को धर्मांध बनाकर उसका ध्यान अन्यत्र आकर्षित करने की शासकों की क्रूर–प्रवृत्ति प्रधान रही है । 'पोस्टर', 'कालजयी' आदि नाटक उक्त कथ्य के परिचायक है ।

धर्म के प्रति निष्ठा और उदारभावना भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता रही है । यहाँ रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति सदैव से ही अपनी–अपनी इच्छानुसार धर्मपालन, प्रचार और प्रसार के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है । ऊँच–नीच, जाति–पाँति में विश्वास और अहंकार जैसी क्षुद्र भावनाओं और धार्मिक रूढ़ियों के प्रति इस प्रकार के आस्था परिवर्तन का चित्रण 'बाढ़ का पानी', 'खजुराहो का शिल्पी' आदि नाटकों में हुआ है । वर्तमान समाज में धर्म का स्थान अधर्म ने और नीति का स्थान अनीति ने ले लिया है, जिसके कारण हम अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं । विज्ञान के विकास ने नैतिकता को नवीन दिशा प्रदान की फलतः परम्परागत नैतिकमूल्य परिवर्तित हुए । वर्तमान युवापीढ़ी ने इन्हीं परिवर्तित नैतिक मूल्यों को अपने जीवन का आधार बनाया है । व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुखों और लाभ–हानि के प्रति अधिक जागृत हो गया है और इसी बहाने वह स्वाभिमानशून्य, क्षुद्र, लालची बनकर नैतिकता से गिरता जा रहा है । कभी उसे नैतिक मार्ग से अधःपतित बनाने में परिवार एवं परिस्थितियाँ भी योग देती है । आदर्शों का अवमूल्यन हुआ है । भारतीय सांस्कृतिक मानदण्डों के आधार पर उसे परिवर्तन की अपेक्षा पतन कहा जाए तो अधिक समीचीन होगा । डॉ. शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य', 'मूर्तिकार', 'रक्तबीज', 'खजुराहो का शिल्पी', 'कोमल गान्धार', 'घरौंदा', 'चेहरे' आदि नाटकों में नैतिक मूल्यों की ह्रासोन्मुखी स्थिति पर चिन्ता एवं आक्रोश की अभिव्यक्ति दिखाई देती है ।

मध्यमवर्गीय और निम्नवर्गीय लोग अपनी असमर्थता के कारण भाग्य का भरोसा करने के लिए विवश होते हैं । मेरुतुल्यधन, स्वर्गीय सुख, सफलता, ठाट–बाट, सुन्दर शरीर, सुबुद्धि, स्वास्थ्य एवं रमणीय गात्रोंवाली पत्नी आदि की प्राप्ति मनुष्य को भाग्योदय से होती है । 'बाढ़ का पानी', 'पोस्टर', 'फन्दी', 'रत्नगर्भा', 'खजुराहो का शिल्पी', 'नयी सभ्यता : नये नमूने', 'घरौंदा' आदि नाटकों में नाटककार का नियतिवादी दृष्टिकोण सविस्तर प्रस्तुति पाता है । शिक्षा जगत् में व्याप्त विसंगतियाँ, भ्रष्टाचार, तिकड़मबाजी, भेदभाव और इस्तेमाल की बोलबाला ने भारतीय शिक्षा जगत् को दूषित कर दिया है । उत्कृष्ट कला

सर्जन करनेवाले कलाकार को निर्बन्ध कलाभिव्यक्ति के लिए अपने चारों ओर से जूझना पड़ता है । कलाकार की आत्मा उसके कलाशिल्प में बोलती है । अतः उसकी प्रकृति सहज ही स्वाभिमानी होती है । अस्मिता उसका अलंकरण होता है । उक्त कथ्य का संवाहन करनेवाले नाटकों में 'एक और द्रोणाचार्य', 'बन्धन अपने–अपने', 'खजुराहो का शिल्पी', 'मूर्तिकार' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

नाटककार ने समसामयिकता के बदलते सन्दर्भों को पूर्ण तत्परता से अपने नाट्यसाहित्य में प्रतिष्ठित किया है । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक–परिवर्तित परिवेश के चित्रण के साथ–साथ नाटककार की प्रतिबद्धता समसामयिक बोध को व्यक्त करती है । डॉ. शंकरशेष ने नाटक को विस्तृत क्षेत्र प्रदान करते हुए सदा नित–नवीन विषयों को लेकर नाट्य–सृजन किया है । विषय की दृष्टि से उनकी प्रत्येक रचना अछूते और नवीन विषय को लेकर चली है । विषयगत समसामयिकता की दृष्टि से उनकी नाट्य–कृतियों में तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक, ऐतिहासिक–पौराणिक, मिथकीय एवं समस्या प्रधान आदि का यथार्थ चित्रण हुआ है । डॉ.शेष जी के सभी नाटक विषय और संवेदना के धरातल पर समसामयिक मनुष्य के जीवन की त्रासदी एवं विसंगतियों को उजागर करते हैं । 'तिल का ताड़', 'घरौंदा' में घर की समस्या, 'बन्धन अपने–अपने', 'अरे ! मायावी सरोवर', में एकाकीपन, 'बाढ़ का पानी' में जातिवाद, 'मूर्तिकार', 'रन्तगर्भा', 'बिन बाती के दीप' में पारिवारिक, 'नयी सभ्यता : नये नमूने', 'तिल का ताड़', 'बन्धन अपने–अपने', 'चेहरे', 'मूर्तिकार' में वैवाहिक, 'चेहरे', 'आधी रात के बाद', 'पोस्टर' में ब्लैक मेलिंग, कालाधन, नकली दवाइयों का व्यापार एवं अमानवीय शोषण की समस्या, 'कोमल गान्धार', 'रक्तबीज' में इस्तेमाल की, 'नयी सभ्यता : नये नमूने', 'तिल का ताड़' में बेरोजगारी की समस्या, 'बन्धन अपने–अपने', 'एक और द्रोणाचार्य' में शैक्षणिक भ्रष्टाचार की समस्या, 'घरौंदा', 'आधी रात के बाद' में बिल्डरों द्वारा ठगी की समस्या, 'एक और द्रोणाचार्य', 'कालजयी', 'कोमल गान्धार', 'राक्षस' में राजनीतिक दाँव–पेच, आतंक, दबाव की समस्या तथा कर्तव्य की आड़ में पाप

कर्म की समस्या, 'फन्दी' में जटिल न्याय प्रणाली पर मूल्य निक्षेप का आक्षेप, 'बिन बाती के दीप, 'बन्धन अपने–अपने', 'घरौंदा', 'कोमल गान्धार' में निर्मम, निष्ठुर महत्त्वाकांक्षाओं की समस्या और इनसे उद्‌भूत संवेदना आदि युगीन समसामयिकता का समूचा परिदृश्य डॉ. शेष जी के नाटकों में विद्यमान है ।

नाट्य–शिल्प की दृष्टि से भी डॉ. शंकर शेष के समस्त नाटक पूर्ण और सफल है । शिल्प–विधान में नयापन लाने के लिए समसामयिक प्रचलित प्रवृत्तियों का प्रयोग नाटककार ने सफलतापूर्वक किए हैं । ऐतिहासिक–पौराणिक कथानक का इस्तेमाल सर्वथा नव्यरूप से किया गया है । सुदृढ़ कथानक का परित्याग, समानान्तर कथानकों की योजना, लोकनाट्य की विभिन्न रुढ़ियों का प्रयोग, वस्तुविभाजन की पारम्परिक शिल्प योजना का परित्याग एवं नए शिल्प का प्रयोग, चरित्रों की बदलती भूमिका, एक ही पात्र द्वारा अनेक भूमिकाओं की योजना, नामहीन पात्रों की सृष्टि की प्रवृत्ति, मानवेतर चरित्रों की अवतारणा, कम–से–कम पात्रों की योजना, दर्शक को मंच से जोड़ने की योजना जैसी प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्वाह बखूबी उनकी नाट्य–रचनाओं में नएपन और प्रयोगपरक दृष्टि सहित मौजूद है । यही कारण है कि डॉ. शेष जी के नाटक मंच की एक विशिष्ट पहचान कायम करने में सफल हुए हैं ।

– अस्तु –

परिशिष्ट

परिशिष्ट

❀ *आधारभूत ग्रन्थ :*

शंकरशेष रचनावली, सं. डॉ. विनय, १९९०, किताबघर, नई दिल्ली – के क्रमशः खण्ड दो, तीन एवं चार में संकलित नाट्य–रचनाएँ :

१. रत्नगर्भा
२. मूर्तिकार
३. बाढ़ का पानी
४. बिन बाती के दीप
५. बन्धन अपने–अपने
६. एक और द्रोणाचार्य
७. घरौंदा
८. रक्तबीज
९. कोमल गान्धार
१०. फन्दी
११. खजुराहो का शिल्पी
१२. कालजयी
१३. अरे ! मायावी सरोवर
१४. चेहरे
१५. पोस्टर
१६. आधीरात के बाद
१७. नयी सभ्यता : नये नमूने
१८. तिल का ताड़
१९. राक्षस

❀ *सहायक ग्रन्थ :*

१. अमृतलाल नागर के उपन्यासों में आधुनिकता, डॉ. अनीता रावत, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९८

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास ग्रन्थों में इतिहास चेतना का अनुशीलन, डॉ. दुर्गावती सिंह, निर्मल पब्लिकेशन्स, प्र.सं. १९९८

३. आज का हिन्दी नाटक : प्रगति और प्रभाव, डॉ. दशरथ ओझा, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, प्र.सं. १९८४

४. आठवें दशक की हिन्दी कहानी, डॉ. प्रतिभा धारासूरकर, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.१९९८

५. आधुनिक हिन्दी काव्य और संस्कृति, डॉ. भक्तराजशास्त्री, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९६

६. आधुनिक हिन्दी पद्य नाटकों का संरचनात्मक अनुशीलन, डॉ. शशिकान्त शर्मा, ज्ञान प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. २००२

७. आधुनिक खण्डकाव्यों में युग–चेतना, डॉ. एन. डी. पाटील, अतुल प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. १९९४

८. आधुनिक हिन्दी उपन्यास : व्यक्तित्व विघटन के निकष पर, डॉ. नीरज जैन, निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र.सं. २००१

९. आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास, डॉ. पारूकान्त देसाई, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. १९९४

१०. आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में काममूलक संवेदना, डॉ. श्रीराम महाजन, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. १९८६

११. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक एवं आर्थिक चेतना, डॉ. पीताम्बर सरोदे, अतुल प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. १९८७

१२. आधुनिक हिन्दी नाटकों में लोक नाट्यों के प्रभाव का अनुशीलन, डॉ. नीना शर्मा, आस्था प्रकाशन, भोपाल, प्र.सं. १९९९

१३. उपन्यास का आंचलिक वातायन, डॉ. रामपत यादव, चिन्ता प्रकाशन, राजस्थान, प्र.सं. १९८०

१४. कथा लेखिका मन्नू भण्डारी, डॉ. व्रजमोहन शर्मा, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. १९९१

१५. कबीर के काव्य पर समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव, डॉ. रामनारायणप्रसाद सिंह, जानकी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. १९९८

१६. कविता का सामाजिक सन्दर्भ, मत्स्येन्द्र शुक्ल, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. १९९६

१७. कुंवर नारायण कृत आत्मजयी : स्रोत और समकालीन प्रासंगिकता, डॉ. सरस्वती भल्ला, पीयूष प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. १९९७

१८. छायावादोत्तर काव्य प्रवृत्तियाँ, डॉ. टी. एन. मुरली कृष्णम्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. १९८६

१९. जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्य–सृष्टि, डॉ. नरनारायणराय, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. १९८८

२०. जयशंकर प्रसाद के नाटकों में इतिहास और संस्कृति, डॉ. उमेशचन्द्र मिश्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. १९९९

२१. दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, डॉ. जयसिंह 'नीरद', अनुराधा प्रकाशन, मेरठ, प्र.सं.१९८४

२२. धर्मवीर भारती और शंकरशेष के नाटकों का रंग–चिन्तन, डॉ. वीणा गौतम, शब्द सेतु, दिल्ली, प्र.सं. २००१

२३. नया नाटक : आज–कल, डॉ. जयदेव तनेजा, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. २०००

२४. नयी कहानी, मीरा सीकरी, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. १९८४

२५. नयी कहानी और अमरकान्त, निर्मल सिंहल, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, प्र.सं. १९९९

२६. नयी कविता : मूल्य–मीमांसा, डॉ. वैजनाथ सिंहल, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. १९८५

२७. नवीन भावबोध के प्रबन्ध काव्यों में सांस्कृतिक चेतना, डॉ. प्रेमचन्दमित्तल, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. ९९९०

२८. नाटकनामा, डॉ. नरनारायणराय, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. १९९३
२९. नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. नरनारायणराय, अनुरोध प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं. २००२
३०. नाटककार डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. कमल सूर्यवंशी, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. १९८९
३१. निराला और दिनकर के काव्य में भारतीय संस्कृति, डॉ. कृष्ण भावुक, प्रेम प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली, प्र.सं. १९९४
३२. पारसी रंगमंच और ख्याल परम्परा, डॉ. नवनीत चौहान, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, गुजरात, प्र. सं. ....
३३. प्रभाकर माचवे का कथा साहित्य, डॉ. कृष्ण शर्मा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्र. सं. २००३
३४. प्रेमचन्द – कथा साहित्य : समीक्षा और मूल्यांकन, डॉ. धर्मध्वज त्रिपाठी, प्रेम प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली, प्र. सं. १९९२
३५. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों मे सामाजिक चेतना, डॉ. अमरसिंह जगराम लोधा, अमर प्रकाशन, अहमदाबाद, प्र. सं. १९८१
३६. प्रेमचन्द के कथा साहित्य में मध्यवर्ग, डॉ. सुरेन्द्रप्रताप सिंह, ललित प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, प्र. सं. १९८५
३७. प्रेमचन्द के उपन्यासों में समकालीनता, रजनीकान्त जैन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. १९८४
३८. प्रेमचन्द : भारतीय साहित्य सन्दर्भ, सं. डॉ. निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. १९८१
३९. प्रसाद के काव्य और नाटक : ऐतिहासिक स्रोत, डॉ. सुरेन्द्रनाथ सिंह, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. १९८६
४०. प्रसाद साहत्य में अतीत चिन्तन : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, डॉ. धर्मपाल कपूर, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. २०००
४१. प्रसाद के नाटक : रचना और प्रक्रिया, डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, साहित्य भवन प्रा. लि., हलाहाबाद, प्र. सं. १९७६

४२. प्रसाद साहित्य का मनोविश्लेषणात्मक अधययन, डॉ. एम. एस. दुधनीकर, अलका प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९८९
४३. फणीश्वरनाथ रेणु : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ. हरिशंकर दुबे, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९२
४४. बीसवीं शती की सामाजिक चेतना, डॉ. सोमनाथ शुक्ल, आशीष प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९८
४५. बीसवीं शताब्दी का हिन्दी रंगमंच, शशिप्रभा अत्रि, चिन्ता प्रकाशन, पिलानी (राजस्थान), प्र. सं. १९८१
४६. भगवती चरण वर्मा का गद्यसाहित्य, डॉ. करुणा उमरे, गरिमा प्रकाशन,कानपुर, प्र. सं. २००२
४७. भगवती चरण वर्मा के उपन्यासों में युगचेतना, डॉ. जवाहरलाल सिंह, कला प्रकाशन, वाराणसी, प्र. सं. २०००
४८. भारतीय संस्कृति का विकास, सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, तृ. सं. १९९४
४९. भीष्म साहनी के साहित्य का अनुशीलन, डॉ. सुरेश बाबर, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९७
५०. मन्नू भण्डारी की कहानियों में आधुनिकता बोध, प्रा. उमा केशवराम, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९७
५१. मूल्य और मूल्य संक्रमण : (डॉ. रामदरश मिश्र के उपन्यासों के सन्दर्भ में), डॉ. विनीता राय, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. १९९९
५२. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और अभिव्यक्ति, डॉ. सी. एल. प्रभात, बम्बई हिन्दी विद्यापीठ, बम्बई, प्र. सं. १९८७
५३. मैथिलीशरण गुप्त का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. आशा गुप्ता, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९७९

५४ मोहन राकेश का साहित्य : पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन की स्थितियाँ, डॉ. श्रीमती सुनीता श्रीमाल, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, नई दिल्ली, प्र. सं. १९९३

५५. मोहन राकेश की कहानियों में आधुनिक बोध, डॉ. सदनकुमार पाल, भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. २०००

५६. मोहन राकेश : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ. घनानन्द एम. शर्मा, शान्ति प्रकाशन, आसन (रोहतक), प्र. सं. १९९०

५७. यशपाल के उपन्यासों में सामयिक चेतना, डॉ. ह. श्री. साने, सरस्वती प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९८८

५८. यशपाल के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना, डॉ. चमनलाल, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्र. सं. १९८६

५९. राष्ट्रीय नवजागरण और प्रसाद के नाटक, डॉ. इन्दुमती सिंह, साहित्य निलय, कानपुर, प्र. सं. २००१

६०. राहुल सांकृत्यायन और प्रगतिशील साहित्य, डॉ. कैलाश देवीसिंह, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. २०००

६१. रंगधर्मी नाटककार शंकरशेष, डॉ. प्रकाश जाधव, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९०

६२. डॉ. रांगेय राघव के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, डॉ. किशोरीलाल, रचना प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. १९९७

६३. लक्ष्मीनारायण लाल और उनके नाटक, डॉ. शकुन्तला यादव, आशुतोष प्रकाशन, लुधियाना, प्र. सं. १९९२

६४. लक्ष्मीनारायण लाल का रंगदर्शन, डॉ. सुभाष भाटिया, शान्ति प्रकाशन, आसन (रोहतक), प्र. सं. १९९०

६५. वर्तमान परिवेश में भक्तिकाव्य की प्रासंगिकता, डॉ. सूर्यकान्ता अजमेरा एवं डॉ. बापूराव देसाई, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. २००२

६६ वर्तमान हिन्दी महिला कथालेखन और दाम्पत्य जीवन, डॉ. साधना अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. १९९५

६७. विष्णुप्रभाकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ. राजलक्ष्मी नायडू, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९१

६८. व्यक्तित्व विघटन के विविध आयाम, डॉ. नीरज जैन, नरेश प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. २००२

६९. शंकरशेष के नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन, डॉ. रमाकान्त दीक्षित, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. २००१

७०. शंकरशेष का नाट्य–संसार, डॉ. नीना शर्मा, दर्पण प्रकाशन, नडियाद (गुजरात), प्र.सं. २००३

७१. डॉ. शंकर शेष का नाटक साहित्य, डॉ. प्रकाश जाधव, साहित्य रत्नालय, कानपुर, प्र. सं. १९८८

७२. शंकरशेष का रचना संसार, डॉ. एस. एन. जाधव, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. २०००

७३. शुक्रनीति में राजतन्त्र, डॉ. रामप्रवेश पाठक, कला प्रकाशन, वाराणसी, प्र. सं. १९९९

७४. समकालीन कविता के बदलते सरोकार, सं. डॉ. रणजीत एवं सुधारणजीत, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९८

७५. समकालीन कविता के सरोकर, डॉ. गुरुचरण सिंह, नवलोक प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. २०००

७६. समकालीन कवि और काव्य, कल्याणचन्द, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९६

७७. समकालीन कहानी के रचनात्मक आशय, यदुनाथ सिंह, ओम प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. १९८७

७८. समकालीन नाट्य–विवेचन, डॉ. माधव सोनटक्के, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९४

७९. समकालीन लम्बी कविता की पहचान, डॉ. युद्धवीर धवन, संजीव प्रकाशन, कुरुक्षेत्र (हरियाणा), प्र. सं. १९८७
८०. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना व्यक्ति और साहित्य, डॉ. कल्पना अग्रवाल, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. २००१
८१. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक, डॉ. शेखर शर्मा, भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. ९९८८
८२. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, सनतकुमार, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, गुजरात, प्र. सं. २००१
८३. समसामयिक हिन्दी नाटकों में खण्डित व्यक्तित्व अंकन, डॉ. टी. आर. पाटील, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. १९९६
८४. समकालीन हिन्दी कविता में आम आदमी, डॉ. मृदुल जोशी, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, प्र. सं. २००१
८५. समकालीन हिन्दी कहानी, डॉ. अमसिंह वधान, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्र. सं. १९८७
८६. समकालीन हिन्दी व्यंग्य : एक परिदृश्य, सं. सुदर्शन मजीठिया, शान्ति प्रकाशन, आसन (रोहतक), प्र. सं. १९८९
८७. समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना और चुनौती, डॉ. बच्चनसिंह, हिन्दी प्रचारक प्रकाशन, वाराणसी, प्र. सं. १९६८
८८. समकालीन हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, प्र. सं. १९९५
८९. साठोत्तर कहानी और परिवर्तित मूल्य, डॉ. श्रीमती प्रेम सिंह, मीनू पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. २००३
९०. साठोत्तरी हिन्दी नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन, राकेश वत्स, हिन्दी बुक सेन्टर, दिल्ली, प्र. सं. १९९५
९१. साठोत्तरी हिन्दी नाटक, सं. डॉ. विजयकान्त धर दुबे, नचिकेता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. १९८३

९२. साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना, डॉ. जयश्री शुक्ला, शान्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. १९९४

९३. साठोत्तर हिन्दी नाटक, डॉ. नीलम राठी, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. २००१

९४. साठोत्तर हिन्दी नाटकों में नारी, डॉ. नागरत्ना एन. राव, न्यू भारतीय बुक कोर्पोरेशन, दिल्ली, प्र. सं. २००१

९५. साठोत्तर हिन्दी काव्य में राजनीतिक चेतना, डॉ. एस. गम्भीर, विद्याविहार, कानपुर, प्र. सं. १९९२

९६. साठोत्तर हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, डॉ. जितेन्द्र 'वत्स', साहित्य रत्नाकर, कानपुर, प्र. सं. १९८९

९७. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में भारतीय युवा का स्वरूप, डॉ. विमला सिंह, कला प्रकाशन, वाराणसी, प्र. सं. १९९८

९८. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास में नारी, डॉ. नीलम मैगजीन गर्ग, सार्थक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. १९९९

९९. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विकास, डॉ. शोभा वैकर, पीयूष प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. २००१

१००. साठोत्तरी हिन्दी कहानियों में पुरुष चरित्र, डॉ. दीपा हावगीराज मैलारे, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. २००१

१०१. सृजन के विविध आयाम, डॉ. राधा गिरधारी, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. २०००

१०२. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य आन्दोलन, डॉ. जयप्रकाश शर्मा, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. २००२

१०३. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी गद्य में व्यंग्य, डॉ. हरिशंकर दुबे, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९७

१०४. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक विचार तत्त्व, डॉ. अवधेश चन्द्र गुप्त, नीरज बुक सेन्टर, दिल्ली, प्र. सं. १९८४

१०५. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी महाकाव्य, डॉ. निजामुद्दीन, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, नई दिल्ली, प्र. सं. १९९२

१०६. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य का मूल्यांकन, डॉ. सुरेश माहेश्वरी, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. १९९४

१०७. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य एवं साहित्यकार, डॉ. नामदेव उतरकर, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. २००२

१०८. हिन्दी उपन्यास साहित्य पर वैचारिक आन्दोलनों का प्रभाव, डॉ. पी. के. पद्मजा, पंकज पब्लिकेशन, उ. प्र., प्र. सं. १९८६

१०९. हिन्दी उपन्यास और नारी समस्याएँ, डॉ. स्वर्णकान्ता तलवार, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. १९९३

११०. हिन्दी कहानी : समाजशास्त्रीय दृष्टि, डॉ. रघुवीर सिन्हा, अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं. १९७७

१११. हिन्दी के रंगमंचीय नाटकों का शिल्प विधान, डॉ. चन्द्रसेन नावाणी, हिन्दी साहित्य परिषद, अहमदाबाद, प्र. सं. २००१

११२. हिन्दी के प्रगतिशील और समकालीन कवि, डॉ. रणजीत, साहित्य रत्नालय, कानपुर, प्र. सं. २००१

११३. हिन्दी खण्डकाव्यों में युगबोध, डॉ. राजबाला भारद्वाज, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. २०००

११४. हिन्दी नाटक : आज–कल, डॉ. जयदेव तनेजा, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. २०००

११५. हिन्दी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख, डॉ. इन्द्रनाथ मदान, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं. १९९३

११६. हिन्दी नाटक में समसामयिक परिवेश, डॉ. विपिन गुप्त, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं. २०००

११७. हिन्दी नाटक, डॉ. बच्चनसिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, प्र. सं. १९९७

❀ *पत्रिकाएँ :*

१. आलोचना, नाटक विशेषांक
२. कल्पना, नवलेखन विशेषांक–२
३. धर्मयुग, १५ से २१ नवम्बर, १९९१
४. नटरंग, अंक २३, जुलाई–दिसम्बर, १९७३
५. योजना, १७ अगस्त, १९६९ तथा १५ अप्रैल, १९८७
६. सारिका, अंक २७९ और ३०१
७. सारिका, १६ जनवरी, १९८२

❀ *कोश :*

१. बृहत् हिन्दी कोश, सं. कालिका प्रसाद, ज्ञान मण्डल लि., वाराणसी, पं.सं. १९८४
२. मानक हिन्दी कोश – खण्ड–५, सं. रामचन्द्र शर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, द्वि. सं. १९९३
३. नालन्दा विशाल शब्द सागर, सं. श्री नवलजी, आदीश बुक डिपो, प्र.सं.१९८२
४. साहित्यिक पारिभाषिक शब्दकोश, सं. प्रो. महेन्द्र चतुर्वेदी एवं प्रो. तारकनाथ बाली
५. भगवद् गोमण्डल : भाग–९, भगवत सिंहजी, प्रवीन प्रकाशन, राजकोट (गुजरात), प्र. सं. १९९५
६. बृहद् गुजराती कोश : खण्ड–२, सं. केशवराम का. शास्त्री, युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड, प्र.सं. १९८१
७. New Webster's Dictionary of the English Language, Delair, The Delair Publishing Co. Inc., 1971
८. Collins English Dictionary, Editor Patrick Hanks William Collins Sons & Co. Ltd., 1979.

❀❀❀